प्रकाशक :
अ० वा० सहस्रबुद्धे,
मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ
वर्धा (बम्बई-राज्य)



पहली बार : ३०००
फरवरी, १९५९
मूल्य : दो रुपया



मुद्रक :
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस,
गायघाट, वाराणसी

दो शब्द

संतों का कथन है कि संस्कारी, भक्तिप्रधान और चारित्र्यशील कुल में ही सज्जनों का जन्म होता है। गीता में भी इसी आशय का वचन है, जिस पर से यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की उन्नति के लिए उसे घर के वातावरण तथा कुटुम्ब के बड़े-बूढ़ों से उत्तम संस्कार मिलने चाहिए। वे मिलते हैं, तभी मनुष्य आगे चलकर यथासमय अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति से उचित बोध ग्रहण करता हुआ अपनी उन्नति साध सकता है। फिर उसके मुख से सबके लिए हितकर और कल्याणमयी वाणी प्रकट होने लगती है। उसके कार्य में सात्त्विकता दिखाई देती है। उसकी संगति से दुःखी, पीड़ित और संतप्त लोग शान्त होते हैं। अज्ञानियों को ज्ञान और धैर्यहीनों को धीरज मिलता है। श्री किशोरलाल भाई के जीवन से संत-वचन की प्रतीति होती है।

संस्कारी तथा चारित्र्यशील कुटुम्ब में उनका जन्म हुआ था। बचपन से ही उन्हें अपने कुटुम्ब से उत्तम संस्कार मिलने लगे थे। जब उत्साह, उमंग और कर्तृत्व प्रकट करने की उनकी उम्र हुई, तब उन्होंने लोक-प्रवाह की भाँति धन कमाकर, सुखमय जीवन बिताने का रास्ता त्यागकर, एक महान् पुरुष का आश्रय लेकर जन-सेवा का मार्ग अपनाया। आगे चलकर उन्हें सेवा से भी पूर्ण संतोष नहीं हुआ और उनके मन में आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन के अन्तिम साध्य की प्राप्ति की आकांक्षा जाग्रत हुई। वह बढ़ते-बढ़ते पराकाष्ठा तक पहुँची और उन्होंने सर्वस्व का त्यागकर एकांतवास कर साधना की। उन्होंने उससे जो जीवन का सार-तत्त्व ढूंढा, उसे अनेक पुस्तकों तथा लेखों के रूप में जनता के सम्मुख रखा।

उत्तम कुल में जन्म लेने मात्र से या बचपन में उत्तम संस्कार मिलने से ही मनुष्य का भावी जीवन उन्नत नहीं हो जाता। मनुष्य को इस पूँजी को

अपने प्रयत्न से अच्छे संस्कारों द्वारा बढ़ाना चाहिए। उसे ज्ञानपूर्वक सत्संग करना चाहिए। उसे केवल सद्ग्रंथों के वाचन में ही संतोष न मानकर उसमें बताये गये सदाचार का आग्रहपूर्वक पालन करना चाहिए। केवल भावनाशील या श्रद्धावान् ही न बनकर अपनी विवेक-दृष्टि को यथासंभव सूक्ष्म और तीक्ष्ण बनाना चाहिए और उससे मानवीय जीवन का रहस्य जानने की योग्यता प्राप्त करनी चाहिए। सत्य परखने और अनेक कष्ट सहन करके भी सत्यज्ञान-प्राप्ति की पात्रता प्राप्त करनी चाहिए। श्री किशोरलाल भाई के जीवन से ये बातें इतनी स्पष्ट हैं कि हमारे हृदय पर दृढ़ता से अंकित हो सकती हैं।

न्याय और सत्य का जिसमें आग्रह होता है, वह शरीर से भले ही दुर्बल हो, व्याधि से पीड़ित होने के कारण भले ही उसे दिन-रात यातनाएँ सहन करनी पड़ती हों, फिर भी ये बातें अन्याय तथा असत्य का प्रतिकार करने में बाधक नहीं होतीं। प्रतिकूल शारीरिक स्थिति, पंगुता या परावलम्बन उसके मन को बदल नहीं सकते। इस बात का अनुभव किशोरलाल भाई की जेल-यात्रा से होता है। वे सत्याग्रह-संग्राम में जेल गये थे। उन्हें युवावस्था में दमे की भयंकर बीमारी हो गयी थी, जो अन्त तक रही। कई बार यह बीमारी रात को इतनी बढ़ जाती थी कि सवेरे तक क्या स्थिति होगी, यह कहा नहीं जा सकता था। दिन को वैसी स्थिति रहे, तो दिन बीत जाने पर रात को क्या होगा, इसका भय बना ही रहता था। ऐसे प्रसंग उनके जीवन में बार-बार आते रहते थे। दुस्सह व्याधि से उन्हें सदा झगड़ना पड़ता था, फिर भी सत्याग्रह-संग्राम से उन्होंने मुँह नहीं मोड़ा, आराम की इच्छा नहीं की। उनके मन की शान्ति सदा अविचलित रहती थी। किशोरलाल भाई का जीवन देखने से यह अनुभव होता है कि देखनेवाले का मन द्रवित हो, ऐसी अनुकंपनीय अवस्था में भी उनका मन ऐसा दृढ़ रहता था कि किसी प्रकार के भी अन्याय या अधर्म के वश नहीं होता था। ऐसा क्वचित् ही दिखाई देता है। ऐसी कठिन व्याधि से ग्रस्त व्यक्ति ने सशक्त विदेशी सत्ता के विरुद्ध सत्याग्रह कर कठोर जेल-यातना सहन की, यह बात आश्चर्यमयी है और उनके लिए आदर निर्माण करनेवाली है।

रोग-मुक्ति के लिए निषिद्ध वस्तु का उपयोग उन्होंने कभी नहीं किया। मद्य-मांसयुक्त औषधि का उपयोग कर रोग या मृत्यु टालने की इच्छा उन्होंने

नहीं रखी। इतना ही नहीं, वे वार-वार आग्रहपूर्वक ऐसा कहते रहते थे कि शुद्धि की स्थिति में भी ऐसी दवाइयों और वस्तुओं का उपयोग कोई न करे। वे मानते थे कि हम जिसे अधर्म मानते हैं, उसका आचरण करने की अपेक्षा वीमारी की यातनाएँ भुगतना या प्रसंग आने पर मृत्यु को अंगीकार करना श्रेयस्कर है। उनकी वैसी श्रद्धा थी। उनकी ऐसी मनःस्थिति से हमें कल्पना हो सकती है कि उनकी धर्मनिष्ठा कितनी जाग्रत और दृढ़ थी तथा उनमें कितना धैर्य तथा सहिष्णुता थी।

सत्य के उपासक को कई वातों का त्याग करना होता है, यह भी हम उनके जीवन से जान सकते हैं। यह तो सवकी मान्यता है कि सत्य के लिए धन, कीर्ति, प्रियजन, सांसारिक सुख-सुविधाओं का त्याग करना पड़ता है। कुछ इने-गिने लोग वैसा त्याग यदा-कदा करते भी हैं। लेकिन ऐसे साधक क्वचित् ही पाये जाते हैं, जो सत्य के लिए परम्पराप्राप्त साम्प्रदायिक या पंथविशिष्ट और श्रद्धापूर्ण मान्यताओं और क्रियाकाण्डों को त्यागें। किशोरलाल भाई परम्परागत और श्रद्धापूर्ण संस्कारों में पले-पनपे थे, लेकिन सत्य के लिए उन्होंने विवेक-दृष्टि से संस्कारों का निरीक्षण, परीक्षण और संशोधन किया। उस समय उनकी श्रद्धा और विवेक का संघर्ष कितना असह्य वन गया था, उस समय उन्होंने किस निष्ठा के आधार पर मनोमंथन सहन किया आदि सभी वातें जीवन-चरित्र में आ नहीं पायीं। उनका स्वभाव मूल में भावनाप्रधान था, इसलिए मन की अनेक वृत्तियों का संघर्ष वर्दाश्त करने में उन्हें अत्यन्त कठिनाई हुई। फिर भी उन्होंने अपनी सत्यनिष्ठा की सामर्थ्य से यह सव कुछ सहन किया। मनुष्य सत्यनिष्ठा की शक्ति द्वारा अपना शुद्ध संकल्प पूर्ण कर सकता है, यह किशोरलाल भाई के जीवन से सिद्ध होता है। चित्त की शुद्धि और सद्गुणों का उत्कर्ष साधते-साधते उन्होंने अपनी जीवन-यात्रा सफलतापूर्वक पूर्ण की। जो लोग उनके संपर्क में आये, उन सवको उनके माधुर्य, विनम्रता, ज्ञान, प्रेमभाव, निरहंकारिता, किसी भी विपय के निर्णय की स्पप्टता, शुद्धता, कृतज्ञता, उदात्तता आदि सद्गुणों का परिचय आता ही था। उनके जीवन से हम वहुत कुछ सीख सकते हैं। जव उनके जीवन के विपय में विचार करते हैं, तो तुकाराम महाराज के इस अभंग का सहज में स्मरण हो आता है :

"शुद्ध बीजा पोटीं । फळे रसाळ गोमटी ॥ १ ॥
मुखीं अमृताची वाणी । देह देवाचे कारणीं ॥ २ ॥
सर्वांग निर्मल चित्त जैसें गंगाजल ॥ ३ ॥
तुका म्हणे जाती । ताप दर्शनें विश्रांति" ॥ ४ ॥

शुद्ध बीज से रसयुक्त उत्तम फल उत्पन्न होते हैं। उनके मुख से अमृत की भाँति वाणी प्रकट होती है। उनका शरीर भगवान् के लिए ही होता है। उनके सभी अंग निर्मल और शुद्ध होते हैं और चित्त गंगाजल की तरह विशुद्ध। ऐसे सज्जनों के दर्शन से तापत्रय दूर होकर शान्ति मिलती है।

किशोरलाल भाई का जीवन ऐसा ही था। वे जन्म पाकर धन्य और कृतार्थ बने।

'अभय', किंग्ज सर्कल,
माटुङ्गा, बम्बई १९ —केदारनाथ
१८-३-'५९

निवेदन

हमारे अनुरोध पर पू० नाथजी ने अत्यंत कृपापूर्वक 'दो शब्द' लिख भेजे हैं। किशोरलाल भाई आपको अपना गुरु मानते थे और उनके जीवन पर आपका अत्यधिक प्रभाव पड़ा था, आपने उनके जीवन और साधना के संबंध में जो विचार व्यक्त किये हैं, उनसे सभी पाठकों को प्रेरणा मिलेगी, ऐसी आशा है। विलंब से आने के कारण हम पू० नाथजी के इन शब्दों को उपयुक्त स्थान पर नहीं दे सके, इसके लिए क्षमाप्रार्थी हैं।

—प्रकाशक

प्रकाशकीय

स्व० किशोरलाल भाई मशरूवाला सुप्रसिद्ध तत्त्वचिंतक, गांधीवादी व्याख्याकार और श्रेय-साधक थे। स्व० नरहरि भाई परीख ने किशोरलाल भाई के देहांत के पश्चात् उनका जीवन-चरित्र गुजराती में लिखा और वह नवजीवन ट्रस्ट से प्रकाशित हुआ था। उसका हिन्दी अनुवाद अब प्रकाशित हो रहा है। हिन्दी-भाषी जनता को किशोरलाल भाई के जीवन और साधनामय अनुभूतियों तथा चिन्तनप्रधान व्यक्तित्व के दर्शन से इतने समय तक वंचित रहना पड़ा, यह एक मजबूरी ही कही जायगी।

उनके सम्बन्ध में अनेक लोगों के अनेक प्रकार के संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ भी हैं। हम चाहते थे कि वे सब भी इसी पुस्तक में जोड़ दिये जायें, लेकिन कलेवर बहुत बढ़ जाने की संभावना देखकर यह विचार स्थगित करना पड़ा। संस्मरण और श्रद्धांजलियों का संकलन अलग से यथासमय प्रकाशित किया जायगा।

इस ग्रंथ में किशोरलाल भाई के पारिवारिक जीवन के साथ-साथ उनकी विचारधारा और तदनुरूप साधना का परिचय विशेष रूप से व्यक्त हुआ है। हिन्दी पाठक इस ग्रंथ से जीवन सम्बन्धी नयी और मौलिक दृष्टि प्राप्त करेंगे।

—प्रकाशक

सन्तों के अनुज

स्वर्गीय किशोरलाल भाई मृत्यु के उपरान्त लोगों के स्मारक खड़े करने या उनके जीवन-चरित्र आदि लिखने के विरुद्ध थे। मृत्यु से कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने 'मरण-विधि' नामक एक लेख लिखा था। उसे बड़ी प्रसिद्धि मिली थी। परन्तु उनकी मृत्यु के बाद यह जीवन-चरित्र लिखने के विषय में जब चर्चा चलने लगी, तो एक श्रद्धेय बुजुर्ग ने इस तरह के कट्टर विचारवाले मित्रों को यह कहकर निरुत्तर कर दिया कि "जिन्होंने अपनी प्रखर विचार-शक्ति, अविरत कर्मयोग और निर्मल चारित्रिक गुणों से अपने देश, काल और समाज को प्रभावित किया, उन विभूतियों के जीवन-चरित्र लिखना यदि अनुचित है, तो क्या व्यसनी, दुराचारी, सटोरिये, काला-बाजार करनेवाले अथवा सिनेमा के सितारों के चरित्र लिखकर या लिखवाकर आप समाज को ऊपर उठाने की आशा कर सकते हैं?"

तब स्वर्गीय श्री किशोरलाल भाई के निकटतम मित्र और आजीवन साथी श्री नरहरि भाई ने यह चरित्र लिखने का काम अपने जिम्मे लिया और श्री नाथजी ने इस योजना को अपना आशीर्वाद देकर इसका अभिनन्दन किया। चरित्र-लेखन जब लगभग पूरा होने को आया, तब नाथजी ने मुझे लिखा—"यह कल्पना ही मुझे अटपटी मालूम हो रही है कि इस जीवन-चरित्र में आपके उद्गार न हों। जो सन्मित्र हमारी आँखों से ओझल हो गये हैं, उनके प्रति सद्भाव प्रकट करनेवाले दो शब्द हम लिख दें, इससे अधिक हमारे हाथों में और है ही क्या?"

× × × ×

किशोरलाल भाई को सबसे पहले मैंने सन् १९१८ के आसपास साबरमती-आश्रम में देखा था। तभी उनका शरीर दमियल और रोगी था। जीवन के अंत तक वह ऐसा ही रहा। प्रारम्भ में उन्हें और उनकी सांप्रदायिक रहन-

सहन को देखकर मुझे वहुत वुरा लगा। धर्म, अध्यात्म अथवा शास्त्रों की चर्चा में उनकी पृथक्करण की शैली और पुरानी परिभाषा को देखकर मैं परेशान हो जाता। नवीन जीवन-दृष्टि मिलने के वाद 'जीवन-शोधन' तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में उन्होंने अपने प्रखर विचार जनता के समक्ष प्रस्तुत किये हैं। इनमें से कितने ही विचार तो मुझे अथवा मेरे जैसे अनेक लोगों को अस्वीकार्य लगते। परन्तु इनके मूल में जो निःस्पृहता, सत्यनिष्ठा और सामुदायिक श्रेय की चिन्ता थी, वह हर आदमी के हृदय को स्पर्श किये विना नहीं रहती; फिर वह श्रद्धालु हो या अश्रद्धालु।

किशोरलाल भाई ने नाथजी को प्रकट रूप से अपना गुरु वताया है। परन्तु यह गुरु-शिष्य-सम्वन्ध हमारे देश की परम्परा की छापवाला नहीं था। किशोरलाल भाई जव सत्य की अपनी खोज में अत्यन्त व्याकुल अवस्था में थे, तव नाथजी ने उनका साथ देकर उन्हें एक निश्चित जीवन-दृष्टि प्रदान की थी। किशोरलाल भाई ने इस ऋण को सार्वजनिक रूप में स्वीकार किया है। कृतज्ञता का यह भाव उनके हृदय में जीवनभर वना रहा, इतना ही इसका अर्थ समझना चाहिए।

नाथजी ने किशोरलाल भाई का अथवा अन्य किसीका भी गुरुपद कभी ग्रहण नहीं किया। वल्कि अधिकांश आधुनिक पुरुषों की भाँति गुरु-संस्था की वुराइयों का तीव्र भान उनमें भी है। उनसे परिचित सव लोग इस वात को जानते हैं। किशोरलाल भाई की श्रद्धा-उपासना पुराने ढंग की थी। जान में अथवा अनजान में नाथजी ने इसकी जड़ें पूरी तरह हिला दीं। इसके वाद जव तक उनकी व्याकुलता का शमन नहीं हो गया, तव तक उनका साथ देकर उनका मार्गदर्शन करना नाथजी के लिए अनिवार्य हो गया। और सच पूछिये तो जव किशोरलाल भाई को शान्ति मिली, तव उन्हें ऐसा लगा मानो अपने सिर पर का एक वहुत वड़ा वोझ हट गया और छुट्टी मिली। ऐसा नाथजी ने अनेक वार अपने मित्रों के सामने कहा है।

मैं तो समझता हूँ कि गुरु-शिष्य का नाता सवसे अच्छे अर्थ में एक सखा-सन्मित्र का नाता है। इस चरित्र-ग्रन्थ में नाथजी ने 'साधना' शीर्षक अध्याय लिखा है। उसमें स्पष्ट रूप से उन्होंने यह वता दिया है। यही नहीं, वल्कि उन्होंने किशोरलाल भाई के समान ही कृतज्ञभाव से यह स्वीकार किया है कि

एक सन्मित्र के रूप में वे स्वयं भी किशोरलाल भाई के ऋणी हैं। गुरु-संस्था के इतिहास में यह वस्तु जितनी अनुपम है, उतनी ही नवीन भी है।

विवेकानन्द ने रामकृष्ण परमहंस के निर्वाण के वाद उन्हें प्रसिद्धि प्रदान की। परन्तु किशोरलाल भाई ने उन्हें जीवितावस्था में ही प्रसिद्ध कर दिया। दूसरे के नाम से पहचाने जाने में एक पुरुषार्थी व्यक्ति हमेशा संकोच और असुविधा का अनुभव करता है। नाथजी का परिचय प्रायः किशोरलाल भाई के गुरु के रूप में दिया जाता है। अतः नाथजी वर्षों से यह संकोच और संकट उठाते आये हैं। इस संकोच और संकट से ऐसे सत्पुरुषों को बचाकर उन्हें उनके अपने व्यक्तितत्व के मूल्य पर हम पहचानना सीखें, यह व्यक्ति और समाज दोनों के लिए इष्ट है।

× × × ×

जीवन-दर्शन, तत्त्वज्ञान, शिक्षण, सामाजिक तथा राजनैतिक उत्थान, रचनात्मक कार्य, आर्थिक नियोजन, राजकीय सिद्धान्तवाद और देश की अन्य समस्याओं पर किशोरलाल भाई ने अपने प्रगल्भ विचार लगभग दो दर्जन ग्रन्थों और 'नवजीवन', 'यंग इण्डिया', 'हरिजन' पत्रों और पिछले वर्षों में समस्त देश के अनेक सामयिक पत्रों में छपे अपने असंख्य लेखों में प्रस्तुत किये हैं। इन सबमें उन्होंने गांधीजी की अनेक विचार-धाराओं और सिद्धान्तों को विशद किया है। गांधीजी द्वारा प्रचारित आदर्श और कार्यक्रम जनता को विशद रूप से समझाने और उसके चित्त पर अच्छी तरह अंकित कर देनेवाले प्रामाणिक भाष्यकार और स्मृतिकार के रूप में वे प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं। स्वयं गांधीजी ने एक से अधिक बार उनके इस अधिकार पर अपनी मुहर लगा दी है।

व्यापक और गहन चिन्तन उनकी अपनी कमाई थी। स्वामी सहजानन्द, गांधीजी, नाथजी अथवा अन्य किसी गुरुजन से प्राप्त पूंजी पर उन्होंने व्यापार नहीं फैलाया है। जो पाया, उसे पचाया और फिर गुरुजनों के ऋण को पूरी तरह स्वीकार करके उसे अपनी वस्तु के रूप में, परन्तु भलाई-बुराई की जिम्मेवारी खुद उठाकर उसे समाज के सामने पेश किया। यह सब उन्होंने जितने निरभिमान के साथ किया है, उतनी ही उसके भीतर यह भावना भी रही है कि जान में या अनजान में किसीके साथ अन्याय न हो जाय।

उनका समस्त चिन्तन और लेखन लोक-जीवन की शुद्धि, वृद्धि, संस्कार और नवरचना के लिए होता था और इसमें समस्त संसार के लिए प्रेरणा और सन्देश होता था। फुरसतमन्द बुद्धिमानों के 'काव्य-शास्त्र-विनोद' के लिए उन्होंने कभी नहीं लिखा। सुशिक्षित और जन-साधारण की संस्कारिता के भेद को उन्होंने 'भद्र संस्कृति' और 'संत संस्कृति' जैसे सुन्दर नाम देकर प्रकट किया है। ये नाम हमारे साहित्य में अमर हो जायेंगे।

एक प्रखर शिक्षाशास्त्री और चतुर सलाहकार के रूप में गांधीजी की विविध संस्थाओं के साथ उनका आजीवन सम्बन्ध रहा है। किसी एकाध संस्था से केवल अपने निर्वाहभर के लिए वे छोटी-सी रकम लेते थे। ग्रन्थों अथवा लेखों आदि का कोई पुरस्कार नहीं लेते थे। फिर भी यदि कोई भेज ही देता तो वे दूसरे किसीको दे देते।

नैतिक गुण और संयमी जीवन-व्यवहार द्वारा जनता के चरित्र-गठन का उन्हें बड़ा आग्रह था। इस कारण बहुत से आधुनिक लोग उन्हें अव्यावहारिक 'सन्तों' में शुमार करते। साहित्य, संगीत और कला के नाम पर विलासी वृत्तियों का अनुशीलन उन्हें अच्छा नहीं लगता था। स्त्री-पुरुषों के बीच की स्वाभाविक मर्यादा को वे कुदरती कानून मानते थे। वे मानते थे कि सुहावने और आकर्षक 'लेबलों' के नाम पर इस मर्यादा को तोड़ने का यत्न यदि किया जायगा, तो समाज के शरीर और मन के आरोग्य को हानि पहुँचे बिना नहीं रहेगी। स्त्री-जाति के प्रति उनके मन में बहुत आदर था और वह सारा गोमतीबहन में प्रकट होता था।

मध्ययुग के ईसाई साधु थॉमस कॅम्पिस का एक ग्रन्थ है—'Imitation of Christ' ('ईसा का अनुकरण')। आज चार-पाँच शताब्दियों से ईसाई जगत् में उसका लगभग बाइबल के समान ही आदर है। मेरा खयाल है कि किशोरलाल भाई के विचार और चिंतन कुछ ऐसा ही स्थान प्राप्त करेंगे। उनका जीवन-दर्शन विवेक-प्रधान था। मैं इसे अक्सर 'कोल्ड रैशनलिज्म' (वेदाभ्यास-जड़ज्ञान) कहता। परन्तु उनका व्यवहार अमृत के समान मधुर था। काया एकदम जर्जर थी, फिर भी अतिथि-आगन्तुक का सत्कार उठकर और सामने जाकर करते। बड़े-बड़े नेताओं से लेकर अदने कार्यकर्ता

और निकम्मे आलोचकों तक की वात समान सौजन्य के साथ सुनते और उतने ही धीरज और समता के साथ उनके जवाव भी देते। इन्हीं सव सद्‌गुणों के कारण वे सवकी श्रद्धा और आदर के पात्र वन गये थे।

पैगम्वर साहव के सौजन्य के विषय में कहा जाता है कि उनके समस्त जीवन में किसीको ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं, जव रास्ते में उन्हें कोई मिला हो और उसका स्वागत करने के लिए उनका हाथ पहले नहीं उठा हो। यह सौजन्य किशोरलाल भाई में शत-प्रतिशत था। असंख्य लोग इसके साक्षी हैं।

इन्हीं सव गुणों के कारण गांधी-सेवासंघ जैसी देशव्यापी और सर्वोपरि संस्था के अध्यक्ष के रूप में सवने उन्हींको पसन्द किया और सरदार, राजेन्द्र वावू, राजाजी जैसे राष्ट्रमान्य नेताओं ने इनके नीचे संघ के सदस्य वनने में गौरव माना। इन्हीं गुणों के कारण देशभर में असंख्य छोटे कार्यकर्ताओं के परिवारों में उन्होंने पूज्य वुजुर्ग का स्थान पाया। प्रान्तीय भाव जैसी चीज तो कभी उनके अन्दर थी ही नहीं। उनका सर्वधर्म-समभाव भी ऐसा ही अनुपम था। देशवासियों के तथा विदेशियों के और इस देश में वसनेवाले कितने ही छोटे-वड़े मुसलमानों, विदेशी पादरियों और समाज-सेवकों के वे मित्र थे।

और वे केवल विचार-धन के ही व्यापारी नहीं थे। अत्यंत गिरा हुआ स्वास्थ्य होने पर भी उन्होंने गांधीजी द्वारा छेड़ी गयी सत्याग्रह की प्रत्येक लड़ाई में भाग लिया और वार-वार लम्वी सजाएँ जेलों में काटीं। सन् १९४२ की लड़ाई में भी आदत के अनुसार पुलिस उन्हें पकड़ने के लिए आधी रात में सेवाग्राम-आश्रम पहुँची, तो आप चरखा-पूनी लेकर केवल एक कुर्ता पहने पुलिस के साथ हो लिये। नागपुर, जवलपुर कहाँ ले जायेंगे, कोई नहीं जानता था। गोमतीवहन ने सोचा कि पिछली रात में कहीं दमे का दौरा आया, तो उन्हें परेशान कर देगा, इसलिए उन्होंने चाहा कि पांच लौंग उनके कुर्ते की जेव में रख दें। कहने लगे—"नहीं, ये नहीं लूंगा। अव मेरे शरीर की चिन्ता करने की जिम्मेवारी सरकार के मत्थे है।" जेल में भी दूसरों को न्याय दिलाने के लिए आमरण उपवास करने के लिए तैयार रहते। जेल में भी हर वार असंख्य राजनैतिक कार्यकर्ताओं के प्रीतिपात्र वन गये और उनके साथ आजीवन

मैत्री-सम्बन्ध कायम कर लिया। विदेशी भाषा के साहित्यरत्नों का अनुवाद करने में उन्होंने कभी छोटापन नहीं महसूस किया।

गांधीजी की हत्या के बाद 'हरिजन' पत्र बन्द हो गये, तब उन्होंने उनके सम्पादन का भार 'राम भरोसे' उठा लिया। उस समय बहुत से लोगों को शंका थी कि अपने कमजोर स्वास्थ्य के कारण इस भार को वे वहन कर सकेंगे या नहीं। परन्तु छह महीने परिश्रम करके उन्होंने अच्छे-अच्छों को चकित कर दिया। K.G.M. ये आद्याक्षर M.K.G. के पर्याय बन गये। समस्त देश के कांग्रेसजन, रचनात्मक कार्यकर्ता, मुखिया, मिनिस्टर, संस्थाओं के संचालक, विरोधी लोग, पेट के कारण और आदत से लाचार आलोचक—सबके सब उनके सामने जी खोलकर बात कर सकते थे। सबके लिए वे आश्रय-स्थल बन गये थे।

लगातार साढ़े चार वर्ष तक एक-सा संपादन-कार्य किया। कांग्रेसी सरकारें, सरदार, जवाहरलालजी किसीकी मुरव्वत नहीं की और न किसीसे वे दबे ही। कटु सत्य कह करके अच्छे-अच्छों के दिमाग ठिकाने ला दिये। परन्तु विनय कभी नहीं छोड़ी, साथ ही सत्य के समान ही निष्ठुर बने रहे। न तो कभी तिलभर बात बढ़ाकर कही और न घटाकर। रोम्याँ रोलाँ ने सत्य को प्याज की उपमा देते हुए कहा है कि इसे खाते समय नाक कनकनाने लगती है और आँखों में आँसू आ जाते हैं।

अपने जीवन का अंतिम वर्ष उन्होंने विनोबा के भूदान-यज्ञ का अति उत्कट समर्थन करने में व्यतीत किया। विनोबा को छोड़कर इनके समान लगातार और पूरी हार्दिकता के साथ शायद ही किसी दूसरे नेता ने इसका समर्थन किया हो। गांधीजी के तप और पुण्य के फलस्वरूप यह देश आजाद हुआ। उसके बाद आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में देशव्यापी शुद्ध अहिंसात्मक क्रान्ति सफल करने का एकमात्र यही मार्ग है। यह बात हमारे देश की संत-संस्कृति और जनसाधारण के अनन्य उपासक केवल विनोबा को ही सूझी है। इस प्रवृत्ति के अन्दर देश की तमाम समस्याओं का अहिंसक हल और देश की तमाम धर्म्य आकांक्षाओं की सिद्धि निहित है, ऐसा वे मानते थे। इस बात पर दृढ़ रहकर भूदान-यज्ञ का समर्थन उन्होंने अपने जीवन के अंतिम क्षण तक किया।

× × × ×

रोगों और व्याधियों ने आजीवन उनका पीछा नहीं छोड़ा। प्रतिदिन देह-कष्ट इतना रहता कि देखनेवाले घवड़ा जाते। साँस लेने के लिए हर घड़ी फ़ेफड़ों के साथ संग्राम करना पड़ता और उनके साथ जूझते-जूझते शरीर उकड़ूँ हो जाता। मिनटों तक उन्हें इस तरह सिमटकर वैठे रहना पड़ता। आक्रमण हलका होते ही वे फिर उठ वैठते और हाथ में लेखनी थाम लेते या कातने लग जाते। अंत तक यही दशा रही। रोगों और उपचारों को सहते-सहते उनके विषय में इतना ज्ञान हो गया कि अच्छे-अच्छे डॉक्टरों को चक्कर में डाल देते।

इन अपार देह-कष्टों के परिहाररूप में या और किसी हेतु से भगवान ने उनके अन्दर अपरंपार विनोद भर दिया था। वे अपने को ही हँसी का लक्ष्य वनाकर दूसरों को खूव हँसाते। प्राणहारक वेदनाओं के वीच भी जो कोई सामने हो, उसके साथ अथवा गोमती वहन के साथ इनका मुक्त, निर्दंश विनोद चलता ही रहता। मित्रों के सायवाले पत्र-व्यवहार में भी वह टपकता। उसे लिखने वैठें, तो पन्ने के पन्ने भर जायँ।

मृत्यु के कुछ ही दिन पहले की वात है। वारडोली में नरहरि भाई वीमार हो गये और अपेण्डिसाइटिस का ऑपरेशन अनिवार्य हो गया। उस समय किशोरलाल भाई का शरीर अत्यंत क्षीण हो गया था। फिर भी खास तौर पर वे वम्वई आ करके रहे। समाचार लेने के लिए रोज अस्पताल जाते। अ.परेशन के दिन जव तक ऑपरेशन पूरा हुआ और नरहरि भाई वापस होश में आये, तव तक वे वहीं अस्पताल में वैठे रहे।

हर प्रान्त के छोटे-वड़े असंख्य कार्यकर्ताओं, संपादकों, संस्थावालों, विदेशियों, विश्वशान्ति-परिषद्‌वालों, गांधीजी द्वारा स्थापित विविध संघों, स्त्रियों की संस्थाओं, गोसेवा, महारोगियों (कुष्ठपीड़ितों) की सेवा, हरिजन-सेवा के कार्यकर्ताओं, वनस्पति-विरोधियों आदि सवके साथ उनकी समान आत्मीयता थी। गांधीजी के वाद इनके प्रति सवका समान आदर था। जिस दिन मृत्यु के समाचार मिले, अन्त-अन्त तक कांग्रेस को गालियाँ देनेवाले भी इस तरह दहाड़ मार-मारकर रोने लगे, जैसे प्रत्यक्ष उनका पिता मर गया हो। देश के कोने-कोने से तथा विदेशों से भी तारों और पत्रों का जो प्रवाह उमड़ा, उन सवमें इतना दुःख प्रकट हो रहा था, मानो उनका कोई निकटतम स्वजन चला गया हो।

अपने अंतेवासियों के सामने गांधीजी कई बार कहते कि मेरे सामने भले ही तुम्हारा तेज कोई न देख पाये, परन्तु मेरी मृत्यु के उपरान्त संसार तुम्हारा मूल्य समझने लगेगा। गांधीजी की इस भविष्यवाणी को किशोरलाल भाई और विनोबा ने सत्रह आने सही करके दिखा दिया।

× × × ×

इस ग्रन्थ के रूप में श्री नरहरि भाई ने जो चरित्र-निरूपण किया है, उसके विषय में कुछ भी लिखने की धृष्टता मैं नहीं करूँगा। स्वयं अपंग होते हुए भी उनके जैसे समत्वशील और निकटतम साथी ने अत्यंत प्रेमभाव से इतना परिश्रम उठाकर यह चरित्र लिखने का काम हाथ में लिया और शुष्क दीखनेवाले विषयों को पेश करने में भी जिन रचनाओं ने 'क्लासिक' का दरजा प्राप्त कर लिया है, उनमें यह एक और निर्मल और शांत क्लासिक शामिल कर दिया। इससे अधिक अनुरूप और सुहावना और क्या हो सकता है? किशोरलाल भाई ने गांधीजी के बाद जिस योग्यता के साथ 'हरिजन'-पत्रों का संपादन किया, उसी योग्यता के साथ नरहरि भाई ने इस चरित्र-ग्रन्थ का निर्माण किया है।

यह प्रस्तावना पूरी करने से पहले किशोरलाल भाई के गुरुबन्धु श्री रमणीक-लाल मोदी का उल्लेख किये बगैर मैं नहीं रह सकता, जिन्होंने किशोरलाल भाई के चिन्तन और लेखन के स्रोत और प्रेरणारूप नाथजी के विचार-साहित्य का वर्षों तक संग्रह, संपादन और अनुवाद अनन्य निष्ठा के साथ किया है। किसी भी प्रकार के बदले की अपेक्षा न करते हुए, शुद्ध भक्तिभाव से लगातार एक-से परिश्रम के साथ उन्होंने यह काम बरसों किया है। नाथजी के तथा किशोरलाल भाई के असंख्य लेख, प्रवचन, पत्र-व्यवहारों के पीछे इनका अविश्रान्त उद्योग छिपा हुआ है। इनके निरभिमान ने इन्हें कभी प्रकाश में नहीं आने दिया। परन्तु इनके भक्तिमय परिश्रम ने गुजराती भाषा के चिन्तन-साहित्य में जो अभिवृद्धि की है, उसके लिए गुजरात की जनता इनकी सदा कृतज्ञ रहेगी।

बम्बई,
९ अगस्त, १९५३

—स्वामी आनंद

अनुक्रम



स्वर्गीय श्री किशोरलाल शर्मा

सत्य-शोधन की विरासत : १ :

किशोरलाल भाई के प्रपितामह लक्ष्मीचंद सूरत में रहते थे। वे मशरू (रेशमी और सूती मिला कपड़ा) बुनवाने और बेचने का व्यवसाय करते थे। उनसे पहले के पूर्वजों की कोई जानकारी नहीं मिल सकी। संभव है कि यह मशरू का धंधा उनके वंश में कई पुश्तों से चला आ रहा हो। इसी पर से इनकी अल्ल 'मशरूवाला' पड़ गयी। उनके कितने ही भाईबन्ध अपनी अल्ल मरचण्ट भी लिखते हैं। परन्तु यह अल्ल एकदम नयी लगती है।

लक्ष्मीचन्द दादा परम्परा से तो वल्लभ-संप्रदाय के वैष्णव थे। परन्तु उन दिनों वल्लभ-संप्रदाय में बहुत गन्दगी फैली हुई थी। इसलिए उस पर इन्हें श्रद्धा नहीं रही। किन्तु इससे धर्ममात्र पर से उनकी श्रद्धा नहीं हटी। इसके विपरीत धार्मिक जीवन में निश्चित श्रद्धा होने के कारण वे ऐसे किसी धर्म-मार्ग की खोज में थे, जो चित्त को शान्ति प्रदान कर सके। इसलिए वे जुदा-जुदा पंथों के साधु-सन्तों और वैरागियों से मिलते रहते और अपनी खोज तथा उपासना जारी रखते। सत्य की खोज और उपासना की विरासत 'मशरूवाला' वंश में पाँच पुश्तों से चली आ रही है।

इस संत-समागम के सिलसिले में लक्ष्मीचन्द दादा स्वामी नारायण-संप्रदाय के साधुओं के संपर्क में भी आये। उनकी बातें सुनकर श्री सहजानन्द स्वामी पर उनकी श्रद्धा हो गयी।

सहजानन्द स्वामी (ई० स० १७८१ से ई० स० १८३०) महातपस्वी और वीतराग पुरुष थे। अयोध्या के पास एक गाँव में एक साधुचरित ब्राह्मण दम्पति के यहाँ उनका जन्म हुआ था। इस समय यह गाँव छपैया-स्वामी-नारायण के नाम से परिचित है। संप्रदाय के अनुयायी इसे बहुत बड़ा तीर्थ मानते हैं। ठेठ बचपन से वे वैराग्यशील थे। उन्नीस वर्ष की आयु तक उन्होंने केवल तपोमय जीवन बिताया, और देश के अनेक तीर्थों में घूमे। इसके बाद जनता के हित के लिए बाह्य दृष्टि से त्याग के पक्ष को सौम्य करके भक्ति और

२।।।

उपासना की पुष्टि तथा बहुत से लोगों के समास (लोकसंग्रह) के विचार से प्रवृत्ति शुरू कर दी। संवत् १८५६ का श्रावण वदी ६ का दिन स्वामी नारायण-संप्रदाय के सत्संगियों में बड़ा मंगल दिवस माना जाता है, क्योंकि इसके बाद के तीस वर्ष सहजानंद स्वामी ने गुजरात-काठियावाड़ में ही बिताये और उद्धव-संप्रदाय (स्वामी नारायण-संप्रदाय का पारिभाषिक नाम) का धर्मधुरा वहन किया। स्वामी नारायण एकेश्वर की भक्ति का उपदेश करते और मंत्र, जंत्र तथा मलिन देव-देवियों से न डरने की बात समझाते। उनके ये शब्द सीधे हृदय में उतर जाने लायक हैं:

"....जीव के प्रारब्ध कर्म का उल्लंघन करके तो रुद्र, भैरव, भवानी आदि देवी-देवता जीव को सुख-दुख देने अथवा मारने-जिलाने के लिए समर्थ नहीं हैं। हाँ, परमेश्वर अवश्य प्रारब्ध, कर्म और मृत्यु को अन्यथा कर सकता है, और मृतकों को जिला सकता है अथवा जीवितों को मार सकता है। दूसरे कोई देवी-देवता ऐसा नहीं कर सकते। इसलिए केवल एक परमेश्वर का आश्रय लेकर भजन-स्मरण करते रहना चाहिए और अन्य किसी देवी-देवता का भय नहीं रखना चाहिए। हम सब तो भगवान के भक्त और शूरवीर हैं। इसलिए हरिभक्त के मन में तो किसी प्रकार का भय हो ही नहीं सकता। अगर मंत्र-जंत्र से तथा औषधियों से कोई मनुष्य जीवित रह सकता तो पृथ्वी पर ऐसा कोई तो होता। परन्तु ऐसा कोई दीखता नहीं।"

इसके अलावा उस समय धर्म के नाम पर अनेक अंध-विश्वास तथा सती और बालहत्या जैसी कुप्रथाएँ प्रचलित थीं। शादियों के समय तथा होली के दिनों में गन्दे गीत तथा मर्यादाहीन खेल-तमाशे आदि भी प्रचलित थे। इन सब का स्वामीजी ने सफलतापूर्वक विरोध किया। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि पारसी, मुसलमान आदि अहिन्दू जातियों को भी उन्होंने अपने संप्रदाय में शामिल कर लिया। इसी प्रकार शूद्र गिनी जानेवाली कौमों को भी संप्रदाय में लेकर उनकी धार्मिक उन्नति की। स्वामी नारायण के शिष्यों में कडिया (राज), दरजी, बढ़ई, खाखा (मछुआ), मोची, ढेड़ (महार) वगैरह कारीगर लोग बहुत बड़ी संख्या में थे। उनका सुधार वे करते। नीच गिनी जानेवाली जातियों को ऊपर उठाकर उनके अंदर ऊँचे संस्कार डालते। उन्होंने ढेड़, मोची,

बढ़ई, दरजी, कुर्मी और मुसलमानों तक को शुद्ध ब्राह्मणों जैसा रहना सिखा दिया। मद्य, मांस और मादक वस्तुओं का त्याग करना, रोज नहाना, पूजा किये बिना कुछ नहीं खाना और दूध अथवा जल बगैर छाने नहीं पीना—ये स्वामी नारायणीय संस्कार थे। सत्संगी लोग तो उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम ही मानते हैं। परन्तु दूसरे लोग भी उन्हें एक महान् सुधारक और विशेषतः पिछड़ी हुई तथा नीची कौमों के उद्धारक के रूप में मानते हैं। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि अपने जीवनकाल में उन्होंने गुजरात और काठियावाड़ में सुधार और शुद्धि की एक बहुत बड़ी लहर फैला दी।

दादा जैसे सत्य-शोधक, सदाचार और शुद्धि का इतना जबरदस्त आग्रह रखनेवाले, ऐसे सद्गुरु द्वारा आकर्षित हों, यह स्वाभाविक ही था। फलतः वे सकुटुम्ब सहजानंद स्वामी के अनुयायी बन गये। वल्लभकुल के आचार्य यह सहन नहीं कर सके कि उनके संप्रदाय को छोड़कर इस तरह कोई बाहर चला जाय। इसलिए उन्होंने लक्ष्मीचन्द को अनेक प्रकार से परेशान करना-कराना शुरू किया। इस कारण उन्हें अनेक संकट सहने पड़े और खतरों का सामना करना पड़ा। परन्तु स्वामी नारायण-संप्रदाय के अपने आग्रह को उन्होंने नहीं छोड़ा। इसलिए संप्रदाय में इस कुटुम्ब को 'सिंहकुटुम्ब' कहा जाता है। स्वामी निष्कुलानंद ने लक्ष्मीचंद और उनके बड़े लड़के लल्लूभाई का उल्लेख अपनी 'भक्त-चिंतामणि' में किया है।

लक्ष्मीचंद दादा सूरत में सैयदपुरा में रहते थे। उनके मकान में सहजानंद स्वामी का आगमन हुआ था। इस कारण इस मकान के साथ मशरूवाला कुटुम्ब का बड़ा ममत्व रहा है। आर्थिक कठिनाई के कारण जब इस मकान को बेचने का प्रसंग आया, तब चन्दूलाल दुल्लभदास नाम के एक सत्संगी कुटुम्ब ने इसे खरीद लिया। अपने बड़े भाई बालूभाई के साथ किशोरलाल भाई इस मकान पर एक बार गये थे। परन्तु वे कहते थे कि उन्होंने उसे पूरी तरह घूम-करके नहीं देखा था।

सहजानंद स्वामी जब लक्ष्मीचन्द दादा के यहाँ गये, तब उन्होंने अपनी चादर बिछाकर उस पर घिसे हुए चन्दन में उनके चरणों की छाप लिवा ली थी। उस छाप से बत्तीस जोड़ चरण-छापें बनायी गयीं। लक्ष्मीचंदजी के चार लड़कों में

जब बँटवारा हुआ, तब उसमें से आठ जोड़ी छापें किशोरलाल भाई के दादा रंगीलदास उर्फ घेलाभाई के हिस्से में आयी थीं। इन रंगीलदास भाई के भी चार लड़के थे। प्रत्येक के हिस्से में दो-दो जोड़ छापें आयीं। किशोरलाल भाई के घर ये दो जोड़ छापें आज भी मौजूद हैं।

उस समय के पुराने संप्रदायवालों को स्वामी नारायण-संप्रदाय की यह सुधारक वृत्ति जरा भी अच्छी नहीं लगती थी। इसलिए जिन कुटुम्बों ने स्वामी नारायण-संप्रदाय में प्रवेश किया था, वल्लभ-संप्रदाय के आचार्यों की प्रेरणा से उन्हें जाति से बाहर करके समाज से भी उनका पूरा बहिष्कार कर दिया गया। ब्राह्मण, बनिये, मोची, नाई सब जातियों में यह किया गया। महाजनों के हाथों में उस समय इतनी सत्ता थी कि मुसलमान जुलाहे भी इन बहिष्कृत कुटुम्बों के साथ व्यवहार करने में डरते थे। उस समय गुजरात में राज्यसत्ता एकदम निर्बल अथवा नाममात्र की रह गयी थी। सर्वोपरि सत्ता मानो महाजनों के हाथों में ही थी। वे अपने गाँव के अधिकारियों को तंग कर मारते थे, इसमें तो कोई सन्देह नहीं है। परन्तु दूसरी तरफ ये महाजन संपूर्णतया धर्माचार्यों के अधीन रहते। गाँवों में पंचायतें और शहरों में पेशेवर 'महाजन' हमारे देश में बहुत प्राचीन काल से चले आये प्रजासत्ताक पद्धति के अवशेष थे। राजाओं के हाथों में मुख्यतः सैनिक सत्ता होती थी। अन्य सारी बातों में वे गाँवों में पंचायतों की और शहरों में 'महाजनों' की बात मानते थे। परन्तु मुगलों और मराठों की सत्ता गिरने के बाद अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में और उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में लगभग अराजकता जैसी स्थिति देश में फैली हुई थी। अराजकता के इस युग में इन ग्राम-पंचायतों और 'महाजनों' के सामने सबसे अधिक महत्त्व का प्रश्न आत्मरक्षा का था। इसलिए उन्होंने पुराने को पकड़े रखने की वृत्ति का आश्रय ले रखा था। अपने को आश्रय देनेवाले इन संप्रदायों के भ्रष्टाचार को ये 'महाजन' न केवल दरगुजर करते थे, बल्कि उनका समर्थन भी करते थे। गुजरात में अंग्रेजी राज्य के जड़ पकड़ लेने के बाद जब नियमानुसार वहाँ अदालतों की स्थापना हुई, तब इन जाति और समाज द्वारा बहिष्कृत कुटुम्बों ने अदालत की शरण ली। उन्होंने वल्लभकुल के आचार्य और इन महाजनों पर मुकदमा दायर कर दिया, जो छह वर्ष तक चला। उसमें वल्लभकुल के आचार्य का बयान लेने

की जरूरत पैदा हुई। इस पर उनकी तरफ से दरखास्त की गयी कि आचार्यजी का बयान कमीशन पर लिया जाय। स्वामी नारायण पक्ष ने इसका विरोध किया और उसकी पुष्टि में कहा गया कि आचार्यश्री नाट्यशालाओं में, नाचों में और बारातों के जुलूसों तक में जाते हैं। वारांगनाएँ जिस जाजम पर नाचती हैं, उसी जाजम पर बैठकर उनके नाच भी वे देखते हैं। इस पर कोर्ट ने वल्लभकुल के आचार्य के नाम यह आज्ञा जारी की कि वे कोर्ट में आकर ही अपना बयान पेश करें। इस पर आचार्य को बड़ा आघात पहुँचा। वस्तुत: इस बहिष्कार के प्रकरण में आचार्य तो नाममात्र को ही शरीक थे। सारा कर्तृत्व उनके पुत्र का था। परन्तु कारोबार तो पिता के नाम से चलता था। वृद्धावस्था में कोर्ट में जाने की नौबत आना उन्हें बहुत बुरी तरह अखरा। उन्होंने आज्ञा दी कि महाजनों को एकत्र करके किसी तरह यह झगड़ा निपटा दिया जाय, अन्यथा वे अपना प्राण दे देंगे। इसका परिणाम यह हुआ कि बहिष्कार के निश्चय रद कर दिये गये और महाजनों की बैठक सत्संगियों के यहाँ हुई। महाजनों के विरुद्ध दायर किये गये इस दीवानी मुकदमे में लक्ष्मीचंदजी के पुत्रों ने और विशेष रूप से किशोरलाल भाई के पितामह रंगीलदास उर्फ घेलाभाई ने प्रमुख भाग लिया था और खर्च का अधिकांश बोझ भी उन्होंने उठाया था।

यों यद्यपि ऊपर से समझौता हो गया, फिर भी वल्लभकुल और स्वामी नारायणकुल के अनुयायियों के बीच कुछ-न-कुछ अनबन और झगड़े बहुत दिनों तक चलते ही रहे। विधिवत् बहिष्कार तो उठा लिया गया, फिर भी स्वामी नारायण-संप्रदाय के अनुयायियों के साथ यथाशक्य सम्बन्ध न रखने की वृत्ति तो कायम ही रही। इसका परिणाम यह हुआ कि किशोरलाल भाई के पिता तथा चाचा आदि को जाति में से जल्दी-जल्दी कन्याएँ नहीं मिलीं। समय को देखते हुए उनके विवाह बड़ी उम्र में हो सके। सूरतवालों ने तो लड़कियाँ नहीं ही दीं। इन चार भाइयों में से तीन के विवाह बम्बई में और एक का बुरहानपुर में हुआ। बुरहानपुर जब बारात पहुँची, तब समधी की तरफ से कहा गया कि कण्ठी तोड़ोगे तब कन्या मिलेगी। कन्या पक्षवालों का अनुमान था कि बारात को वापिस ले जाने के बदले—वापिस जाना बुरा दिखेगा इस भय से—ये लोग हमारी शर्त मान लेंगे। परन्तु इन्होंने तो अपने आदमियों को हुक्म दे दिया कि गाड़ी जोतकर

वापिस चले चलो। यह देखकर समधी और उनके रिश्तेदार ठण्डे पड़ गये। फिर उन्होंने यह चाहा कि सम्प्रदाय के दूसरी जातिवाले आदमियों को आप शादी में निमन्त्रण न दें। किशोरलाल भाई के वुजुर्गों ने इस वात को भी मानने से इनकार कर दिया। अंत में समधी को झुकना ही पड़ा।

स्वीकृत धर्म पर दृढ़ रहने की एक और कहानी है। अपनी संपूर्ण जाति में से केवल किशोरलाल भाई के कुटुम्व ने ही स्वामी नारायण-पंथ स्वीकार किया था। इसलिए उन्हें वेटी-व्यवहार अपनी जाति के वल्लभ-संप्रदाय को माननेवाले कुटुम्वों के साथ ही करना पड़ता। कुटुम्व में एक कन्या थी—जड़ाव वहन। इनका विवाह वुरहानपुरवाले उपर्युक्त कुटुम्व में ही वाद में हुआ। जड़ाव वहन के ससुरालवालों ने वहुत प्रयत्न किया कि वे स्वामी नारायण-संप्रदाय की अपनी कण्ठी तोड़कर फेंक दें। परन्तु उन्होंने वहादुरी के साथ इस सारे प्रयत्न का विरोध किया। यही नहीं, वल्कि यह आग्रह भी किया कि कुटुम्व की ओर से वैष्णव मन्दिरों में जिस प्रकार दान, सेवा, पूजा आदि पहुँचती है, उसी प्रकार उनकी अपनी ओर से स्वामी नारायण के मंदिर में भी दान, सेवा, पूजा आदि पहुँचनी चाहिए। इसके वाद मशरूवाला कुटुम्व की कन्याएँ जिस-जिस कुटुम्व में गयीं, उनमें से वहुत से कुटुम्वों में दोनों संप्रदायों के मंदिरों में दान, सेवा, पूजा आदि भेजवाने का रिवाज शुरू हो गया।

रंगीलदास दादा को अपनी धार्मिक मान्यताओं की स्वतंत्रता के लिए आजीवन लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। इस वातावरण में वढ़े हुए किशोरलाल भाई के पिताश्री तथा चाचाओं के हृदय में स्वामी नारायण-संप्रदाय के प्रति खासा ममत्व वढ़ गया था। संप्रदाय के खातिर सर्वस्व का वलिदान करने के लिए सारा कुटुम्व सदा एकमत से तैयार रहता।

रंगीलदास दादा को अपने जीवन में वहुत कष्ट झेलने पड़े। वड़ा कुटुम्व और आर्थिक स्थिति सामान्य। फिर एक वार तो मकान ही जल गया। अनेक वर्षों तक वे समाज से वहिष्कृत रहे। वाद में मुकदमेवाजी में वहुत खर्च हो गया। इसके वाद पहले-पहल नमक-कर लगाने पर, जव उसके विरोध में सूरत में उपद्रव हुए, तो उनके पुत्र मंछाराम भी गिरफ्तार हो गये थे। यह मुकदमा भी वहुत दिन तक चलता रहा, जिसमें वकील-वैरिस्टरों पर वहुत खर्च हो गया। इतने

पर भी ऐसा तो नहीं मालूम होता कि कुटुम्ब की आर्थिक स्थिति एकदम दरिद्र रही होगी, क्योंकि उस समय को देखते हुए उन्होंने अपने लड़कों को अच्छी शिक्षा दी। लड़कियों को भी सर्वथा अशिक्षित नहीं रहने दिया। फिर सूरत में स्वामी नारायण का मन्दिर बनवाने में इनका तथा इनके भाइयों का खासा हाथ रहा। किशोरलाल भाई के कुटुम्ब में प्रायः गर्व के साथ कहा जाता कि सूरत का मंदिर तो हमारा है। सूरत के मंदिर के संचालन में रंगीलदास दादा प्रमुख भाग लेते रहे। तात्पर्य यह कि इनके पास धन कम रहा हो या अधिक, इनकी प्रतिष्ठा अच्छी थी।

लक्ष्मीचंद दादा के पुत्रों में केवल रंगीलदास दादा के कुटुम्ब में ही पुत्र संतानें थीं। संप्रदाय सम्बन्धी झगड़ों में भी अधिकांश भार दादा के कुटुम्ब पर ही आया। दादा के पुत्रों में इतनी एकता थी कि इसके लोग इस कुटुम्ब को आदर्श रूप मानते। दादा के पाँच पुत्र थे, इसलिए संप्रदाय में इसका नाम पाण्डव-कुल पड़ गया।

दादा भी मशरू का ही धन्धा करते थे। किशोरलाल भाई के बड़े काका साकरलाल ने इस धन्धे को चालू रखा था। उनकी मृत्यु संवत् १९३३ (ई० स० १८७७) में हुई। इसके छह महीने बाद रंगीलदास दादा की मृत्यु हुई। उसके बाद इनके कुटुम्ब में से मशरू का धन्धा उठ गया।

हमारे देश में आमतौर पर ऐसा पाया जाता है कि मनुष्य जिस संप्रदाय और जाति में जन्म लेता है, अक्सर उसी जाति और संप्रदाय में वह मरता भी है। स्वतंत्र रूप से विचार करनेवाले मनुष्य बहुत थोड़े होते हैं। इनमें भी अपने विचारों पर दृढ़ रहकर, उन्हें समाज के सामने निर्भयता के साथ पेश करनेवाले वीर पुरुष तो और भी कम होते हैं। किशोरलाल भाई के बड़े दादा लक्ष्मीचंदजी ने वीरोचित वृत्ति से वल्लभ-संप्रदाय के विरुद्ध बगावत की और अनेक प्रकार की मुसीबतें और कष्ट उठाकर स्वामी नारायण-संप्रदाय को अपनाया। बड़े दादा का यह गुण किशोरलाल भाई में पराकाष्ठा को पहुँच गया था। अथवा यों कहिये कि उन्होंने उसका विकास करके उसे पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया था। जिस प्रकार बड़े दादा वल्लभ-संप्रदाय में अपने आपको सीमित नहीं रख सके, उसी प्रकार किशोरलाल भाई भी बड़े दादा से परम्परा में प्राप्त स्वामी नारायण

संप्रदाय में अपने आपको सीमित नहीं रख सके। उनकी विशेपता यह थी कि दूसरे किसी संप्रदाय में वे शामिल नहीं हुए। इसका एक कारण यह था कि उनकी धर्म-भावना विशेप उत्कट और विवेकयुक्त थी। मनुष्य ज्यों-ज्यों आगे वढ़ता जाता है और स्वतंत्र दर्शन करता जाता है, त्यों-त्यों किसी भी संप्रदाय की वाड उसे अपने वन्धन में नहीं रख पाती। किशोरलाल भाई पर गांधीजी का प्रभाव वहुत अधिक पड़ा था। उन्हें किशोरलाल भाई एक सद्गुरु मानते और उन पर वड़ी श्रद्धा भी रखते थे। इसके अलावा उन पर इनका पिता के समान वल्कि उससे भी अधिक प्रेम था। फिर भी गांधीजी की सभी वातों को वे स्वीकार नहीं करते थे और अपने मतभेद स्पष्टता तथा दृढ़ता के साथ प्रकट भी कर दिया करते थे। गांधीजी को यह वात वहुत प्रिय थी। विचारस्वातंत्र्य को वे सदैव प्रोत्साहन देते थे। नीचे लिखी धर्म की व्याख्या उन्हें वहुत प्रिय थी :

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर् नित्यम् अद्वेष रागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥ मनुस्मृति-२.१

इसमें भी 'हृदयेनाभ्यनुज्ञातो' इन शब्दों को वे विशेष महत्त्व का मानते थे। किशोरलाल भाई की सत्य की खोज के विपय में गांधीजी ने एक वार कहा था कि हमारी सत्य की खोज एक मार्ग में नहीं, वल्कि समानान्तर मार्गों में चल रही है। धर्म का विचार करने में किशोरलाल भाई को नाथजी से एक नयी ही दृष्टि मिली थी। उन्हें वे अपना गुरु मानते और वड़ी श्रद्धा रखते थे। परन्तु उनके विपय में भी अपने स्वतंत्र विवेक को उन्होंने छोड़ा नहीं था। केदारनाथजी का हमेशा यही उपदेश रहता है कि अपनी साधना में मुख्य आधार आप अपने विवेक को ही वनावें। इसी प्रकार अव तक हुए समस्त धर्म-प्रवर्तकों और आचार्यों के प्रति किशोरलाल भाई वहुत आदर रखते, तथापि उनमें से किसीको उन्होंने कभी सर्वशक्तिमान अथवा सर्वज्ञ नहीं माना। अपनी 'जड़मूल से क्रान्ति' नामक पुस्तक में उन्होंने घोषणा की है :

मानो परमात्मा एक केवल
न मानो देव-देवता-प्रतिमा सकल
न मानो कोई अवतार-गुरु-पैगम्वर

सर्व सद्गुरु-बुद्ध-तीर्थंकर
मानो ज्ञानी विवेकदर्शी केवल
न कोई सर्वज्ञ अस्खलनशील
भले ऊँची रहबर

महा धर्मग्रन्थों में 'अपौरुषेय' और 'प्रामाण्य' के विषय में उनकी घोषणा यह है :

किसी शास्त्र का वक्ता परमेश्वर
न कोई विवेक के क्षेत्र से परे

किशोरलाल भाई का वंश-वृक्ष इस प्रकार है :

रंगीलदास उर्फ घेलाभाई = नवलकोर

साकरलाल | नंदकोर | दामोदरदास | मंछाराम | पार्वती | आत्माराम | इच्छाराम

(इच्छाराम की संतान:)

जमनादास | ईश्वरदास × जीवकोर बहन | नानाभाई × विजया बहन | जगमोहनदास | किशोरलाल × गोमती बहन | हरिलक्ष्मी | रमणलक्ष्मी

किशोरलाल भाई की तीन बहनें और एक भाई ठेठ बचपन में ही शान्त हो गये थे। सबसे बड़े भाई जमनादास और चौथे भाई जगमोहनदास क्रमशः १६ और १७ वर्ष की आयु में शान्त हो गये। हरिलक्ष्मी बहन की मृत्यु १४ वर्ष की आयु में और रमणलक्ष्मी बहन विधवा होकर २० वर्ष की आयु में शान्त हो गयीं।

० ० ०

कुटुम्ब की सार्वजनिक प्रवृत्तियाँ : २ :

ठेठ लक्ष्मीचंद दादा के समय से इस कुटुम्ब में सार्वजनिक प्रवृत्तियों के विषय में एक प्रकार का उत्साह दिखाई देता है। रंगीलदास दादा ने इस उत्साह को कायम रखा था। किशोरलाल भाई के पिताश्री, काका तथा बड़े भाई भी सार्वजनिक चन्दे एकत्र करने में तथा लोक-सेवकों की मदद करने में प्रमुख भाग लिया करते थे। साथ ही वे अपना धंधा भी करते रहते। सार्वजनिक सेवा के लिए अपना संपूर्ण जीवन अर्पित करना तो किशोरलाल भाई के भाग्य में ही था। इनके एक चाचा मंछाराम ने सार्वजनिक काम करते हुए वहुत कष्ट उठाये। यह वात सूरत शहर के इतिहास में सर्वविदित है। दादा रंगीलदास का अधिक प्रचलित नाम घेलाभाई था। इसलिए मंछाराम काका को लोग मंछाराम घेलाभाई के नाम से अधिक जानते थे। किशोरलाल भाई अपने कुटुम्ब के संस्मरणों में लिखते हैं: "इनके साथ मेरा प्रत्यक्ष परिचय केवल चार वार ही हुआ। परन्तु उनके साहित्य और जीवन-चरित्र के पढ़ने और उनकी कीर्ति से मुझे उनका परिचय है। मैंने इनके दूसरे ग्रन्थ तो नहीं देखे, परन्तु वच्चों के विनोदार्थ लिखी दो पुस्तकें 'चतुरसिंग' और 'मूर्खो' मैंने दिलचस्पी के साथ पढ़ी थीं।"

मंछाराम काका सूरत के 'देशमित्र' पत्र के आदि संस्थापक थे और अपने जीवन के अंत तक इसका संपादन उन्होंने किया। 'देशमित्र' पत्र की स्थापना से पहले उन्होंने 'सत्य' मासिक और 'गुजरात मित्र' पत्र चलाये। उस समय दो-एक वार इन पर सरकार की कुदृष्टि भी पड़ी थी। एक वार तो इन्हें चेतावनी देकर छोड़ दिया गया और दूसरी वार इन्हें अफसोस प्रकट करने पर छुट्टी मिली। ऐसा नहीं लगता कि उन पर वाकायदा कोई मुकदमा चला हो। अपने समय में वे सूरत के एक अगुआ और उत्साही गृहस्थ माने जाते थे।

इनके समय में नमक पर पहले-पहल कर लगाया गया। इसके परिणाम-स्वरूप सूरत में खूव उपद्रव हुए और अनेक फौजदारी मुकदमे चले। एक मुकदमा

मंछाराम काका और अन्य पाँच अगुओं पर दायर हुआ। ये मुकदमे एक विशेष ट्रिब्युनल को सौंप दिये गये। लगभग सात महीने तक छह अगुए हवालाती कैदी के रूप में जेल में बन्द रहे। इन छहों में मंछाराम काका सबसे अधिक हिम्मत-वाले थे। इन छहों अगुओं के हाथों में हथकड़ी डालकर उन्हें हवालात से अदालत में ले जाया जाता। रास्ते में इन्हें देखकर कितने ही आने-जानेवालों की आँखों में आँसू आ जाते। तब मंछाराम काका उन्हें यह कहकर आश्वासन देते कि सोने और लोहे में क्या फर्क है? सोने की जंजीरें तो हम खुद ही पहनते हैं। इनको भी सोना समझ लें, तो काम बना।

प्रारम्भ में कचहरी के भीतर भी इनके हाथों में हथकड़ियाँ पड़ी रहतीं। बाद में अदालत ने आज्ञा दी कि कचहरी के भीतर हथकड़ियाँ हटा दी जायँ। परन्तु पुलिस ने दो-एक दिन तक इस आज्ञा की परवा नहीं की। न्यायाधीशों के आने पर अथवा आने से तुरन्त पहले पुलिस हथकड़ी निकालने के लिए आयी, परन्तु मंछाराम काका ने उसे वह निकालने नहीं दी और न्यायाधीश के आने पर हाथ ऊँचे करके बोले—"देखिये, यह है आपका हुक्म।" न्यायाधीश पुलिस पर नाराज हुए। उसके बाद फिर ऐसा नहीं हुआ।

कहते हैं कि इन पर मुकदमा चलाने में तत्कालीन उत्तर विभाग के कमिश्नर सर फ्रेडरिक लेली का हाथ था। कुछ समय बाद इसी कमिश्नर ने इन्हें 'राव-साहब' की पदवी देने की सिफारिश की थी। उस प्रसंग में उनका अभिनन्दन करने के लिए निमन्त्रित सभा में मंछाराम काका ने कहा कि 'जब इन साहब ने मेरे हाथों में लोहे की जंजीरें पहना दी थीं, तब मैंने इनका आभार माना था, आज जब वे सोने की जंजीरें इनायत फर्मा रहे हैं, तब भी मैं इनका उसी तरह आभार मानता हूँ।"

इन पर चलाये गये मुकदमे के कारण कुटुम्ब को बहुत भारी आर्थिक हानि सहनी पड़ी। मंछाराम काका की तरफ से श्री गिल तथा सर फिरोजशाह मेहता ऐसे दो बैरिस्टर पैरवी करने के लिए बुलाये गये थे। कहते हैं कि इनमें से गिल तो प्रतिदिन एक हजार रुपया लेते थे। आज तो इतनी फीस बहुत भारी नहीं मानी जाती, परन्तु उस समय के एक हजार रुपये आज के पंद्रह या बीस हजार के बराबर होते थे। सर फिरोजशाह की फीस इतनी भारी नहीं रही होगी,

क्योंकि उस समय वे नये-नये ही वैरिस्टर हुए थे और यह उनका सबसे पहला बड़ा मुकदमा था। यह मुकदमा बहुत दिनों तक चलता रहा और उसमें सैकड़ों गवाहों के बयान हुए। इस खर्च की पूर्ति के लिए घर की स्त्रियों के जेवर तक बेचने या रेहन रखने पड़े थे। अंत में छहों अभियुक्त निर्दोष साबित हुए और छोड़ दिये गये। मुकदमे के दिनों में मंछाराम काका का अखबार किशोरलाल भाई के पिता और इच्छाराम सूरजराम देसाई (इच्छू काका)—इन दोनों ने मिलकर चलाया। उस समय एक बार पुलिस ने प्रेस की तलाशी ली थी। किशोरलाल भाई ने लिखा है कि पिताजी कहते थे कि एक संदेहास्पद कागज पुलिस के हाथों में न पहुँच जाय, इसलिए तलाशी के बीच नजर बचाकर इच्छू-काका ने उसे मुँह में रख लिया और चबा गये। इच्छू काका को अपनी जेब में चने-मुरमुरे रखने की आदत थी। पुलिस ने इच्छू काका को कुछ चबाते हुए देखा और पूछा, तो जेब में से चने-मुरमुरे निकालकर पुलिस को देते हुए कहा "लीजिये, आप भी नोश फर्माइये।"

मंछाराम काका जब तक जिये, तब तक सूरत के स्वामी नारायण-मंदिर के संचालक रहे। जिस प्रकार इन्हें संप्रदाय के खातिर अपनी जाति से अनेक बार लड़ना पड़ा, उसी प्रकार संप्रदाय के आचार्यों के साथ भी इन्हें कई वार लड़ना पड़ा। आचार्यों की मनमानी वे कभी बरदाश्त नहीं करते थे। वे उसका कड़ा विरोध करते। आचार्य श्री बिहारीलालजी से उन्होंने दो-एक बार कड़ी टक्कर ली और उन्हें न्याय के मार्ग पर चलने को मजबूर किया। सूरत के मंदिर का संचालन इन्होंने आचार्यों से लगभग स्वतंत्र कर लिया था।



माता-पिता

किशोरलाल भाई के पिताश्री श्री इच्छाराम का जन्म ता. १ जनवरी सन् १८५२ के दिन कडोद (सूरत जिले की वारडोली तहसील) में अपने ननिहाल में हुआ। वे दादा की अंतिम सन्तान थे और वचपन में ही शरीर से दूसरे भाइयों की अपेक्षा कमजोर थे। उनका सारा वचपन सूरत में बीता। उनकी पढ़ाई मैट्रिक तक हुई। उस समय उनकी उम्र कोई इक्कीस वर्ष की रही होगी। मिशन हाईस्कूल में वे पादरी से पढ़े, इसलिए अंग्रेजी भाषा पर उनका अच्छा अधिकार था। उनके आजीवन मित्रों में श्री मगनलाल ठाकोरदास मोदी, उनके भाई श्री छगनलाल मोदी तथा श्री इच्छाराम सूरजराम देसाई मुख्य थे। पढ़ाई पूरी होते ही आर्थिक स्थिति साधारण होने के कारण उन्होंने शिक्षक की नौकरी कर ली। लगभग सात वर्ष शिक्षक का काम किया। इसमें से अधिकांश समय मिशन हाईस्कूल में बीता। वे एक कुशल शिक्षक माने जाते थे।

इसके वाद अपने भाई मंछाराम के प्रेस तथा समाचार-पत्र के संचालन में मदद करते रहे। प्रारम्भ में उन्हें लिखने का शौक भी था। मंछाराम काका के मुकदमे के दिनों में उन्होंने तथा इच्छाराम सूरजराम देसाई दोनों ने मिलकर समाचार-पत्र चलाया। इच्छाराम सूरजराम देसाई ने 'हिन्द अने ब्रिटानिया'—नामक एक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी थी। उसमें भी इनका वड़ा हाथ था। मालूम होता है कि वाद में उन्होंने लेखनप्रवृत्ति को एकदम छोड़ दिया। हाँ, वाचन का शौक उन्हें अन्त तक रहा, परन्तु वह भी धीरे-धीरे धार्मिक पुस्तकों और उनमें भी विशेषकर स्वामी नारायणीय साहित्य तक ही सीमित होता गया।

मिशन हाईस्कूल में उन पर ईसाई धर्मोपदेश का अच्छा असर हुआ। कई वर्ष तक उनके दिल में यह संघर्ष चलता रहा कि ईसाईधर्म सच्चा है या हिन्दूधर्म। ईसाई कहते कि ईसामसीह ही मनुष्यों का तारनेवाला है। उसकी शरण गये विना मनुष्य का उद्धार नहीं हो सकता। मंदिरों में साधु लोग कहते कि जिन्होंने सहजानंद का अनुसरण नहीं किया, वे भवसागर में गोते खा रहे हैं।

दूसरे संप्रदायवाले भी अपने-अपने इष्टदेव के बारे में ऐसा ही प्रचार करते। इनमें से सच्चा कौन है? इसका निराकरण कौन करे? फिर भी उन्होंने स्वामी नारायण-संप्रदाय के अनुसार पूजापाठ जारी रखा। परन्तु मन में शंका पैठी हुई थी, इस कारण उनके चित्त में शान्ति अथवा समाधान नहीं हो रहा था। वे कहते कि "मैं श्रीजी महाराज अथवा अन्य किसी अवतारी पुरुप को ध्यान में रखकर पूजा-पाठ नहीं कर सकता था। वल्कि परमेश्वर का जो भी सच्चा स्वरूप हो, उसे अर्पण करता और उससे प्रार्थना करता कि मेरे उद्धार का जो सही मार्ग हो, वह मुझे वतायें। मैंने यह भी निश्चय किया कि ईश्वर से यह मार्गदर्शन पाने के लिए संसार को छोड़कर उसके चरणों में अपना जीवन अर्पण कर दूँ।" किशोरलाल भाई ने लिखा है कि "अपने इस अंतिम निश्चय पर वे अक्षरश: दृढ़ नहीं रह सके थे। इस पर पश्चात्ताप करते हुए मैंने भाई (पिताजी) को देखा था।"

इनके एक मित्र वड़े मजाकिया थे। वे इन्हें 'स्वामी-नारायणीयो' कहकर चिढ़ाते। परन्तु एक वार वम्वई में किसी स्वामी-नारायण के संतजन का उपदेश सुनकर इस मित्र के मन को वड़ी शान्ति मिली, और वहीं उन्होंने स्वामी नारायण की कण्ठी ले ली। अपने मित्र में यह परिवर्तन देखकर पिताजी पर वड़ा असर पड़ा। इसके वाद उन्हें क्या-क्या प्रत्यय हुए, यह तो पता नहीं। परन्तु अनेक भिन्न-भिन्न प्रत्ययों से इनके मन को निश्चय हो गया कि सहजानंद स्वामी ही पूर्ण पुरुपोत्तम हैं और आज तक न तो कोई ऐसा अवतार हुआ है और न होने-वाला है, जो उनकी तुलना में रखा जा सके। उनका यह निश्चय अंत तक दृढ़ रहा। दूसरों के मन पर भी यह वस्तु अंकित करने में मिशनरियों का-सा उत्साह वे प्रकट करते। अपने आश्रितों, स्वजनों, नौकर-चाकरों, धंधे के सिलसिले में उनके संपर्क में आनेवाले मजदूरों, व्यापारियों आदि सवको यह निश्चय दिलाने का वे पूरे अंतःकरण से प्रयत्न करते और उसमें एक प्रकार का आनंद अनुभव करते कि सहजानंद स्वामी पुरुपोत्तम थे। अनेक लोगों के कण्ठों में उन्होंने स्वामी-नारायण की कण्ठी डाली। परन्तु इनमें से कोई हमेशा के लिए सत्संगी वने हों, ऐसा नहीं लगता। हाँ, सांप्रदायिक परिभाषा के अनुसार गुणवुद्धिवाले अवश्य अनेक वन गये थे। चारित्र्य के विषय में उन्हें वड़ा आदर था। परन्तु चारित्र्य

के साथ-साथ स्वामी सहजानंद में श्रद्धा होना मोक्ष के लिए आवश्यक है, ऐसा वे मानते थे। इन दोनों के योग को वे सोने में सुगन्ध के समान उत्कृष्ट मानते। यह स्वाभाविक ही था कि अपना यह धर्मप्रचार वे घर में भी करते। इसलिए उनका यह सतत प्रयत्न रहा कि सहजानंद स्वामी में उनके जैसी उत्कट श्रद्धा उनकी पत्नी की भी हो।

किशोरलाल भाई की माता अपने पीहर में वल्लभ-संप्रदाय में पली थीं। अपने संस्कारों के अनुसार वे श्रीजी को इष्टदेव मानतीं। सहजानंद स्वामी तो एक आचार्य माने जा सकते हैं। भगवान तो श्रीजी ही हैं। वे मानतीं कि सहजानंद स्वामी को श्रीजी की बराबरी में नहीं बैठाया जा सकता।

ऐसा लगता है कि स्वामी नारायण-संप्रदाय को स्वीकार कर लेने पर भी किशोरलाल भाई के दादा अथवा बड़े दादा ने श्रीजी अथवा लालजी महाराज की सेवा छोड़ी नहीं थी। इसलिए जब तक पिताश्री सम्मिलित कुटुम्ब में रहे, तब तक वल्लभ-संप्रदाय में पली हुई माताजी के धार्मिक असंतोष का कोई कारण उपस्थित नहीं हुआ होगा। परन्तु जब पिताजी विभक्त हुए और स्वतंत्र घर बसाया गया, तब सेवापूजा का प्रश्न उत्पन्न हुआ। पिताजी अनन्याश्रयी थे। अपने इष्टदेव के अतिरिक्त अन्य किसी देव को न माननेवाले होने के कारण श्रीजी की मूर्ति की पूजा करने में उन्हें श्रद्धा नहीं थी। इसलिए उन्होंने अपने घर में पूजा के लिए केवल सहजानंद स्वामी की मूर्ति ही रखी। उधर माताजी मानतीं कि श्रीजी की मूर्ति तो प्रत्यक्ष भगवान की मूर्ति है और सहजानंद स्वामी की मूर्ति तो केवल एक आचार्य अथवा गुरु या साधु की मूर्ति है। भगवान की मूर्ति के अलावा सहजानंद स्वामी की मूर्ति भी रहे, तो इस पर उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। परन्तु श्रीजी की मूर्ति को हटाकर सहजानंद स्वामी की मूर्ति की पूजा करना तो उन्हें ऐसा लगता मानो भगवान को छोड़कर मनुष्य की पूजा करने लग गये। इसलिए माताजी ने यह आग्रह किया कि पूजा में श्रीजी की मूर्ति तो होनी ही चाहिए। ऐसी एक मूर्ति भेंट-स्वरूप आयी थी, उसे उन्होंने पूजा में रख भी दिया। पिताजी को भी ऐसा तो नहीं लगता था कि श्रीजी की मूर्ति की पूजा करना पाप है। इसलिए उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। परन्तु बात इतने से समाप्त नहीं हो सकी। अब मतभेद इस बात पर खड़ा हुआ कि मंदिर की चौकी

में प्रमुख स्थान पर किस मूर्ति को रखें। पिताजी यह मानते थे कि सच्चे देवता केवल 'सहजानंद स्वामी' ही हैं। वही पूर्ण पुरुषोत्तम, स्वयं परमात्मा हैं, उन्हें छोड़ कोई दूसरा परमात्मा नहीं, ऐसी उनकी दृढ़ आस्था थी। इसलिए उनका आग्रह यह रहता कि सहजानंद स्वामी की मूर्ति को अग्र स्थान पर बैठाकर उसकी पहले पूजा की जाय। दूसरी तरफ इसी प्रकार का आग्रह श्रीजी की मूर्ति के बारे में माताजी को था। दोनों के बीच इस विषय में बार-बार चर्चाएँ होतीं। परन्तु किसीके निश्चय को कोई बदल नहीं सका। व्यवहार में इसका परिणाम यह होता कि पिताजी पूजा करते, तब पहले सहजानंद स्वामी की मूर्ति की पूजा करते और माताजी पूजा करतीं, तब पहले श्रीजी की मूर्ति की पूजा करतीं।

इस तरह पिताजी और माताजी के बीच वर्षों तक धार्मिक मतभेद चलता रहा। परन्तु पिताजी की श्रद्धा बहुत उत्कट थी। अंत में उनके उपदेशों का असर माताजी के हृदय पर हुआ और दोनों के बीच का मतभेद समाप्त हो गया। यहाँ तक कि सहजानंद स्वामी में माताजी की श्रद्धा पिताजी के समान ही तीव्र हो गयी और बाद में तो नवदीक्षित के उत्साह के साथ वे और भी दृढ हो गयीं। फिर तो माताजी को सहजानंद स्वामी के दर्शन की लगन लग गयी। वे सहजानंद स्वामी की पूजा-पाठ में बहुत निमग्न रहने लग गयीं और उन्हें उनके आदेश भी मिलने लगे। यह वस्तु माताजी की मृत्यु तक जारी रही। परन्तु इस धर्मान्तर में कितने ही वर्ष बीत गये। किशोरलाल भाई लिखते हैं कि "यह समय पिताजी तथा माताजी के लिए बड़ा अशान्ति का समय रहा। इसका मनोरंजक वर्णन मैंने पिताजी से सुना है।"

किशोरलाल भाई की सात वर्ष की उम्र में उनकी माताजी का देहान्त हो गया। वे लम्बे समय तक बीमार रहीं। फिर भी रोज स्नान-ध्यान तो जारी ही था। किशोरलाल भाई ने लिखा है :

"पौष सुदी नवमी के दिन पिताजी की बरसगाँठ थी। माँ ने स्वयं भोजन बनाने का आग्रह किया। मंदिर के पास सिगड़ी रखवायी। पुरणपोळी बनाकर ठाकुरजी को भोग लगाया। भोग लगवाकर बिस्तर पकड़ा, सो फिर नहीं उठीं। वे डॉक्टर-वैद्यों की दवा तो लेती ही नहीं थीं। माँ के रहते साधारणतया हमारे घर में डॉक्टर-वैद्यों की दवाएँ आती ही नहीं थीं। कुछ-न-कुछ

घरेलू इलाज चलते रहते। अधिकतर तो पानी में मिश्री डालकर ठाकुरजी के सामने रख दी जाती और वह पानी बीमार को पिला दिया जाता। इस दवा पर हम बच्चों का बड़ा विश्वास था। इस कारण कई बार हमारा पेट भी दुखने लग जाता।"

माताजी की मृत्यु का वर्णन किशोरलाल भाई ने इस प्रकार किया है:

"रात के ग्यारह बजे (ता. १-२-१८९८) माँ का देहान्त हुआ। रात में रोया-धोया नहीं गया। तीन बजे के लगभग मैं जागा, तब देखा कि माँ को एक तरफ लिटा दिया गया है। पास में घी का दीपक जल रहा है। उनके पास पिताजी बैठे हैं। मुझे देखा, तो पिताजी ने मुझे इशारे से अपने पास बुलवा लिया और अपनी गोद में ले लिया। कहा कि "माँ अक्षर धाम को गयीं।" तब मैंने पूछा कि "यहाँ पर यह कौन सोया है?" तो बताया "तेरी माँ सोयी है। मुँह देखना है?" "यहाँ सोयी है और अक्षर धाम को गयीं", इन दो बातों का मेल मैं जल्दी नहीं बैठा सका। परन्तु थोड़ी देर में ऐसा लगा कि वे मर गयीं। मैंने सुना था कि मनुष्य मरता है, तब भगवान के घर चला जाता है। फिर हम तो सहजानंद स्वामी के उपासक थे। इसलिए मेरी तो ऐसी दृढ़ श्रद्धा थी कि हमें तो मरते समय स्वयं भगवान लेने के लिए आते हैं और अपने धाम में ले जाते हैं। इसलिए माँ के मरने की बात सुनकर मुझे दुःख या शोक नहीं हुआ। सवेरे माँ को ले जानेवाले लोग एकत्र होने लगे। शव को ले जाते समय छोटे बच्चों को घर में नहीं रहने दिया जाय, यह पहले से तय कर लिया गया था। इसलिए मुझे और मुझसे तीनेक वर्ष बड़े जगुभाई को किसी रिश्तेदार के घर भेज दिया गया था।

"मुझे याद आ रहा है कि शाम को मैं घर पर था। मगन काका (मगनलाल ठाकोरदास मोदी) पिताजी से मिलने आये थे। उस समय पिताजी थककर उदास लेटे हुए थे। मेरे मन में शोक जैसा कुछ नहीं था, ऐसा लगता है। परन्तु घर के भीतर फैले हुए शोक की छाप मुझ पर भी पड़ी थी। पिताजी के प्रति मेरी मूक सहानुभूति थी। मगन काका के आने पर वे उठ बैठे। मित्र को देखकर उनके हृदय में दबा हुआ शोक बाहर प्रकट हो गया। मैंने देखा कि दोनों की आँखें भीग गयीं। पिताजी की आँखों में मैंने कभी आँसू नहीं देखे थे। इसलिए

मैं भी रो पड़ा। मगन काका ने और पिताजी ने मुझे अपनी गोद में लेकर मेरे माथे पर हाथ फिराया।

"इसके वाद हम विना माँ के वच्चे हो गये—इस तरह के शब्द अनेक वार दयाभरी आवाज में हमारे सुनने में आये। वास्तव में मेरे अपने लिए तो पिताजी माँ और वाप दोनों थे। कुछ कमी रह गयी होगी, तो उसकी पूर्ति 'जी' (नानी माँ), मौसी, वड़ी चाची, जीवकोर भाभी आदि ने पूरी कर दी। इन सवने कभी मुझे माँ की कमी नहीं महसूस होने दी।

"माँ का स्वभाव उग्र, स्वाभिमानी, महत्त्वाकांक्षी, सत्ताप्रिय, आग्रही, प्रेम तथा द्वेष दोनों में उग्र, जो सत्य मालूम हो, उसे किसी की भी परवा किये वगैर पकड़े रहनेवाला, धर्म में श्रद्धालु, संसार के रूढ़ रिवाजों के अनुकूल न होनेवाला, वात्सल्यपूर्ण और वड़ी उमंगवाला-सा मुझे लगा।

"पिताजी का स्वभाव माँ की अपेक्षा कम उग्र और हठीला, सन्तोषी, सत्ता के वारे में अत्यंत निःस्पृही, प्रेम तथा द्वेष दोनों के वारे में मंद वेगवाला, सत्यनिष्ठ, धर्म के विषय में माँ के जितनी ही उत्कट श्रद्धावाला, आत्मपरीक्षण तथा चित्त-शोधन के लिए व्याकुल और प्रयत्नशील, धर्म को छोड़कर दूसरी वातों में उदासीन, प्रेमभरा परन्तु मोह से सर्वथा रहित और क्लेश से ऊवनेवाला था; ऐसा मेरा मत है। दोनों में कंजूसी तो नाममात्र को भी नहीं थी। उदारता अपनी शक्ति और हैसियत से अधिक थी, ऐसा भी कह सकते हैं।

"माँ पुस्तकीय ज्ञान अधिक नहीं प्राप्त कर सकीं थीं। परन्तु इस कारण उनके आत्मविश्वास में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं दिखती थी। माँ के आग्रही स्वभाव के कारण पिताजी को कई वार झुकना पड़ता। उनका व्यक्तित्व ऐसा नहीं था कि पति जिधर ले जावें, उधर चुपचाप चली जायँ। वचपन से ही उनका व्यक्तित्व स्वतंत्र था।

"हमारे यहाँ एक ईश्वर की भक्ति का आग्रह और मनौती आदि सकाम पूजा के प्रति अरुचि है, वह पिता और माँ के स्वभावविशेष के कारण ही है।"



प्रभु को समर्पण : ४ :

किशोरलाल भाई का जन्म कालवादेवी (बम्बई) में किसी किराये के मकान में संवत् १९४६ के दूसरे भाद्रपद वदी सप्तमी को रविवार ता. ५–१०–१८९० के दिन हुआ। इनसे तीन वर्ष बड़े एक भाई थे, जिन्हें घर में जगुभाई कहते थे। उनका नाम जुगल रखा गया। तब से माता-पिता ने सोच रखा था कि इसके बाद जो बच्चा हो उसका नाम किशोर रखा जाय, जिससे दोनों भाइयों की जोड़ी को जुगलकिशोर कहा जा सके।

किशोर के जन्म के कुछ ही दिनों बाद पिताजी को अपने काम से अकोला जाना पड़ा। अकोला में दिवाली में रुई का मौसम शुरू हो जाता है। उन्हीं दिनों अलसी की खरीद भी खूब होती है। एक दिन बालक किशोर के सुलाने का पालना अकोला के मकान के बैठक के पश्चिम तरफ की दीवाल के पास रखा था। उसके पास ही पड़ोस के बड़े हिस्से में जाने का एक दरवाजा था। इस हिस्से में अलसी का एक बहुत बड़ा ढेर लगाया गया था। बालक (किशोर) पालने में सो रहा था और जगु पास ही खेल रहा था। पिताजी तथा माताजी अपने-अपने काम में लगे हुए थे। इनके यहाँ गोविन्द नाम का एक पहाड़ी नौकर था। उसे बुखार आ रहा था और वह पास के नौकरोंवाले मकान में सो रहा था। कहते हैं कि गोविन्द ने बुखार के नशे में आवाज सुनी कि "उठ, सो क्या रहा है, तेरे सेठ के बच्चे मर जायेंगे।" यह आवाज सुनते ही गोविन्द दौड़कर बैठक में गया और जगु तथा छोटे बच्चे को अपनी एक-एक बगल में उठाकर अपने कमरे में ले आया और छोटे बच्चे को अपने पास लिटाकर खुद भी लेट रहा। जगु को किसीने आम दे दिया था। उसे वह खा रहा था। आम के मौसम से जान पड़ता है कि यह घटना वैशाख-जेठ में घटी होगी। अर्थात् उस समय किशोरलाल भाई आठ-नौ महीने के रहे होंगे। इधर जैसे ही गोविन्द दोनों बच्चों को अपनी गोद में लेकर उससे बाहर निकला, वैसे ही पालन के पासवाला दरवाजा टूट गया और पानी के रेले की भाँति सारी बैठक में

अलसी फैल गयी। पलभर में वह पालना अलसी के नीचे दब गया। यह आवाज सुनते ही पिताजी, माताजी तथा दूसरे सब लोग दौड़कर बैठक में पहुँचे। परन्तु दोनों बच्चों को गोविन्द वहाँ से पहले ही ले गया था, यह कोई नहीं जानता था। माताजी जानती थीं कि बच्चा पालने में सोया हुआ है और पिताजी का अनुमान था कि जगु भी वहीं उसके पास खेलता होगा। इसलिए सबने यही समझा कि दोनों बच्चे अलसी में दब गये। अलसी को हटाया गया, परन्तु बच्चे वहाँ नहीं मिले। इससे सबको आश्चर्य हुआ। कहते हैं कि उसी समय जगु वहाँ दूसरा आम माँगने के लिए जा पहुँचा। जगु के मुँह पर आमरस लगा हुआ देखकर सबको आश्चर्य हुआ। उससे उन्होंने पूछा कि छोटा मुन्ना कहाँ है? जगु ने अपनी तुतली बोली में बताया कि दोनों को गोविन्द उठाकर पहले ही ले गया था। तब सबके सब गोविन्द के पास पहुँचे और उससे पूछताछ करने लगे। उसने केवल ऊपर बतायी आवाज सुनी थी, इसके अलावा वह कोई स्पष्टीकरण नहीं कर सका। इस पर माताजी और पिताजी को भी निश्चय हो गया कि बच्चों की रक्षा में भगवान का ही हाथ था। उस समय माता-पिता के हृदय में जो भाव उठे होंगे, इसकी केवल कल्पना की जा सकती है। दोनों इन बच्चों को ठाकुरजी के मंदिर में ले गये और उन्हें भगवान के चरणों में रख दिया। उन्होंने अपने मन में समझ लिया कि हमारे बच्चे तो मर गये और अब ये जो बच्चे बचे हैं, ये भगवान के ही दिये हुए हैं। फिर वे दोनों बच्चों को उठा लाये। और भगवान के बच्चों के रूप में दोनों के नाम के साथ—पिता के नाम के स्थान पर सहजानंद स्वामी का नाम—'घनश्याम' लिखने का निश्चय कर लिया। इसी समय पिताजी ने एक नई फर्म खोलने का निश्चय किया। उसका नाम 'जुगल-किशोर घनश्याम लाल' रक्खा गया।

किशोरलाल भाई लिखते हैं कि "मैं बारह वर्ष का हुआ तब तक अलसी की खरीद के समय हमें अकोला आना पड़ता था। अलसी के ढेर पर कूदना हम दोनों भाइयों का प्यारा खेल था। अलसी में हम इतने खेले, फिर भी उसका मेरा ऋणानुबन्ध समाप्त नहीं हुआ। पुल्टिस के रूप में अभी तक मुझे उसे अपने सीने पर लगाना पड़ता है।"

○ ● ○

बचपन के संस्मरण

किशोरलाल भाई ने अपने कुटुम्ब के विषय में 'श्रुतिस्मृति' नाम से एक विवरण सन् १९३० में, जब नासिक-जेल में मैं उनके साथ था, तभी लिखा था। उसमें उन्होंने अपने बचपन के संस्मरण लिखे हैं। ये बातें कुछ लोगों को शायद महत्त्वहीन मालूम पड़ें, परन्तु बालमनोविज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से वे बहुत उपयोगी हो सकती हैं। फिर घर के बड़े-बूढ़ों के मुँह से जान में या अनजान में सहज जो उद्‌गार निकल जाते हैं, अथवा एकाएक कोई आलोचना निकल जाती है, उनका बच्चों के मन पर कैसा असर पड़ता है; वह भी इससे हम जान सकते हैं। बच्चों के प्रति व्यवहार करने में बड़ों को कितना सावधान रहना चाहिए, इसकी चेतावनी भी इन प्रसंगों से हमें मिलती है। निम्नांकित संस्मरण लगभग किशोरलाल भाई की भाषा में ही दिये जा रहे हैं।

(१) उस समय मैं पाँच वर्ष का रहा हूँगा। मेरे बाल बढ़ाये गये थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि मैं बालों में तेल डालकर बालों को थपथपाने तथा बाल सँवारने के लिए माँ से कहा करता था। मुण्डन-संस्कार की भी मुझे अच्छी तरह याद है। ठाकुरजी का चरणामृत मेरे माथे पर डाला गया था और फिर उस्तरे से बाल साफ किये गये थे। ऐसा नहीं लगता कि उसके अलावा और भी कोई विधि की गयी हो।

(२) एक बार 'गोवालिया ग्यारस' के दिन मुझे गोपी या ग्वाला बनाकर मेला देखने भेजा गया था। वह चित्र मेरी आँखों के सामने है। मुझे यह भी याद है कि किस तरह बचपन में मुझे माँ रेशमी लहँगा या कुर्ता पहनाकर उस पर रेशमी रूमाल बाँधकर और सोने के जेवर पहनाकर बालों की माँग काढ़ती और हिंगुल की बिन्दी लगा आँखों में काजल लगाकर जाति की पंक्ति में भोजन करने भेजती थी। परन्तु वहाँ जाना मुझे अच्छा नहीं लगता था। इसलिए न जाने के लिए कुछ हठ करता था, फिर भी अंत में जाना तो पड़ता ही था।

(३) माँ रसोई बनाते-बनाते मुझसे गिनती गिनने के लिए कहती। बम्बई में मेहताजी के स्कूल में मेरा नाम लिखाया था, पर वहाँ जाना मुझे अच्छा

नहीं लगता था। कभी समझा-बुझाकर, तो कभी डरा-धमकाकर माँ मुझे स्कूल भेजती। "आज के दिन मैं स्कूल नहीं जाऊँगा।"—यह मेरा रोज का पहला वाक्य रहता था। तब माँ कहती—"आज के दिन तो चला जा। कल देखेंगे, शायद तेरे भाई छुट्टी दिलवा दें।"

रात को भी हमें गिनती गिननी पड़ती। गिनती पूरी हो जाने के बाद 'चेष्टा' के पद आदि साम्प्रदायिक नित्यपाठ हम बोलने लगते।

(४) बचपन में हम मेहताजी की ग्रामीण पाठशाला में पढ़े। बाद में म्युनिसिपैलिटी के गुजराती स्कूल में हमें भरती करा दिया गया। परन्तु पिताजी और माताजी को ऐसा लगा कि हमें बार-बार अकोला जाना पड़ता है, कुछ पढ़ाई गुजराती में होती है, कुछ मराठी में; यह ठीक नहीं। दोनों की पढ़ाई ठीक से नहीं हो पाती। इसलिए यह निश्चय किया गया कि बम्बई में भी मुझे मराठी ही पढ़ायी जाय। परन्तु यह निश्चय बहुत दिन कायम नहीं रहा। क्योंकि कुछ ही दिन बाद माँ की मृत्यु हो गयी। उसके बाद तो हम बम्बई में ही नानी के या मौसी के घर रहने लगे।

मेहताजी के स्कूल ने मेरे मन में पढ़ाई की ओर से अरुचि पैदा कर दी। उनके पास बेंत की एक छड़ी रहती, जो सिरे पर कुछ लाल रंगी हुई थी। उसका प्रसाद तो मुझे कभी नहीं मिला, परन्तु दूसरे विद्यार्थियों के शरीर पर इसका खुले दिल से प्रयोग किया जाता। कभी-कभी मेरे भी कान उमेठे जाते और एक-आध चाँटा भी रसीद किया जाता। स्कूल की पढ़ाई में मेरी रुचि कम करने के लिए इतना काफी था। मेरे एक ममेरे भाई को मेहताजी का खासा प्रसाद मिलता। मैं किसीको पिटते भी नहीं देख सकता था। मार खानेवाले के रोने से पहले ही मेरी आँखों से आँसू बहने लग जाते, और मारनेवाले के प्रति मेरे मन में डर पैदा हो जाता; फिर भी स्कूल के दूसरे पण्डितों की तुलना में हमारे मेहताजी बड़े गरीब और भले माने जाते थे। मुझ पर उनका प्रेम भी था। मेरे मन में भी उनके प्रति आदर था। इनका स्कूल छोड़ देने के बाद मेरे मन से उनका डर निकल गया।

परन्तु पढ़ाई से अत्यधिक अरुचि तो मेरे मन में अकोला की मराठी शाला ने की। उन दिनों शिक्षकों की आम आदत थी कि वे विद्यार्थियों के लिए अपने

मुँह से भद्दी-भद्दी गालियाँ निकालते। ऐसी गालियाँ सुनकर मेरा दिल काँप उठता। परन्तु गालियों की अपेक्षा मार की मात्रा और भी अधिक थी। एक बार जगुभाई को उनके शिक्षक ने बेंत से पीटा। उससे उनके मन पर ऐसी दहशत बैठ गयी कि वे बुखार लेकर घर लौटे। यह बुखार कई दिन तक नहीं उतरा।

मराठी की तीसरी कक्षा में दाखिल होने के दूसरे या तीसरे दिन शाला में पहुँचने में मुझे देर हो गयी। गुजराती शालाओं में नये विद्यार्थियों को नौ दिन तक नियम-भंग की सजा नहीं दी जाती थी, परन्तु यहाँ हमारा यह अधिकार छिन गया था। सच्ची बात यह थी कि जब तक हमारे यहाँ ठाकुरजी को दूध या चाय का नैवेद्य नहीं लगता, तब तक हमें चाय नहीं मिल सकती थी। जब इसमें देर होती, तो हमारे शाला में जाने में भी स्वभावतः देर हो जाती। एक दिन इस पर शिक्षक ने दाँत पीसकर खूब जोर से मेरे कान उमेठे। इस अनपेक्षित अनुभव से मैं इतना डर गया कि उन्हें मैं देरी का कारण भी न बता सका। शिक्षक को निश्चय हो गया कि अवश्य ही रास्ते में मैं तमाशा देखने में लग गया। इसलिए उसने मुझे फिर डाँटा, कान उमेठे और खड़ा कर दिया। दस बजे मैं घर लौटा, तब तक भी मेरी आँखों के आँसू टूटे नहीं थे। घर पर भी सिवा इसके मैं कुछ नहीं कह सका कि "मैं इस शाला में नहीं जाऊँगा।" पिताजी ने समझा कि मैं ढोंग कर रहा हूँ, इसलिए वे भी चिढ़ गये। मेरे वर्ग में एक पारसी विद्यार्थी था। गुजराती बोलनेवाला यह एकमात्र विद्यार्थी वहाँ था। वह दोपहर में हमारे घर आया और उसने शाला में हुई घटना का सारा हाल मेरे माता-पिता को सुनाया। तब दोपहर में पिताजी मेरे साथ शाला पर आये। उन्होंने शिक्षक को बाहर बुलाकर शायद कुछ कहा और फिर मुझे वर्ग में बैठाकर वापस चले गये। शिक्षक ने अंदर आकर एक दो भद्दी गालियाँ देकर मुझसे कहा—"बाप से फरियाद करता है न ? बाप का डर बता रहा है ? अब तो तुझे पीसकर रख दूंगा, देखता हूँ, अब तेरा बाप मेरा क्या बिगाड़ सकता है ?" शाम को घर लौटने पर मैंने पिताजी से सारी बात कही। माँ खूब गुस्सा हुई। तीसरे दिन फिर देर हो गयी। इसलिए मैंने घर पर ही कह दिया कि "मैं आज शाला में नहीं जाऊँगा", परन्तु पिताजी ने डाँट-डपट कर भेज ही दिया। इस पर शिक्षक ने फिर गालियाँ दीं और पसलियों में घूंसे मारे। घर लौटने

पर मैं वहुत जोर से रोने लगा। पिताजी ने पूछा, परन्तु मैं अवकी वार भी नहीं वता सका। तव फिर उस पारसी विद्यार्थी को वुलाया। उसने जो हुआ था, सो सव वता दिया। इस पर पिताजी हेडमास्टर से जाकर मिले और शिक्षक पर भी खूब विगड़े। मैंने अव जिद पकड़ ली कि मुझे पढ़ाना हो तो घर पर ही पढ़ाइये, नहीं तो मैं नहीं पढ़ूँगा। इसके वाद अकोला की शाला में मैं नहीं गया। वम्वई में भी मुझे मराठी शाला में ही भरती किया। वहाँ के शिक्षक भी कभी-कभी सजा देते। गालियाँ तो रहतीं ही। इस तरह शिक्षा हमें अपमानजनक लगती और गालियाँ तो सहन ही नहीं होती थीं। अंत में माँ की वीमारी वढ़ी और उसकी मृत्यु भी हो गयी। इस कारण शिक्षक और शाला दोनों से छुट्टी मिल गयी।

(५) शिक्षक की भद्दी गालियाँ मुझे सहन नहीं होती थीं, फिर भी गालियों के संस्कार मेरे चित्त पर असर करने लग गये थे।

माँ की मृत्यु के पहले से मुझे कुछ खराव लड़कों की सोहवत लग गयी थी, यह वता देना जरूरी है। इनमें से दो को गन्दी गालियाँ देने की आदत थी। इसके परिणामस्वरूप यद्यपि मुझे जवान से गालियाँ देने की आदत तो नहीं लगी, फिर भी मन ही मन में तो गालियों की आवृत्ति हो ही जाया करती। उनके क्रियात्मक अर्थ में भी उस छोटी उम्र में मेरा प्रवेश होने लगा था। ये कुसंस्कार मेरे वड़े होने तक मुझे तकलीफ देते रहे। इन कुसंस्कारों ने मेरे जीवन में से स्वास्थ्य का आनंद हमेशा के लिए मिटा दिया।

(६) मेरे चाचाजी के एक लड़के को गन्दी गालियाँ वकने की आदत थी। जव मुझे यह मालूम हुआ, तव मेरे मन पर इसका जवरदस्त आघात लगा। स्वामी नारायण के धर्म का पालन करनेवाला ऐसी गन्दी गालियाँ दे सकता है, यह मैं सपने में भी कल्पना नहीं कर सकता था। घर आने पर मैंने उसके वड़े भाई से यह वात कही। इसका परिणाम यह हुआ कि मेरी गिनती चुगलखोरों में हो गयी। मेरी उम्र के इन भाइयों ने मुझे अपने हँसने, खेलने और साथ में घूमने-घामने से अलग कर दिया। कम-अधिक परिमाण में यह वहिष्कार कोई दो वर्ष तक जारी रहा। मुझे खेलना होता, तो मैं केवल अपनी छोटी वहनों के साथ ही खेल सकता था। शरीर से कमजोर और इन सव वहनों में सवसे वड़ा। इसलिए उनके साथ खेलना मुझे वुरा तो नहीं लगता था। परन्तु मैं केवल लड़कियों

के साथ खेलने लायक 'वायला' (जनाना) समझा जाने लगा और वे भाई मुझे ऐसा कहकर चिढ़ाते भी। इस तरह अंत में मैंने उनसे इस आशय के कुछ शब्द कह दिये कि तुम्हें जो बोलना हो सो बोलते रहो, परन्तु मुझे अपने साथ खेलने दो। इस तरह मैं झुक गया। इस सोहबत के उल्टे परिणाम हम सबको भोगने पड़े। हमारे साथ हमारी ही जाति का एक और भी लड़का था। उसकी जबान तो बहुत ही खराब थी। उसके साथ खेलना मेरे लिए बहुत मुश्किल हो जाता।

ऊपर लिखे बहिष्कार से मैं घबड़ा न गया होता, तो मेरा बहुत लाभ होता। इस सोहबत का परिणाम मेरे चित्त पर बहुत ही बुरा हुआ। जो गन्दे शब्द ये भाई केवल एक आदत के रूप में बोलते, वे अपने पूरे अर्थ सहित मेरे दिल में टकराते रहते। और यद्यपि मैंने जबान से तो ऐसे शब्द निकालने की शायद ही कभी हिम्मत की हो, परन्तु मन में तो अनेक बार इनका उच्चारण कर ही लेता और इनके अर्थ में भी मेरा चित्त प्रवेश कर जाता। इसके अलावा भी इस कुसंगति ने मुझे बड़ी तकलीफ दी।

(७) आत्माराम काका को हम 'आतुकाका' कहते। ४९ वर्ष की उम्र में—मेरी माँ की मृत्यु से कुछ ही दिन पहले—उनका देहान्त हुआ। उनका मँझला लड़का गोकुलभाई था। उसे और मुझे उनकी मृत्यु के समय सवेरे से ही किसी मित्र के यहाँ भेज दिया गया। दोपहर के बाद उस मित्र की पत्नी ने गोकुलभाई से कहा कि "तेरे पिताजी मर गये, अब तू घर जा।" यह समाचार सुनकर मुझे बहुत आनंद हुआ और मैं हँसने लगा (उम्र ८ वर्ष), परन्तु गोकुलभाई की आँखों से आँसू बहने लगे। मैंने अभी तक किसी निकट सम्बन्धी की मौत नहीं देखी थी। मृत्यु के विषय में केवल सुना ही था। मेरे आनंद का कारण यह था कि मैंने सुना था कि आदमी जब मरता है, तब भगवान के पास चला जाता है। मेरी यह भी दृढ़ श्रद्धा थी कि सहजानंद स्वामी के उपासक को लेने के लिए स्वयं भगवान आते हैं और अपने धाम ले जाते हैं। इस कारण मुझे अपने मन में मृत्यु विवाह से भी अधिक शुभ लगती। मेरी यह श्रद्धा बहुत बड़ी उम्र तक कायम रही। आतुकाका के कुछ ही दिन बाद मेरी माँ की मृत्यु हुई और पाँच-छह वर्ष बाद जगुभाई की भी मृत्यु हो गयी। उस समय तया

दूसरे सगे-सम्बन्धियों की मृत्यु के समय भी मुझे दुःख नहीं हुआ था। आज भी किसीकी केवल मृत्यु से मुझे बहुत दुःख नहीं होता। मुझे ऐसा याद पड़ता है कि मृत्यु से पहले-पहल मुझे दुःख तब लगा, जब मेरे बहनोई मरे और मेरी बहन विधवा हो गयी (ई० स० १९१३)। उस समय भी दुःख बहनोई की मृत्यु पर नहीं हुआ। उनका कुछ अशुभ हो गया, ऐसा नहीं लग रहा था; परन्तु बहन का अशुभ हो गया, इसका दुःख था। उस समय तो मेरी उम्र २३--२४ वर्ष की थी। मृत्यु का यह पहला आघात मुझे इतने जोर से लगा कि मैं पाँच-छह महीने बीमार रहा और डॉक्टरों को डर हो गया कि मुझे कहीं क्षय न हो जावे।

आतुकाका की मृत्यु के बारे में मुझे जो आनंद हुआ, उसे मैं छिपा नहीं सका। मेरे आनंद से गोकुलभाई को दुःख हुआ। परन्तु मैं उसके रोने का कारण नहीं समझ सका। जिस प्रकार उन दिनों मैं हँसता रहा, उसी प्रकार तीन दिन बाद, जब मेरी माँ की मृत्यु हुई, तब भी मैं हँसता ही रहा। यद्यपि दोनों समय दूसरों के रोने-पीटने को मैं सह नहीं सकता था, उसे देख-सुनकर मेरी आँखों में भी आँसू आ जाते।

(८) ठेठ बचपन से ही स्वाभाविक रीति से मैं 'नानी माँ' के यहाँ जाता रहता था। परन्तु मैं सात-आठ वर्ष का हुआ, तब तक मुझे पता नहीं था कि 'जी' (नानी) रिश्ते में मेरी कौन होती हैं। जब कभी 'जी' के यहाँ जाता, तब उन्हें अकेला और काम-काज करते देखता। इससे मेरे मन में दया आती। अपनी सातवीं वर्षगाँठ के दिन मैं 'जी' को प्रणाम करने गया। 'जी' खाना पका रही थीं या पूजा कर रही थीं। उस दिन मेरे मन में दया का प्रवाह कुछ अधिक जोर से उमड़ा। मैंने कहा--"जी, आपको सारा काम खुद करना पड़ता है। मदद करने-वाला कोई नहीं। हमारे यहाँ दो लड़कियाँ हैं (मेरी छोटी बहनें--एक पाँच वर्ष की और दूसरी तीन वर्ष की), आपके यहाँ एक भी नहीं, सो एक को आप रख लीजिये, तो वह आपकी मदद कर दिया करेगी।" यह सुनकर 'जी' हँसने लगीं। उन्होंने कहा--"हाँ, भाई वे तो जरूर मदद करेंगी। भेज देना। परन्तु उनके बजाय तू ही क्यों नहीं रह जाता?" अब क्या कहता? मैंने दया की तो 'जी' ने परीक्षा कर ली। मैं समझ रहा था कि लड़कियाँ ही इस तरह के घर के कामों में मदद कर सकती हैं। इसलिए मैंने कहा--"मुझे भला यह काम

आ सकता है?" घर लौटने पर मैंने माँ से कहा—"माँ 'जी' के यहाँ एक भी लड़की नहीं है। हमारे यहाँ दो-दो लड़कियाँ हैं। एक लड़की 'जी' को दे दें, तो कैसा रहे?" इस तरह मेरी दया दूसरों से काम करा देने तक ही सीमित थी। परन्तु उस समय यह बात मेरे ध्यान में नहीं आयी। फिर माँ ने पूछा—"मैं 'जी' की कौन हूँ, यह तुझे मालूम है?" मैंने कहा—"नहीं।" तब माँ ने बताया कि मैं तो जी की लड़की हूँ। मेरी माँ-जितनी बड़ी स्त्री किसीकी लड़की हो सकती है, यह बात मुझे बड़ी आश्चर्यजनक लगी। थोड़ी देर बाद मैंने माँ से पूछा—"फिर तू 'जी' के साथ क्यों नहीं रहती?" तब माँ ने कहा—"मैं 'जी' के पास चली जाऊँ, तो तू अकेला रह जायेगा?" यह जरा कठिन बात थी। मैं माँ के साथ जाऊँ, तो पिताजी अकेले रह जावें और पिताजी के साथ रहूँ, तो माँ को छोड़ना पड़े। परन्तु उस वक्त यह बात नहीं सूझी कि सब लोग एक साथ क्यों न रहें? कोई मार्ग नहीं सूझ पड़ा, इसलिए 'जी' के प्रति मेरी करुणा वहीं शान्त हो गयी। परन्तु 'जी' के साथ का रिश्ता तो मालूम हो गया।

(९) माँ के मरने के बाद मुझे कई बार मौसी के घर या 'जी' के घर रहना और खाना पड़ता। 'जी' हमेशा आग्रह करके एक-दो रोटी अधिक खिलातीं। हमारी मान्यता थी कि 'जी' के हाथ की रोटियाँ चाहे कितनी ही खा लें, तो भी हजम हो जाती हैं। यह बात भी सही है कि मौसी के या 'जी' के घर हम कभी बीमार नहीं पड़े, यद्यपि 'जी' के यहाँ उनके आग्रह से और मौसी के घर बराबरी के लड़के से होड़ लगाकर मौसी की रोटी खतम करने बैठ जाते और खूब खा जाते। अधिक खा जाने का एक कारण शायद यह भी था कि वहाँ प्रसाद की ऐसी भरती नहीं होती थी। हमारे घर पर तो प्रसाद के निमित्त से लगभग दिनभर हमारी मुँह की चक्की चलती ही रहती और वह आरोग्य के लिए बाधक होती।

(१०) बचपन से हमें माला फेरने और पूजा-पाठ करने की आदत थी। 'जी' की बहन के यहाँ सबको इस पर आश्चर्य होता। हर कोई पूछता—"अरे अभी से माला फेर रहा है? माला तो बुढ़ापे में फेरी जाती है। कितनी मालाएँ रोज फेरता है?" ऐसे प्रश्न कई बार पूछे गये होंगे। इनके जवाब में हम—अर्थात् जगुभाई और मैं—कहते "कहीं बचपन में ही मर गये, तो फिर बुढ़ापे में माला कैसे फेर सकेंगे?" हमारे मुँह से मरने की बात बार-बार सुनकर ये

लोग बड़े चिढ़ते। वे कहते—"मरने की बातें क्यों करते हो?" उन्हें और अधिक चिढ़ाने के लिए कई बार हम कहते कि हम तो जल्दी मरनेवाले हैं।

(११) 'जी' के यहाँ जानू नाम का एक पहाड़ी था। वह उन्हींके यहाँ नौकरी करते-करते बूढ़ा हो गया था। उससे हम खूब कहानियाँ सुनते। महाराष्ट्र के साधु-सन्तों, कृष्ण की बाल-लीला आदि की बातें वह बड़े मनोरंजक ढंग से कहता।

(१२) स्त्रियों और खास तौर पर भाभियों के प्रति अरुचि प्रकट करना मैं ठेठ बचपन से सीख गया था। घर का सारा काम करना तथा बड़ी स्त्रियों की सेवा करना भाभियों का परम धर्म है, ऐसा मैं मानता था। जो भाभियाँ अपने इस परम धर्म का पालन करने में आना-कानी करती मुझे दिखाई देतीं, उन्हें सजा देकर रास्ते पर लाना एक देवर की हैसियत से मेरा परम धर्म है—ऐसा मैं मानता था।

(१३) भोजन के समय उंगलियाँ खराब न होने पायें, इसलिए मैं दाल चावल खाता ही नहीं था। रोटी भी दाल में उतनी ही डुबाता, जिससे उंगलियों में दाल न लगने पायें। काफी बड़ा होने तक अपने हाथ से खाना नहीं खाता था। पिताजी या नौकर खिलाते, तब खाता। ऐसे खेल भी पसन्द नहीं करता था, जो कपड़े बिगाड़नेवाले होते थे।

(१४) मौसी के यहाँ हम रहते थे, तब एक बार होली की लीला देखने के लिए हम हवेली (मंदिर) पर गये थे। लाल बाबा की हवेली में मैंने जो बीभत्स घटनाएँ देखीं, उनसे मेरे मन पर ऐसा भारी आघात पहुँचा कि उन मंदिरों और उनके भक्तों पर से मेरी श्रद्धा एकदम उठ गयी। उसके बाद मैंने लालजी की हवेली में कभी कदम नहीं रखा।

(१५) हम अंग्रेजी स्कूल में पढ़ते, तब हमें दोपहर में जलपान करने के लिए दो-दो पैसे मिलते थे। इन पैसों को खर्च करने के बजाय हम इनमें से कुछ बचा लेते। इस बचत में से हमने एक-एक शिक्षापत्री (स्वामी नारायण-सम्प्रदाय का एक बोधग्रन्थ), एक रंगों की पेटी (वॉटर कलर बॉक्स), एक एटलस, तोते के लिए एक पिंजड़ा, हॉलोवे के पशुपक्षी के चित्रों का एक पैकेट—ये चीजें ख़रीदी थीं; ऐसा याद आ रहा है। बालूभाई (सबसे बड़े भाई) को यह

पसन्द नहीं था। उनकी राय यह थी कि तुम्हें खाने की जरूरत रहती है, इसलिए ये पैसे दिये जाते हैं। इसमें से बचत करना ठीक नहीं है। अगर तुम्हें खाने की जरूरत नहीं हो, तो पैसे लेने ही नहीं चाहिए। फिर बचे हुए पैसों से भी बगैर इजाजत के तुम्हें कुछ नहीं खरीदना चाहिए। किन्तु हम तो समझते थे कि दो पैसे लेने और उनका जिस तरह हम चाहें उपभोग करने में हमें रूढ़ि-प्राप्त अधिकार है।

(१६) मोटा बापा (ताऊ) के साथ की एक घटना मुझे याद रह गयी है। जगुभाई और मैं मलाड में उनके यहाँ रहता था। हमारा कांदावाड़ीवाला मकान कर्ज करके खरीदा गया था। मैं इतना समझने लग गया था कि भाई तथा बालूभाई को इस कर्ज की चिन्ता रहा करती है। मोटा बापा भी मलाड में बँगला बनवा रहे थे। शायद इसमें भी उनका अन्दाज से अधिक खर्च हो गया या कर्ज लेना पड़ा। इस कारण उनको भी चिन्ता रहा करती। एक दिन चाय पीते समय मोटा बापा ने कुछ उद्‌गार प्रकट किये। बड़ों के बीच में बोलने की बुरी आदत मुझे थी। उसके अनुसार मैंने भी कहा—"देखिये न, भाई (पिताजी) को भी मकान के बारे में चिन्ता करनी पड़ती है।" इस पर मोटा बापा ने कहा—"मैं आधा मूर्ख हूँ और तेरा 'भाई' पूरा मूर्ख है।" 'भाई' के विषय में इस तरह तूकारात्मक और अपमानभरी भाषा सुनकर मैं वहाँ से चुपचाप उठ गया। थोड़ी देर बाद जगुभाई और मैं घूमने गया। मेरे मन में यह बात घूम ही रही थी। इसलिए मैंने कहा—"मोटे बापा 'भाई' के बारे में कैसा खराब बोले!" इस पर जगुभाई ने कहा—"तू तो पागल है। इसमें क्या हो गया? मोटा बापा तो 'भाई' के बारे में ऐसा कह सकते हैं। क्योंकि वे 'भाई' के बड़े भाई हैं। इसमें कोई गाली देने का हेतु थोड़े ही था! बालूभाई या मैं क्या तुझे मूर्ख नहीं कहता?" मैं इतना तो जानता था कि मोटा बापा हमारे ताऊ होते हैं। परन्तु यह दर्शन नहीं हुआ था कि भाई से उनका सम्बन्ध इतना ही निकट का है, जैसा मेरा और बालूभाई या जगुभाई का है। जगुभाई की दलील मैं समझ गया। फिर भी मेरी तब की समझ के अनुसार भाई को दी गयी गाली का दुःख मेरे दिल पर बहुत दिन तक रहा। कल्पना से बहुत पहले ही हम मलाड से बम्बई चले गये। इस कारण यह घटना मेरी स्मृति में रह गयी।

बाद में मेरे मन में इस बात का कोई असर नहीं रहा। हम कई बार मलाड में रहने के लिए जाते। उस समय मेरी उम्र ग्यारह वर्ष की रही होगी।

(१७) मोटा बापा कुछ समय जाति के पटेल भी रहे। इस कारण उनके छोटे-बड़े कई शत्रु भी हो गये थे। मशरूवाला-परिवार बड़ा था। फिर पुरानी बम्बईवालों का उन्हें अच्छा समर्थन होने के कारण मोटा बापा का पक्ष जाति में अच्छी तरह सफल होता रहता। परन्तु मुझे याद नहीं कि इससे लाभ उठाकर उन्होंने कभी अपना कदम पीछे हटाया हो अथवा किसीको तंग किया हो।

(१८) संवत् १९६० की बात है। बिरादरी में कहीं जीमने जाना था। फागुन का महीना था। जगुभाई को और मुझे बिरादरी में कहीं जाना अच्छा नहीं लगता था। बहुत आग्रह करने पर कभी कहीं जाते। परन्तु उस दिन बगैर अधिक आग्रह के जगुभाई जाने के लिए तैयार हो गये। उन दिनों लड़के भी जेवर पहनकर जीमने जाते। उस दिन जगुभाई जरा बन-ठनकर 'जी' के घर से रवाना हुए। 'जी' के घर के नीचे ही गांधी की दूकान के चबूतरे पर एक बेंच पर बैठ गये और दूसरे लड़कों की राह देखने लगे। दूकान के आदमी परिचित थे। एक ने पूछा—"ओहो जगुभाई, आज तो तू खाना खाने जा रहा है! अब तेरी शादी कब हो रही है।" जगुभाई ने कहा—"मैं अपनी शादी में ही तो जा रहा हूँ।" उसने कहा—"अच्छा! किससे शादी हो रही है?" जगुभाई ने कहा—"चितागौरी के साथ।" इस पर वह आदमी चिढ़ गया। खाना खाकर लौटते ही जगुभाई हमारे घर पर सोने चले गये। उस समय बम्बई में बड़े जोरों का प्लेग फैला था। मैं मौसी के घर सोया था। संभव है कि हमारे घर में रोग की छूत आ गयी हो, इसलिए जगुभाई का घर पर सोना खतरनाक साबित हुआ। कुछ समय से व्यायाम आदि करके जगुभाई ने अपना शरीर अच्छा बना लिया था। बचपन में वे रोगी रहते थे। उन्हें पढ़ने-लिखने का भी कोई खास शौक नहीं था। परन्तु पिछले एक वर्ष में वे बिलकुल बदल गये थे। डेढ़ महीने में छह महीने की पढ़ाई करके मैट्रिक के दर्जे में भरती हो गये थे।

सवेरे उठकर मैं घर पर गया और देखा तो जगुभाई बुखार में पड़े हैं। नानाभाई उनकी शुश्रूषा कर रहे थे। नानाभाई ने और मैंने निश्चय किया कि

जगुभाई को मौसी के घर ले जाना चाहिए। वहाँ जाकर डॉक्टर को बुलाया। दवा दी गयी, उलटियाँ भी हुईं। रात को फिर डॉक्टर को बुलाया। उसने एनिमा दिया। जितना पानी दिया गया था, वह बाहर भी नहीं निकल सका। उस समय एनिमा एक नई चीज थी और लोग मानते थे कि यह एक राक्षसी उपाय है। जब बीमारी बहुत ही गंभीर होती है, तभी एनिमा दिया जाता है—ऐसा भी एक वहम लोगों में था। डॉक्टर ने कहा कि प्लेग की आशंका है और पिताजी को तार करने की सलाह दी। तार मिलते ही पिताजी अकोला से रवाना हो गये। मौसी ने जगुभाई की खूब सेवा-शुश्रूषा की। चार-पाँच दिन में डॉक्टरों और दवाओं पर कोई तीन सौ रुपये खर्च हो गये। परन्तु यह सब बेकार साबित हुआ। संवत् १९६०, फागुन वदी दशमी के दिन शुक्रवार को दोपहर के तीन बजे जगुभाई के प्राण-पखेरू उड़ गये। उस समय वे अपना सत्रहवाँ वर्ष पूरा करने को थे।

उनकी मृत्यु से दो-तीन घण्टे पहले मैं उन्हें देखकर आया था। तब वे होश में थे, परन्तु बोल नहीं सकते थे। दाहिना हाथ भुजा के नीचे से सूज गया था। अपनी पूजा की मूर्ति (मणियों के स्टैण्ड पर रखी सहजानन्द स्वामी की मूर्ति) पर उनकी नजर गड़ी हुई थी। उसके चरण छूना चाहते थे। परन्तु दाहिना हाथ उठाने की शक्ति नहीं थी। पिताजी ने कहा कि बायें हाथ से चरण-स्पर्श करने में भी कोई हर्ज नहीं है। तब बायें हाथ से चरण-स्पर्श करके प्रणाम किया। साधु-ब्रह्मचारियों को भी बुलाया गया था। बायें हाथ से ही उन्हें भी प्रणाम किया और धोतियाँ अर्पित कीं। यह सब देखकर मुझे लगा कि यह मृत्यु पवित्र है, इसके बाद मुझे 'जी' के घर भेज दिया गया। हाँ, उन्हें स्मशान ले जाने से पहले नानाभाई ने आकर हमें उनकी मृत्यु के समाचार सुना दिये थे। अपनी समझ के अनुसार यह सुनकर मुझे खुशी हुई। मुझे लगा कि भाई भगवान के घर चले गये और सुखी हो गये। परन्तु दूसरे बच्चे अपने स्वभाव के अनुरूप बहुत रोये। जमना बहन ने मेरी प्रसन्नता पर मुझे फटकारा। अपनी बुद्धि के अनुसार मैंने उसे अपनी श्रद्धा समझायी। मेरी श्रद्धा को बुद्धि से तो वे मान्य कर सकीं, परन्तु हृदय से नहीं। भाई जैसा भाई चला गया और उसकी मृत्यु पर भी मुझे दुःख नहीं हो रहा है—यह देखकर

उसे आश्चर्य हो रहा था। परन्तु मुझे तो—यह भाई ईश्वर के धाम में गया है—इतना ध्रुव और निश्चित सत्य लग रहा था, मानो मैं उसे स्वयं ले जाकर वहाँ छोड़ आया था। स्नान करने के बाद शाम को हम बच्चों ने जितने भजन और आरतियाँ हमें जबानी याद थीं, सब गायीं।

दूसरे दिन पिताजी तथा बालूभाई के साथ मैं अकोला गया। जून महीने में मैं अकोला से बम्बई वापिस आया। रेल में भी अकेले आना पड़ा और शाला में पढ़ने के लिए भी अकेले ही जाना पड़ा। मृत्यु के दर्शन से और वह विलाप सुनकर जो वेदना उस समय नहीं हुई थी, वह अब शाला में अकेले जाने-आने में होने लगी। अब मुझे प्रत्यक्ष भान होने लगा कि मैं सचमुच अकेला रह गया। जगुभाई का नाम जुगल था और मेरा नाम किशोर। सब रिश्तेदार जुगल-किशोर की जोड़ी कहकर पुकारते। अब यह जोड़ी टूट गयी—ऐसा भी बार-बार कहते। शाला जाते समय जोड़ी टूटने का भान मुझे भी हुआ और जुगलभाई के वियोग पर पहली बार आँखों में आँसू आये।

● ● ●

विद्याभ्यास : ६ :

हम देख चुके हैं कि किशोरलाल भाई की प्राथमिक शिक्षा अनेक भिन्न-भिन्न शालाओं में हुई। पिताजी को वर्ष में छह महीने अकोला में और छह महीने वम्बई में रहना पड़ता था। इसलिए किशोरलाल भाई को वर्ष में दो शालाएँ वदलनी पड़ती थीं। फिर वम्बई में हमेशा उसी शाला में उन्हें प्रवेश नहीं मिल पाता था। माताजी के देहान्त के वाद शालाओं में कुछ स्थिरता आ सकी। फिर भी अंग्रेजी की पाँचवी कक्षा के वाद ही शालान्तर किये वगैर उनकी पढ़ाई हो सकी।

प्राथमिक शिक्षा पूरी होने पर उन्हें न्यू हाईस्कूल की पहली एलिमेंटरी में भरती करवाया गया। यहाँ पर उन्हें दो आजीवन मित्र मिले—मंगलदास विट्ठलदास देसाई तथा उनके छोटे भाई गोरधनदास। तीनों एक ही कक्षा में थे। मंगलदास पढ़ने में वहुत तेज थे। कक्षा में उनका नंबर पहला-दूसरा रहता। गोरधनदास का भी चौथा-पाँचवा नम्वर रहता। किशोरलाल भाई ने लिखा है—"पढ़ने में ऊँचा नम्वर लेने की इच्छा मुझे सदा रहती, परन्तु मैं दस से ऊपर शायद ही कभी आ सका। मेरा नम्वर प्रायः दस और वीस के वीच रहता। इस कारण मंगलदास और गोरधनदास मेरे लिए उपास्य विद्यार्थी थे। परन्तु हमारे वीच गाढ़ी मित्रता होने का कारण तो दूसरा ही था।"—यह हम अगले प्रकरण में देखेंगे।

अंग्रेजी की तीसरी कक्षा पास करने तक जगुभाई और किशोरलाल भाई न्यू हाईस्कूल में पढ़े। न्यू हाईस्कूल की अपेक्षा गोकुलदास तेजपाल हाईस्कूल में फीस कुछ कम थी। उस समय यह कुटुम्व वड़े आर्थिक संकट में था। इसलिए वड़ों ने इन दोनों भाइयों को गोकुलदास तेजपाल हाईस्कूल में भेजने का निश्चय किया। किशोरलाल भाई कहते हैं कि "न्यू हाईस्कूल छोड़ते समय मुझे अतिशय दुःख हुआ। इस स्कूल के प्रति मेरे मन में अतिशय आदर और भक्ति थी। इस दुःख का एक अन्य कारण प्रिय मित्रों का वियोग भी था।" उस समय न्यू हाईस्कूल वम्वई के अच्छे-से-अच्छे हाईस्कूलों में गिना जाता था। उसके दो

प्रिन्सिपल मर्जवान और भरड़ा वहुत विख्यात शिक्षक थे। नीचे की कक्षाओं के वर्ग भी वे लेते। गो० ते० हाईस्कूल में किशोरलाल भाई केवल दो ही महीने पढ़े। उस समय उन्हें मलेरिया वुखार आने लग गया था, इसलिए वालूभाई इन्हें अपने साथ आगरा ले गये। वहाँ उन्हें सेन्ट जान्स कॉलेजियेट स्कूल में भरती कराया गया वहाँ चौथी और पाँचवीं कक्षा पास की। आगरा में हिन्दी के अतिरिक्त कुछ उर्दू भी पढ़ी। वम्वई लौटने पर एस्प्लेनेड हाईस्कूल की अंग्रेजी की पाँचवीं जूनियर कक्षा में भरती हुए। दो महीने वाद वहाँ के प्रिन्सिपल ने इनकी योग्यता देखकर इन्हें सीनियर वर्ग में ले लिया। इस तरह एक सत्र की वचत हो जाने से मैट्रिक के लिए पूरा एक वर्ष वच गया। नवम्वर १९०५ में वे मैट्रिक पास हुए। वर्ष वचाने के लोभ से मंगलदास गोरधनदास तथा अन्य कितने ही विद्यार्थी न्यू हाईस्कूल छोड़कर एस्प्लेनेड हाईस्कूल में आकर अंग्रेजी छठी में भरती हो गये। तव से लेकर एल-एल० वी० तक किशोर-लाल भाई और मंगलदास ने साथ-साथ ही अध्ययन किया। एस्प्लेनेड हाईस्कूल का ध्येय-मंत्र Perseverance (निरन्तर प्रयत्न) था। किशोरलाल भाई कहते हैं कि शाला के इस ध्येय-मंत्र को मैंने दिल से अपना लिया था।

मैट्रिक कर लेने के वाद वे विल्सन कॉलेज में भरती हुए। यह कॉलेज पसन्द करने का केवल एक कारण था—वह यह कि वहाँ छात्रवृत्ति मिलने की कुछ आशा थी। जाति के कोष से छात्रवृत्ति प्राप्त करने के लिए भी उन्होंने अर्जी दे दी थी और २५) मासिक की छात्रवृत्ति उन्हें मिल भी गयी। परन्तु जाति की छात्र-वृत्ति लेने में हमारी कुछ हेठी है—ऐसा कुटुम्ब में सवको लग रहा था। इसलिए दो महीने वाद जाति की छात्रवृत्ति लेना उन्होंने वन्द कर दिया। उन्हें कॉलेज की छात्रवृत्ति मिल गयी। यदि वह न मिली होती, तो कुटुम्ब की स्थिति ऐसी नहीं थी कि वे अपनी पढ़ाई जारी रख सकते; तव तो शायद कहीं नौकरी ढूँढ़नी पड़ती।

किशोरलाल भाई कहते थे कि कॉलेज में उन पर वाइवल के नये करार तथा मिशनरी प्रोफेसरों के व्याख्यानों का काफी असर पड़ा। संस्कृत के अध्यापक भडकमकर के प्रति उनके मन में सवसे अधिक पूज्य भाव था। दूसरे अध्यापकों का भी उन पर प्रेम था। अपनी कॉलेज की पढ़ाई के वारे में किशोरलाल भाई लिखते हैं :

"शाला में मैं शायद ही कभी दसवें नम्बर से ऊपर गया हूँगा। परन्तु कॉलिज में मैं दूसरी या पहली श्रेणी में ही आता। इसका मुझे आश्चर्य होता। इंटर में मैं पहली श्रेणी में पास हुआ और अपने कॉलिज में मेरा नम्बर पहला था। इसी प्रकार एल-एल० बी० के दूसरे वर्ष में भी मैं पहली श्रेणी में ही पास हुआ। पहले वर्ष में एक विद्यार्थी के साथ मैंने पढ़ने में खूब होड़ की थी। उसके बाद की किसी परीक्षा के लिए मैंने इतनी मेहनत नहीं की थी—ऐसा लगता है। परन्तु बाद की परीक्षा का परिणाम अधिक अच्छा रहा। इसका कारण यह मालूम होता है कि इंटर में मुझे पढ़ने की सही पद्धति सूझ गयी थी। लॉ-प्रीवियस में जिस विद्यार्थी के साथ मेरी और मंगलदास की होड़ लगती थी, उसे अपने परिश्रम की तुलना में कभी फल नहीं मिला; क्योंकि उसकी पद्धति ही गलत थी। उसकी आदत थी, विषयों की बार-बार आवृत्ति करना, अर्थात् पाठ्य पुस्तकें बार-बार पढ़ना। प्रीवियस में हमने उसीका अनुकरण किया था। परन्तु इण्टर के बाद हमने अभ्यास की पद्धति एकदम बदल दी। हमने इस तरह पढ़ना शुरू किया कि विषय की भाषा भले ही जबान पर न आये, परन्तु विषय को बुद्धि अच्छी तरह समझ ले। सामान्यतः किसी चीज को मुखाग्र करने में मैं बड़ा कच्चा हूँ। भजनों को छोड़कर शायद ही किसी विषय की लगातार चार-छह पंक्तियाँ मुझे याद होंगी। गद्य तो जरा भी याद नहीं रहता। इस कारण यह बात सही है कि भाषा पर मेरा बहुत प्रभुत्व नहीं है; परन्तु विषय की तह में उतरकर उसका पृथक्करण करके उसे बुद्धि द्वारा अच्छी तरह समझ लेने की मुझे टेव है। इस कारण तुलना में कम श्रम उठाकर मैं पढ़ाई कर सकता था—ऐसा मेरा खयाल था। जब तक केवल परीक्षा ही ध्येय था, तब तक विषय का प्रतिपाद्य क्या है—यह इस तरह समझ लिया करता। बाद में खयाल आया कि अमुक विषय में लेखक का अभिप्राय क्या है—केवल इतना ही जान लेना काफी नहीं। यह तो पोथी-पाण्डित्य हुआ। असल में यह समझ लेना जरूरी है कि किस मनोदशा के परिणामस्वरूप अथवा जीवन की किस बुनियाद को स्वीकार करने पर हम इस अभिप्राय पर पहुँचते हैं—यह भी खोज करके हर बात को समझ लेने की जरूरत है। इससे हम किसी अनिरूपित विषय पर भी लेखक के विचारों का पता लगा सकते हैं। इसके अतिरिक्त उसने जिस चीज को मूल समझकर पकड़ रखा है,

वह सही है या गलत, यह जान लेने के कारण हम फिर यह भी समझ सकते हैं कि उसके अभिप्रायों में विचार-शुद्धि अथवा विचार-दोष कहाँ तक है। हाँ, यह तो निश्चित है कि जिसे स्वतंत्र रूप से विचार करने की आदत है अथवा जिसे अपने लिए विचार की कोई निश्चित दृष्टि मिल गयी है, वही यह कर सकता है।"

सन् १९४९ में किसीने किशोरलाल भाई से पूछा कि "जिन्दगीभर से यह दमे की वीमारी आपके पीछे लग गयी है, फिर भी आप काम कर सकते हैं और वुद्धि की तेजस्विता कायम रख सकते हैं; इसका रहस्य क्या है ? आप किस चीज का पालन करते हैं, जिससे यह संभव हुआ है।" इसका उन्होंने निम्नलिखित उत्तर दिया है। अध्ययन करने की अपनी जिस पद्धति का उन्होंने ऊपर उल्लेख किया है, उसके साथ इसकी तुलना देखने योग्य है :

"जिसे लोग मेरी वुद्धि की तेजस्विता या कुशाग्रता समझते हैं, वास्तव में वह तेजस्विता है ही नहीं। मेरे विषय में यह एक निरा भ्रम है। मैं वुद्धिवादी हूँ—इस तरह मेरी व्याजस्तुति भी की जाती है। परन्तु वस्तुतः मैं वहुत वुद्धिमान नहीं हूँ। सीधी-सादी वातों में मेरी वुद्धि जरूर काम करती है। परन्तु राजनीति में, कूटनीति में, अंकों और शास्त्रीय शोधों की गुत्थियों में, शास्त्रों और साहित्य के अर्थ लगाने में, काव्यकला आदि की खूवियों की जाँच में—ऐसे-ऐसे अटपटे विषयों में मेरी वुद्धि वहुत कम अथवा धीरे-धीरे चलती है। मेरा खयाल है कि मेरे भीतर कोई असामान्यता नहीं है। यह मेरे किसी विशिष्ट आहार-विहार के कारण भी नहीं है। मैं एक ऐसे कारीगर के समान हूँ, जो केवल अपनी नजर से सीधे-टेढ़े की पहचान नहीं कर सकता, वल्कि हाथ में फुट-पट्टी लेकर ही यह देख सकता है। परन्तु हाँ, वह फुट-पट्टी सही हो।

"जिसे लोग मेरी वुद्धि की सूक्ष्मता अथवा कुशाग्रता समझते हैं, वास्तव में वह मेरी वुद्धि की सूक्ष्मता नहीं है, वल्कि मुझे सद्भाव की एक सही-सही फुट-पट्टी मिल गयी है, उसके उपयोग के कारण हैं। जिसे आप मेरी वुद्धि की विशेषता समझते हैं, उसे अगर सूक्ष्मता से देखेंगे, तो उसके अन्दर आपको अंत में सहृदयता, नीति के प्रति आदर और अनीति तथा संकीर्णता—तंग-दिली—के प्रति असहिष्णुता ही मिलेगी।

"वस्तुतः मैं ज्ञान का उपासक हूँ। इसलिए उसे यहाँ-वहाँ सर्वत्र ढूंढ़ता रहता

हूँ; परन्तु मैं बुद्धिमान पंडित नहीं हूँ। भक्ति मुझमें स्वभाव से ही है। इसलिए मुझमें उसका बाह्य स्वरूप अथवा कोई खास उपासना नहीं दिखाई देती। इस कारण मुझे लोग बुद्धिवादी समझ लेते हैं।

"यह बात मैं झूठी नम्रता से नहीं कह रहा हूँ। अपनी वास्तविक योग्यता से कम बताना सत्य की उपासना में शोभा नहीं दे सकता। इसलिए अपने बारे म मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह सही है—ऐसा ही समझें।"

किशोरलाल भाई के भतीजे भाई नीलकण्ठ ने उनके कितने ही संस्मरण मुझे लिख भेजे हैं। उनमें वे लिखते हैं:

"पूज्य काकाजी का सबसे पहला संस्मरण तब का है, जब वे बम्बई में कांदा-वाड़ीवाले मकान में रहते थे। उस समय वे किशोर थे। विल्सन कॉलेज में पढ़ते थे। उन्हें सादी किन्तु व्यवस्थित पोशाक पहनने की शुरू से ही आदत थी। सफेद लम्बी पतलून, लम्बा पारसी कोट, बंगलोरी टोपी तथा बूट-मोजे। इकहरे शरीर पर इस पोशाकवाली उनकी मूर्ति आज भी मेरी आँखों के सामने खड़ी हो जाती है। वे वकील हो गये और अकोला में वकालत करने लगे। बल्कि १९१७ में आश्रम में गये तब तक भी वे यही पोशाक पहनते थे। इसी तरह की व्यवस्थित पोशाक हम बच्चों—मुझे तथा मेरे भाई-बहनों—को भी पहननी चाहिए—ऐसा उनका आग्रह था। कोई भी बच्चा बगैर कुरता पहने अथवा बगैर लड़की फ्रॉक पहने घूमे, इसे वे पसन्द नहीं करते।

"मेज के सामने कुरसी पर बैठकर अथवा बरामदे में टहलते हुए जोर से शुद्ध उच्चारण करते हुए वे पढ़ते। वे हमेशा कहते कि जोर से पढ़ने से हमारा ध्यान उसीमें रहता है और पढ़ी हुई चीज याद भी रह जाती है। अपने कमरे में वे कभी-कभी अकेले मानो भाषण करते अथवा धीरे-धीरे प्रवचन देते। मुझे याद है कि एक बार केवल अंग्रेजी वर्णमाला के 'ए' से लेकर 'जेड' तक के अक्षरों को भिन्न-भिन्न भावों के अनुसार उन्होंने इस तरह न्यूनाधिक भार देकर बोलना शुरू किया, मानो कोई भाषण कर रहे हों। यह सुनकर पड़ोस के कई मित्र समझे कि सचमुच कोई भाषण हो रहा है और उसे सुनने के लिए एकत्र हो गये। करीब पाँच-सात मिनट तक उनका यह भाषण जारी रहा। फिर पूछने लगे—"क्यों भाषण कैसा रहा?" और वे स्वयं तथा दूसरे भी हँसने लग गये।

"कांदावाडी के मकान की दूसरी वात मुझे जो याद आ रही है, वह है वहाँ की चर्चा का वातावरण। हमारे कुटुम्ब में दो पक्ष थे। एक का झुकाव तिलक की ओर था तथा दूसरे का गोखले की ओर। मेरे पिताजी गोखले का पक्ष लेते, तो मेरे ताऊजी तिलक के विचारों को पसन्द करते थे। पू० किशोरलाल काका का झुकाव पहले से गोखले की ओर था। परन्तु वाद में स्थिति पलट गयी। फिर हमारे घर में तिलक या गोखले के प्रति विशेष आग्रह नहीं रहा। तीनों भाई दोनों नेताओं को आदर की दृष्टि से देखने लग गये। इससे पहले भी उनके मन में किसी भी नेता के प्रति कड़वाहट तो नहीं ही थी। परन्तु पीछे तो उनके प्रति समभाव उत्पन्न हो गया। तीनों भाइयों ने पहले से ही राष्ट्रीय कार्यों में रस लिया। परन्तु ज्यों-ज्यों वापूजी के साथ सम्वन्ध वढ़ता गया, त्यों-त्यों तीनों ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उनका काम किया। सारे घर का वातावरण उससे भर गया।

"इंग्लैंड की पार्लमेंट के विवरण भी समाचार-पत्रों में आते। उन पर भी हमारे घर में वातचीत तथा चर्चाएँ होतीं। पड़ोस के मित्र भी इन चर्चाओं में भाग लेते। लिवरल, कन्जरवेटिव, ग्लैडस्टन, चर्चिल इत्यादि शव्द मैं समझ तो नहीं सकता था, परन्तु इनके उच्चारणों को मैंने तभी से पकड़ लिया। चर्चाएँ गुजराती में और अंग्रेजी में भी चलतीं। हमारा कुटुम्ब स्वामी नारायण-संप्रदाय को मानता था। दूसरे कितने ही मित्र आर्यसमाज को माननेवाले थे; अथवा धर्म के विषय में उदासीन थे। पू० किशोरलाल काका को वे पुराने विचारवाले मानते या पता नहीं क्यों उनके मित्र उन्हें 'भद्र भद्र' कहते। वाद में उन्हें वे केवल 'श्री' कहकर पुकारने लगे।

"स्वामी नारायण के मंदिर में दर्शन के लिए जाने का नियम हमारे घर में था। किशोरलाल काका वम्वई में कॉलेज में पढ़ते समय तथा उसके वाद भी वहुत दिनों तक इस नियम का पालन वरावर करते थे। सन् १९१०–११ में मैं और काकाजी पू० दादा के साथ वडताल में कितने ही दिन तक साथ-साथ रहे। उन दिनों स्वामी नारायण के प्रसाद से अनुगृहीत प्रत्येक स्थान उन्होंने मुझे साथ ले जाकर वताया और प्रत्येक स्थान पर महाराज ने क्या प्रसंगलीला की—यह भी सुनाया। पूरे भक्तिभाव के साथ उन्होंने यह सारा वर्णन किया।"

अब हम प्रस्तुत विषय पर फिर आयें। ऐच्छिक विषय के रूप में पदार्थ-विज्ञान (फिजिक्स) तथा रसायनशास्त्र (केमिस्ट्री) लेकर किशोरलाल भाई ने नवम्बर १९०९ में बी० ए० किया। सन् १९१३ के जून-जुलाई में उन्होंने वकालत पास की। बी० ए० पास करने के बाद एल-एल० बी० पास करने में देर लगने का कारण यह था कि उनकी छोटी बहन गिरिजा उर्फ रमणलक्ष्मी विधवा हो गयी। इसका इनके शरीर पर बहुत असर हुआ। वे इसके कारण लगभग आठ महीने बीमार रहे। उन्हें मंद ज्वर तथा खाँसी आती रही। डॉक्टरों को भय हो गया कि इसमें से कहीं क्षय न पैदा हो जाय। इसलिए एल-एल० बी० के दूसरे वर्ष की परीक्षा देने का विचार परीक्षा के दो महीने पहले छोड़ देना पड़ा। कमजोरी बढ़ती ही जा रही थी। हवा बदलने के लिए जलगाँव, अकोला आदि स्थानों पर गये, परन्तु कोई फल नहीं निकला। अंत में वडताल गये। वहाँ एक वैद्य का इलाज किया। उसने सवा महीने तक दूध और गन्ने का प्रयोग किया। इससे बुखार और खाँसी दोनों चले गये।

एल-एल० बी० की शर्तें पूरी कर रहे थे, इसी बीच उन्होंने १९१० के मार्च महीने में मेहता और दलपतराम सॉलिसिटर्स की फर्म में आर्टिकल्ड का काम ले लिया। इस फर्म के वे पहले ही आर्टिकल्ड क्लर्क थे। इसलिए दोनों सॉलिसिटर्स उनकी ओर पूरा ध्यान देते और काम-काज सिखाने में खूब परिश्रम करते। उन्हें मैनेजिंग क्लर्क का काम भी सौंप दिया गया। किशोरलाल भाई लिखते हैं :

"मेहता सेठ कड़े मिजाज के आदमी माने जाते थे। एक एफिडेविट लिखने में मैंने भूल कर दी। दो मुकदमों में लगभग एक-से नाम थे। गफलत से दूसरा ही नाम इस एफिडेविट में लिख दिया। ऐसी गफलत सॉलिसिटर्स के धन्धे में कभी नहीं चल सकती। इस विषय में उन्होंने मुझे इतना कड़ा उलहना दिया कि तीन घण्टे तक मैं अपना रोना रोक नहीं सका था। उन्होंने मुझे यह काम सिखाने में जो परिश्रम किया, वह आगे चलकर वकालत के धन्धे में मेरे लिए बहुत मददगार साबित हुआ।"

मार्च १९१३ में आर्टिकल्ड क्लर्क की हैसियत से सॉलिसिटरी की उम्मीदवारी उन्होंने पूरी की। फिर जून में एल-एल० बी० की परीक्षा दी और उसमें प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए।

० ० ०

बाल-मित्र

किशोरलाल भाई ने अपने वालमित्रों की चर्चा अपने परिवार की श्रुति-स्मृति के साथ ही कर दी है। वह उन्हींके शब्दों में इस प्रकार है :

"अकोला में हमारा एक वूढ़ा मजदूर था—आपा। उसका वड़ा लड़का दादा लगभग वालूभाई की उम्र का था और दूसरा लड़का हरि लगभग मेरी उम्र का था। मराठी शाला में यह मेरे वर्ग में था। आपा के रहने के लिए हमने अपने कम्पाउण्ड के पिछले भाग में जगह कर दी थी; इसलिए कह सकते हैं कि वह हमारे साथ ही रहता था। हरि मेरा वाल-मित्र था। हम दोनों के बीच गाढ़ा स्नेह था। वम्बई से अकोला पहुँचते ही सबसे पहले मैं गोशाला में जाता और नये जनमे हुए वछड़ों को देखता और उनसे जान-पहचान करता। हरि प्रायः वहीं मिलता। यदि वहाँ वह न मिलता, तो मेरा दूसरा काम उसे ढूँढ़कर मिलना था। आपा के मरने के वाद हरि की माँ उसे लेकर दूसरी जगह रहने चली गयी थी। वाद में हरि अपने वड़े भाई दादा के साथ रहने के लिए आ गया। यद्यपि दादा अपने लिए अलग झोपड़ी वनाकर दूसरी जगह रहता था, फिर भी जब कभी मैं अकोला जाता, हरि मुझसे मिलने के लिए आये विना न रहता। मैं अंग्रेजी पढ़ गया और सेठ का लड़का था, इसलिए वाद में हरि मेरे साथ अदव के साथ पेश आने लगा। परन्तु उसके प्रति मेरा प्रेम तो पहले जैसा ही था। ऊँच-नीच के संस्कारों से मैं ऊपर नहीं उठा था और संस्कार-हीन गिने जानेवाले लोगों से मैं अनायास नहीं मिल सकता था। फिर भी हरि और मेरे वीच ऐसा कोई परदा नहीं था। वड़े होने पर हरि ने अपने वाप का—कुली का पेशा दादा के साथ शुरू कर दिया था। उसका शरीर वड़ा मजवूत और कुश्तीवाज था। वकालत करने के लिए अकोला जाने पर मैंने वहाँ होलिका-सम्मेलन की प्रवृत्ति शुरू कर दी थी। इस सिलसिले में एक वार दंगल किया गया था। सवसे अच्छे कुश्तीवाज को एक पगड़ी देने का निश्चय किया गया था। दंगल समाप्त होने पर पहले नंवरवाले पहलवान का नाम पुकारा गया, तो

क्या देखता हूँ कि हरि मेरे पैरों पर पड़ा है। मेरा बाल-मित्र पहला रहा, इस पर तो मुझे बहुत आनंद हुआ। परन्तु मेरा यह लंगोटिया दोस्त मेरे पैरों पर पड़ा है—यह देखकर मुझे अपने पर बड़ी लज्जा आयी। मेरे लिए यह असह्य हो गया। इसके कुछ ही दिन बाद हरि का मुझसे सदा के लिए वियोग हो गया। अकोला में प्लेग फैल गया। इसलिए दादा तथा हरि—मजदूरों के लिए खोले गये—दूर के शिविर में रहने के लिए चले गये। वहाँ हरि को प्लेग की गिल्टी निकल आयी। उसकी बीमारी के समाचार मुझे मिले। मैं उसे देखने गया। उससे पहले ही उसने शरीर छोड़ दिया था। दूसरे दिन दादा मेरे पास आकर बहुत रोने लगा। इस पर से मुझे अपने मित्र की मृत्यु का समाचार मिल गया।"

दूसरे मित्र थे—मंगलदास और गोरधनदास। उनके बारे में बहुत कुछ तो विद्याभ्यासवाले प्रकरण में आ ही गया है। किशोरलाल भाई ने और भी लिखा है :

"न्यू हाईस्कूल के पीछे की तरफ एक दरवाजा था। वह हमेशा बन्द रहता था। उसके सामने बैठने के लिए दो-तीन सीढ़ियाँ थीं। उन पर दो तीन लड़के बैठ सकते थे। एक दिन मंगलदास, एक दूसरा विद्यार्थी और मैं दोपहर की छुट्टी में इन सीढ़ियों पर बैठा था। बच्चों को महत्त्वपूर्ण मालूम होनेवाली अपने सुख-दुःख की बातें हम कर रहे थे। मंगलदास ने अपने जीवन की बातें शुरू कीं। उसके माता-पिता बचपन में ही मर चुके थे। बचपन में ही माता-पिता का मर जाना मुझे अतिशय करुण और आघातजनक लगा। उसकी उस दिन की बात का मुझ पर इतना असर हुआ कि जिसकी कल्पना मंगलदास को भी नहीं हुई होगी। बुद्धिमान विद्यार्थी की हैसियत से इन दोनों भाइयों का मैं पहले से ही आदर कर रहा था। इस दुर्भाग्य के कारण ये दोनों भाई मेरी करुणा और प्रेम के अत्यधिक पात्र बन गये। मैंने मन में निश्चय कर लिया कि वे तो मेरे ही हैं। अपने भाइयों से भी अधिक मैं उन्हें मानने लगा। धीरे-धीरे इन भाइयों ने मेरे मन पर इतना अधिकार कर लिया कि सहजानंद स्वामी, मेरे पिताजी तथा ये दो मित्र—इनमें से किसके प्रति मेरे मन में अधिक भक्ति है, यह मैं निर्णय नहीं कर सकता था।

"बीच के दो-तीन वर्ष छोड़ दें, तो वकालत पास करने तक मंगलदास और मैं साथ ही रहा। मंगलदास ने मुझे अपने सुख-दुःख की बातों का भागीदार बनाया, इसलिए यह स्वाभाविक है कि इन दो भाइयों में मंगलदास मेरा अधिक निकट का मित्र हो गया। मेरे हृदय में भी इसके प्रति बराबरी का और गोरधनदास के प्रति गुरुजन जैसा भाव है। मेरे सुख-दुःख की बातों का यह पहला श्रोता और भागीदार बनता। सन् १९०७-८ में हमारा कुटुम्ब अत्यधिक कष्ट में था। चारों ओर से आर्थिक संकट उमड़ पड़े थे। उन दिनों मेरे लिए अपने दिल को हलका करने का स्थान केवल मंगलदास ही था। अपने शरारती और उमंगभरे स्वभाव से वह मुझे प्रसन्न रखने का यत्न करता और मेरे हृदय में आशा और उत्साह भरता रहता। बचपन में यदि मुझे ऐसे शुद्ध मित्रों का लाभ न होता, तो बड़ा होने पर अनेक लोगों के साथ जो हार्दिक मित्रता मैं कर सका हूँ, वह कर सकता या नहीं, इसमें मुझे शंका है।"

इन दोनों भाइयों के साथ किशोरलाल भाई की यह गाढ़ी मित्रता आजीवन रही। मंगलदास आजकल बम्बई हाईकोर्ट में बैरिस्टर हैं। कुछ समय के लिए हाईकोर्ट के जज भी हो गये थे। गोरधनभाई सर हरकिसनदास अस्पताल के प्राणरूप संचालक हैं।

किशोरलाल भाई की मैत्रीभावना के विषय में भाई नीलकण्ठ ने लिखा है :

"मित्रता करना, उसे चालू रखना और निभाना; इसकी एक ऐसी तरकीब उनके हाथ लग गयी थी कि पहले कुटुम्ब के आदमी, उसके बाद पड़ोस के और शाला के साथी, अनंतर अकोला का वकीलमंडल, और अंत में सार्वजनिक कार्य के सिलसिले में अनेक व्यक्तियों के साथ उनका स्नेह हो गया। उन सबके साथ वे संपर्क रखते। प्रसंगोपात्त उनसे मिलते रहते; जिनसे मिलना नहीं हो पाता, उनके समाचार वे पत्रों द्वारा मँगाते। यह सब वे इतने प्रेम और उत्साह के साथ करते कि उनके हमेशा के अस्वास्थ्य के लिए यह वस्तु कुछ अंश में भाररूप भी बन जाती। परन्तु उन्होंने कभी इसे भार नहीं समझा। यही इनके जीवन की एक कला, सुवास और सुगन्ध थी।"

• • •

गृहस्थाश्रम

किशोरलाल भाई की सगाई का निश्चय करने में उनकी मौसी ने बहुत बड़ा भाग लिया। उन्होंने किशोरलाल भाई के लिए गोमतीबहन को पसन्द किया। ऐसा लगता है कि किशोरलाल भाई विवाह नहीं करना चाहते थे। परन्तु इस विषय में उन्होंने कोई पक्का निश्चय कर लिया हो—ऐसा नहीं जान पड़ता। किशोरलाल भाई पंद्रह वर्ष के हो गये थे। कॉलेज के पहले वर्ष में वे रहे होंगे। उस समय एक दिन मौसी ने किशोरलाल भाई को अपने पास बिठाकर गोमतीबहन के गुणों का वर्णन शुरू किया। लड़की काली नहीं है। उम्र में छोटी है, तेरी पढ़ाई में हर्ज नहीं करेगी—इस प्रकार माँ के-से लाड़-प्यार और कोमलता से उन्होंने अपनी बात रक्खी और विवाह के बारे में इनकार न करने को समझाया। किशोरलाल भाई लिखते हैं—"मैं मौसी के लाड़ में आ गया और अविवाहित रहने के अपने मनोरथ को छोड़कर मैंने अपनी सम्मति दे दी।" परन्तु बालूभाई ने सम्बन्ध का निश्चय करने में आपत्ति की। उन्होंने कहा—"पिताजी की स्वीकृति के बगैर मैं यह जिम्मेवारी नहीं ले सकता। मैं उन्हें लिखूंगा और उनका जवाब आ जाने के बाद हम बातचीत करेंगे।" मौसी ने तो गोमतीबहन की माँ से मिलकर तिलक का मुहूर्त भी निश्चित कर लिया था। परन्तु बालूभाई की इस आपत्ति के कारण निश्चित मुहूर्त पर तिलक नहीं हो सका। इसके बाद यह बात एक वर्ष आगे टल गयी। इस बीच गोमतीबहन की माताजी अपना मनोरथ पूरा होने से पहले ही गुजर गयीं। गोमतीबहन के पिताजी तो पहले ही गुजर चुके थे। अंत में संवत् १९६३ (ई० स० १९०७) के माघ महीने में किशोरलाल भाई की सगाई पक्की हुई। उसके बाद चैत्र सुदी ८ के दिन यह सम्बन्ध पक्का कराने में उत्साह रखनेवाली उनकी मौसी भी शान्त हो गयीं। उनके बारे में किशोरलाल भाई ने लिखा है—"हमारे लिए तो मौसी ने माँ का स्थान निष्ठापूर्वक सँभाला था। हमारे और उनके बच्चों के बीच किसी प्रकार भी भेदभाव रखा गया हो, ऐसा हमें कभी नहीं लगा।"

यह सगाई लगभग छह वर्ष तक रही। किशोरलाल भाई के मन में इस तरह का भ्रम हो गया था कि वे केवल बीस-इक्कीस वर्ष ही जीवित रहनेवाले हैं। इसलिए गोमतीबहन के प्रति कहीं जरा-सा भी प्रेम उत्पन्न हो गया, तो फिर उनका भावी जीवन एक-पतिनिष्ठ नहीं रह सकेगा—ऐसा उनका खयाल बन गया था। इसलिए वे गोमतीबहन की तरफ देखते भी नहीं थे। बातचीत करना तो दूर की बात थी।

किशोरलाल भाई लिखते हैं :

"संवत् १९६९ के फागुन वदी ८ के दिन हमारा विवाह हुआ। सॉलिसिटर की उम्मीदवारी से मैं १६-३-१९१३ को मुक्त हुआ और मार्च की ३० तारीख को हमारा विवाह हुआ। एल-एल० बी० की परीक्षा देना बाकी था। वह जून में होनेवाली थी। मेरी इच्छा थी कि परीक्षा के बाद शादी होती, तो अच्छा होता, जिससे यह न कहा जा सकता कि अध्ययन-काल के बीच में ही गृहस्थ बन गया। परन्तु मैं अपनी इच्छा पूरी नहीं कर सका। मैंने आशा की भी कि परीक्षा पूरी होने तक तो गोमती नैहर में रह सकेगी। परन्तु वह अपेक्षा भी गलत साबित हुई। विवाह के दूसरे या तीसरे ही दिन मैंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर दिया। विवाह के एक या दो सप्ताह के अन्दर ही मुझे इन्फ्ल्यूएँजा हो गया। यद्यपि इसका स्वरूप घबड़ा देने लायक नहीं था। परन्तु डॉ० दलाल ने बड़ी कड़ी सूचनाएँ दीं। उन्होंने कहा कि मैं उठकर बैठूं भी नहीं, बिस्तर तो छोड़ना ही नहीं चाहिए, और राप्टी फ्लाजिस्टीन (अब तो मेरे सीने से यह लेप बहुत परिचित हो गया है। परन्तु उस समय तो इसका नाम पहले-पहल ही सुना था) तो लगाये ही रहूँ। इन सब सूचनाओं के कारण पिताजी, गोमती तथा अन्य निकट के लोगों का खयाल हो गया कि बीमारी गंभीर है और वे सब बड़े चिन्तित हो गये। परन्तु करीब नौ-दस दिन में ही मैं अच्छा हो गया और अपनी पढ़ाई में लग गया।

"शादी के पहले मैं हमेशा विवाहित जीवन का निषेध करता। मैं कहता था कि यह आदर्श स्थिति नहीं है। बालूभाई के एक मित्र मेरे इन विचारों को बदलने के लिए मेरे साथ खूब चर्चा करते। तब मैं कहता कि "मैं आप सबके जीवन को देखता हूँ। उसमें मुझे कोई आकर्षक तत्त्व नहीं दीखता। मैंने आज

तक कोई आदर्श दम्पति नहीं देखे।" मेरे इन विचारों में बाद के अनुभव से कोई फर्क नहीं पड़ा। जिस मनुष्य को समाज के काम के लिए सेवामय जीवन व्यतीत करना है, उसे विवाह का मोह छोड़ देना चाहिए—ऐसा मैं मानता हूँ। मेरी यह सलाह बहुत से माता-पिताओं को अच्छी नहीं लगती। वे कहते हैं—"क्या शादी करने पर मनुष्य देश की सेवा नहीं कर सकता? गांधीजी और आप सब शादी करके भी देश की सेवा कर ही तो रहे हैं।" परन्तु मेरे मन को हमेशा लगता रहा है कि अगर इन सबने विवाह न किया होता, तो वे अधिक कीमती सेवा कर सकते। इससे उलटी दूसरी बाजू का भी मुझे अच्छा अनुभव है। अविवाहित देश-सेवकों में मैंने एक दोष देखा है। अंगीकृत कार्य के प्रति जिम्मेदारी की भावना तथा उसमें लगे रहने की दृढ़ता मेरे देखने में बहुत कम आयी है। यह भी अनुभव आया है कि लम्बे समय तक चलनेवाले काम उनके भरोसे नहीं छोड़े जा सकते। इसी प्रकार विविध स्वभाववाले मनुष्यों के साथ हिलमिल कर रहने की योग्यता भी इनमें कम पायी जाती है। कई बार इनमें केवल व्यक्तिगत स्वार्थ देखने की ही आदत होती है। ये सारे दोष कितने ही अविवाहित सेवकों में अवश्य पाये जाते हैं। परन्तु मेरा यह खयाल अभी गया नहीं है कि गृहस्थ के गुणोंवाला मनुष्य अविवाहित रहे, तो अधिक अच्छा काम कर सकता है।

"गोमती को हमेशा यह इच्छा रही है कि वह अधिक विद्या प्राप्त कर ले। परन्तु उसकी यह इच्छा अपूर्ण ही रही। प्रारम्भ में पढ़ने-पढ़ाने के प्रयत्न अवश्य हुए। परन्तु जिस प्रकार मेरा व्यायाम करने का कार्यक्रम कभी बराबर नहीं चल सका, उसी प्रकार उसका भी पढ़ने का कार्यक्रम कभी निर्विघ्न रूप से नहीं चल सका। इसके लिए उसने अपने प्रति लापरवाही दिखाने के आरोप हमेशा मुझ पर लगाये हैं। इसके विरुद्ध मेरा उलटा यह आक्षेप रहा है कि प्रारम्भ में गलत खयाल के कारण उसे पढ़ाने के मेरे सारे उत्साह को उसीने तोड़ दिया। अब वह जो विषय सीखना चाहती है, उन्हें सीखने के लिए उसे जो श्रम करना पड़ेगा, उस मात्रा में उसे जो ज्ञान मिलेगा, उससे उसके जीवन का कोई उत्कर्ष नहीं हो सकेगा। उन विषयों को वह न भी पढ़े, तो उसके कारण उसका उत्कर्ष रुकेगा नहीं—ऐसी मेरे मन की प्रतीति है; फिर भी उसकी इच्छा से मैं

उसे पढ़ाता तो रहता ही हूँ। पर उसे यह सब सीखना जरूरी है—ऐसा आग्रह मैं उत्पन्न नहीं कर सकता।"

किशोरलाल भाई के शान्त और विवेकी स्वभाव को देखकर लोग सोचते होंगे कि उनके गृहस्थाश्रम में कभी झगड़े आदि तो होते ही नहीं रहे होंगे। परन्तु यदि बात ऐसी होती, तो उनकी गृहस्थी बिलकुल फीकी हो जाती। जिस प्रकार थोड़ा-सा नमक भोजन को स्वादिष्ठ बना देता है, उसी प्रकार कभी-कभी पति-पत्नी के बीच होनेवाले छोटे-छोटे झगड़े भी उनके गृहस्थ-जीवन को मीठा बना देते रहे हैं। कभी-कभी ऐसे झगड़े घर में तेज चटनी का काम भी कर जाते हैं। परन्तु उनके जीवन में ऐसे प्रसंग बहुत कम और छोटे-छोटे आये। कुल मिलाकर उनके गृहस्थ-जीवन का वातावरण प्रसन्नता का और सहयोगपूर्ण था। बापूजी ने जिस प्रकार स्त्रियों को चूल्हे-चौके से बाहर निकाला, उसी प्रकार दूसरी तरफ उन्होंने पुरुषों को भी घर के काम-काज में स्त्रियों की मदद करना सिखाया। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों ने बापू की इस शिक्षा को अपने जीवन में कम उतारा होगा, परन्तु किशोरलाल भाई तो उसे पूरी तरह अपने जीवन में ले आये। भोजन बनाने, पानी भरने, कपड़ा धोने, बर्तन साफ करने—आदि सभी छोटे-बड़े कामों में वे बराबर भाग लेते। वे स्वयं, गोमतीबहन तथा उनके साथ में रहनेवाले उनके दो भतीजे—भाई नीलकण्ठ और भाई सुरेन्द्र—अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार छोटे-बड़े बर्तन लेकर कुएँ पर पानी भरने जाते। इसी प्रकार सब मिलकर नदी पर कपड़े धोने तथा बर्तन साफ करने भी जाते। यह दृश्य आश्रम में सभीका ध्यान अपनी ओर खींच लेता।

इस विषय में भाई नीलकण्ठ लिखते हैं:

"पूज्य काका साबरमती नदी में स्नान करके, कपड़े धोकर उन्हें कन्धे पर डालकर केवल धोती पहने, हाथ में पानी से भरी बालटी लटकाये किनारे पर चढ़ रहे हैं, धीरे-धीरे हाँफ रहे हैं, और उनके पीछे मैं तथा पू० गोमतीचाची हैं; यह दृश्य आज चौंतीस-पैंतीस वर्ष होने पर भी मेरी आँखों से ओझल नहीं हो सकता। उस समय उनका शरीर इकहरा होने पर भी दृढ़ कहा जा सकता था। परन्तु बचपन से कोई काम नहीं किया था, फिर भी काम करने का निश्चय था,

इसलिए करते ही रहते। हमारे घर में एक पुराना रिवाज था—शौच जाने पर स्नान करना। इसलिए कभी-कभी तो गरमी के मौसम में भी हम भर दोपहरी में स्नान करने के लिए नदी पर जाते। इस वात पर आश्रम के छोटे-बड़े सभी हम पर हँसते। वाद में पू० काका पू० नाथजी के संपर्क में आये और उन्होंने जब समझाया कि इस तरह स्नान करना धर्म का अंग नहीं है, तव यह सव एकदम छोड़ दिया गया और धीरे-धीरे घर के अन्य लोगों ने भी इसे छोड़ दिया। मुझे नहीं लगता कि ऐसा करने से हमारे घर में कोई अस्वच्छता आ गयी। मुझे तो लगता है—और पू० काका भी कई वार कहते—कि नहाने की झंझट के कारण हम कई वार शौच जाने में आलस कर जाते। वह अव चला गया, इसलिए इससे लाभ ही हुआ।"

सन् १९२५ के वाद वे सावरमती आश्रम में एक साथ अधिक दिनों तक नहीं रहे। उसके वाद दोनों का स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं रहा। इस कारण काम-काज में उन्हें दूसरे की मदद लेनी पड़ी। इसलिए तव से ऊपर के जैसे दृश्य भी दीखने वंद हो गये।

उनके गृहस्थाश्रम का मुख्य अंग अतिथि-सत्कार और परस्पर की सेवा-शुश्रूपा रहा है।

दोनों हमेशा वीमार रहते। फिर भी दोनों ने अपना हँसमुख और विनोदी स्वभाव कायम रखा। किशोरलाल भाई तो अतिशय वेदनाओं में भी कई वार अपनी कीमत पर विनोद करने में नहीं चूकते थे। इनके घर मेहमानों को कभी परायापन नहीं लगता था। यह इस कुटुम्ब की अपनी पुरानी परम्परा रही है।

मिलने आनेवालों का वे हमेशा वड़े प्रेम से सत्कार करते। इस विपय में भाई नीलकण्ठ लिखते हैं:

"कोई भी परिचित व्यक्ति मिलने आता, तव यदि वह उम्र में वड़ा होता, तो वे अवश्य उठकर खड़े हो जाते और उसे लिवाने के लिए आगे जाते। तवीयत अच्छी न होने पर भी जाते समय उसे पहुँचाने जाते। सांताक्रुज में जव घर पर रहते, तव खेर, मुरारजी भाई, वैकुण्ठ भाई, रामेश्वरदास विड़ला आते या उनके कोई पुराने मित्र अथवा परिवार में से ही कोई आता, अथवा कोई छोटा-वड़ा विलकुल नवीन व्यक्ति आता, तो वे यह सव विधि किये विना न रहते।

इसमें जो श्रम होता, उसके कारण उन्हें कई बार बाद में बड़ा कष्ट भी उठाना पड़ा है। स्वामी आनंद, काका साहब या महादेवभाई में से कोई मिलता तो बड़े प्रेम से गले मिलते। बापूजी, नाथजी या बड़े भाई आते, तो उनके पैर छूते। पुराने लोगों की भाषा में कहें, तो ये दृश्य देवदुर्लभ होते थे। छोटों में मुझे अथवा चि० शांता को वे आशीर्वाद देते। कई बार छाती से भी लगा लेते। उस समय उनसे हमें जो गरमाहट और निश्चिन्तता मिलती, वह कभी भुलायी नहीं जा सकती।"

"बम्बई में हमारे यहाँ एक पुराना नौकर था रामभाऊ और सुन्दरीबाई नाम की एक दाई थी। मुरब्बी गोरधनभाई के यहाँ रामा नाम का एक नौकर था और एक रसोइया भी था। इन सबसे वे बड़े प्रेम के साथ मिलते और उनके कुशल-समाचार पूछते। बचपन में घर के नौकर-चाकरों को वे नीची दृष्टि से देखते थे—ऐसा कई बार ये लोग कहते। परन्तु बाद में उन्होंने इन सारी भूलों को धो डाला था और मानवमात्र के प्रति समान भाव रखने का पूरा प्रयत्न किया।"

कभी दूसरे के घर अतिथि के रूप में जाते, तो दोनों इस बात का बहुत ध्यान रखते कि आतिथेय को कम-से-कम कष्ट हो। यही नहीं, बल्कि गोमतीबहन का तो इस ओर विशेष ध्यान देने का स्वभाव रहा है कि आतिथेय की सुविधाओं की ओर भरपूर ध्यान रखा जाता है या नहीं।

एक बार गोमतीबहन ने बापू की देख-रेख में पंद्रह दिन का उपवास किया था। उस समय किशोरलाल भाई उनकी जो सेवा करते थे, वह दृश्य अद्भुत था। स्वयं किशोरलाल भाई को एक बार बुखार आया, तब बापू ने उनसे उपवास करवाया। उससे बुखार तो एक हफ्ते में चला गया, परन्तु कमजोरी इतनी आ गयी कि लगभग आठ महीने तक वे पहले की भाँति काम करने लायक न हो सके। उपवास के इस अनुभव के बाद दोनों इस नतीजे पर पहुँचे थे कि प्राकृतिक उपचार धनवानों के ही बूते की चीज हैं। गरम पानी के स्नान, बारबार मिट्टी के लेप करना, और बीमार का लम्बे समय तक आराम करना—यह सब साधारण स्थिति के मनुष्य की शक्ति के बाहर की बातें हैं। इनकी बीमारी के लिए बापू कई बार प्राकृतिक उपचार करने को कहते। परन्तु जो बातें

आसानी से हो सकतीं, उनको छोड़कर वे कभी प्राकृतिक उपचार का आश्रय नहीं लेते थे।

दोनों एक-दूसरे की सेवा करते। परन्तु अधिकतर मौकों पर गोमतीबहन ही किशोरलाल भाई की सेवा करतीं। सेवा करते-करते वे एक प्रशिक्षित नर्स के समान अपने काम में कुशल बन गयीं। बीमार कोई चीज माँगे, उससे पहले ही उसकी जरूरत को समझकर वह चीज हाजिर कर देना, समय पर भोजन अथवा दवा देना—यह सब करने का उन्हें खूब अभ्यास हो गया। कभी-कभी सारी रात जागरण करना पड़ता। यह सारा कष्ट उठाते हुए भी उनका चेहरा हमेशा हँसमुख ही रहता। इस सेवा के अलावा दूसरे कामों में भी वे किशोरलाल भाई की मदद करती रहतीं। किशोरलाल भाई जब बीमार रहते, तब उनकी डाक पढ़कर सुनातीं, वे जो उत्तर लिखाते, सो लिख देतीं। कागजों की नकल कर देतीं, कागजों को फाइल करतीं। मतलब यह कि एक मंत्री का पूरा काम करतीं। इसके अतिरिक्त किशोरलाल भाई के विकास करनेवाले विचारों को समझ करके उनका अनुसरण करने का भी वे प्रयत्न करतीं। इस प्रकार वे सच्चे अर्थ में सहधर्मचारिणी थीं। किशोरलाल भाई ने अपनी पुस्तक 'गांधी-विचार-दोहन' गोमती बहन को अर्पण करते हुए लिखा है—"जिसकी चिंता-भरी शुश्रूषा के बगैर इस पुस्तक का लिखना और उसे पूरा करना बहुत कठिन था, उस प्रिय सहधर्मचारिणी को यह अर्पित है।" यह बिलकुल सही है। किशोर-लाल भाई के एक घनिष्ट मित्र ने बात-बात में एक बार कहा था कि "सचमुच यह जोड़ी सवेरे उठकर पैर छूने योग्य है।"

◇◇◇

वकालत

एल-एल० वी० पास करने के वाद किशोरलाल भाई के सामने दो मार्ग थे। एक तो पढ़ाई-जारी रखकर सॉलीसिटर की परीक्षा देना अथवा अकोला जाकर वकालत शुरू कर देना, और वकालत करते-करते सॉलीसिटर की परीक्षा के लिए अध्ययन जारी रखना। अभी कुटुम्व की आर्थिक कठिनाई दूर नहीं हुई थी। अकोला और वम्वई के दोनों घरों का वोझ वालूभाई पर था। किशोर-लाल भाई सोच रहे थे कि यदि अकोला में वकालत अच्छी चल निकले, तो वालू-भाई का वोझ हलका हो सकता है। उन्हें यह भी आशा थी कि वकालत करते-करते अपने अध्ययन के लिए भी वे समय निकाल सकेंगे। करीव डेढ़ वर्ष तक उन्होंने सॉलीसिटर की परीक्षा देने का विचार नहीं छोड़ा और परीक्षा की दृष्टि से अपनी पढ़ाई जारी रखी। परन्तु ज्यों-ज्यों वकालत का काम वढ़ने लगा, त्यों-त्यों परीक्षा की तैयारी जारी रखना उन्हें असंभव लगने लगा। इसलिए सॉलीसिटर वनने का विचार छोड़ दिया।

सन् १९१३ के अगस्त में अकोला जाकर उन्होंने वकालत शुरू कर दी। वम्वई हाईकोर्ट में उन्होंने तीन वर्ष सॉलीसिटर की जो उम्मीदवारी की, उसके अनुभव का लाभ उन्हें जिलाकोर्ट में अच्छा हुआ। पहले दिन से ही कोई क्षोभ नहीं हुआ। पहला मुकदमा एक वड़ी रकम की अपील का था। उसमें वे प्रति-वादी की ओर से काम कर रहे थे। इनका मुकदमा मजवूत था। फिर भी उसमें ऐसे कई मुद्दे थे, जिन पर विरोधी पक्ष दलीलें पेश कर सकता था। मुकदमे की तफसीलें वहुत लम्वी थीं और उन्हें लेकर किशोरलाल भाई को डेढ़-दो घण्टे वोलना पड़ा। अपने पहले ही मुकदमे में वे इतनी देर तक विना किसी क्षोभ के अपनी दलीलें अच्छी तरह पेश कर सके—इसका जिलाजज तथा वकील-मण्डल पर अच्छा असर पड़ा। इसके फलस्वरूप तीन महीने वाद जो चुनाव हुआ, उसमें वे वकील-मण्डल के मन्त्री चुने गये। अकोला में पिताजी की अच्छी प्रतिष्ठा थी। फिर किशोरलाल भाई आढ़त आदि के धंवों से परिचित थे और हिसाव-किताव की गुत्थियों के अच्छे जानकार थे। इसलिए पिताजी की जान-

पहचान के व्यापारियों और आढ़तियों के केस उनके पास आने लग गये। इसके अलावा वे अपने मुवक्किलों को भी संतोष दे सकते थे। इस कारण उनकी वकालत अच्छी चल निकली। इनके द्वारा तैयार किये गये दावों के मसविदों की प्रशंसा वकीलों और जजों के बीच भी होने लगी। किशोरलाल भाई लिखते हैं—"बड़े वकील मुझे अपने साथ खुशी-खुशी रखते। वहाँ एक अंग्रेज बैरिस्टर—श्रीवाल्श था। उसके मातहत वकील की हैसियत से काम करने की व्यवस्था पहले से ही कर ली गयी थी। इसके अतिरिक्त वहाँ के एक बड़े प्रमुख वकील के साथ भी काम करना पड़ता था।"

वकालत के साथ-साथ अकोला की सार्वजनिक प्रवृत्तियों में तथा कितने ही सेवा-कार्यों में भी वे काफी भाग लेते रहते थे। वकालत शुरू करने के कुछ ही दिनों बाद दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी द्वारा जारी किये गये सत्याग्रह की मदद के लिए कोष एकत्र करने के सम्बन्ध में माननीय श्रीगोखले ने अपील जारी की। यह कोष एकत्र करने में किशोरलाल भाई ने उत्साह पूर्वक भाग लिया। श्रीमती बेसेंट की होमरूल लीग में तथा जिला कांग्रेस के कामों में भी वे काफी भाग लेते रहते। अकोला में उन्होंने होलिका-सम्मेलन की प्रवृत्ति शुरू की थी। आज से पैंतीस-चालीस वर्ष पहले होली का त्यौहार कितने भद्दे ढंग से मनाया जाता था—इसका स्मरण पुराने लोगों को होगा ही। इस बारे में भाई नीलकण्ठ लिखते हैं:

"हम स्वामी नारायण-संप्रदायवाले हैं। इसलिए हमारे यहाँ भगवान की मूर्ति पर अबीर-गुलाल अथवा टेसू के फूलों के पानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं डाल सकते थे। उत्सव के प्रसाद के रूप में भोजन में मिष्टान्न बनता। परन्तु अपशब्द बोलने या गन्दे खेल खेलने जैसी कोई बात नहीं होती थी। किशोरलाल काका का यह आग्रह था कि सर्वत्र इसी तरह से होली मनायी जानी चाहिए। इसलिए उन्होंने तथा वहाँ के एक-दो मारवाड़ी सज्जनों ने होलिकोत्सव मनाने का निश्चय किया। अपशब्द तथा गन्दे खेलों का त्याग करने की सूचनाएँ तथा ध्वजा-पताकाएँ लेकर वे जुलूस निकालते और मर्दाने खेलों का कोई कार्यक्रम बनाते। सारे समाज पर, मजदूरों और कुलियों पर भी इसका अच्छा असर हुआ।"

किशोरलाल भाई की वाणी में कभी कटुता नहीं आती थी—इसका अनुभव तो अब बहुतों को हो गया है। ऐसा भी देखा गया है कि वे कई बार सच्ची परन्तु

कड़वी वात नहीं कह सकते थे। फिर भी उनमें इतनी खालिसत थी कि वे कटु सत्य इस तरह कह जाते कि सुनकर आश्चर्य होता; साथ ही सुननेवाले के मन पर यह असर हुए विना न रहता कि उसके पीछे उनका हेतु सद्भाव शुद्ध ही होता था। किसीको वे भले ही उसके मुँह पर कड़वी वात कह जाते, फिर भी उनके मन में उसके प्रति कभी द्वेष नहीं रहता था। इसके विपरीत जव वह आदमी उनके सद्भाव को पहचान जाता, तव वह इनका मित्र वन जाता।

कितने ही मजिस्ट्रेटों और मुन्सिफों का उन्होंने कड़ा विरोध किया। परंतु उन्हींमें से कितने ही लोगों के साथ उनकी मित्रता भी हो गयी। एक मुन्सिफ (सव-जज) के विषय में किशोरलाल भाई तथा दूसरे वहुत से वकीलों का यह खयाल वन गया था कि वह महाराष्ट्रियों और वड़े वकीलों को अधिक सहूलियतें देता है और छोटे वकीलों की वात भी अच्छी तरह से नहीं सुनता—किशोरलाल भाई ने अपनी यह राय मुकदमे की वहस के दौरान में ही उस सव-जज को सुना दी। यह सुनते ही वह एकदम गरम हो गया। वहुत से वकीलों को लगा कि अव इस अदालत में कदम रखना भी किशोरलाल भाई के लिए कठिन हो जायेगा। परन्तु वह सज्जन अतिशय प्रामाणिक और सच्चे दिलवाले थे। उन्होंने किशोरलाल भाई के निःस्पृह और सत्य कथन की उचित कद्र की। किशोरलाल भाई लिखते हैं:

"इस अदालत में मेरे तो रोज मुकदमे होते और वड़े-वड़े मुकदमे होते। फिर भी इस घटना के वाद उनके और मेरे वीच कभी झगड़ा होने का कारण उत्पन्न नहीं हुआ। यही नहीं, वल्कि मैंने जव वकालत छोड़ी, तव वे और एक अन्य मजिस्ट्रेट मेरे यहाँ भोजन करने भी पधारे। उसके वाद उन्हें वम्वई आना पड़ा, तव भी मेरे घर पर वे पधारे थे और अपनी वेटी का इलाज डॉ० जीवराज मेहता से करवाना चाहते थे, सो वह काम मुझे सौंप गये थे।"

एक दूसरा किस्सा अकोला के त्र्यंवकराव वापट वकील का है। उनके विषय में किशोरलाल भाई ने लिखा है:

"वे कट्टर तिलक पक्ष के थे। मेरी होलिका-सम्मेलन वाली प्रवृत्ति के उत्पादक श्री देववर आदि गोखले के पक्ष के थे। इसलिए इनकी इस प्रवृत्ति से श्री वापट का तीव्र विरोध था। इसको लेकर एक वार उन्होंने मुझसे वड़ा झगड़ा किया था। परन्तु मैंने जान लिया था कि वे एक प्रामाणिक आदमी हैं।

इसके वाद तो वे मेरे घनिष्ट मित्र वन गये। हम लोग म्युनिसिपैलिटी में गये। उसके दोषों को दूर करने के विषय में अनेक वार हमारा विचार-विनिमय होता। क्रोधी स्वभाव और क्षयरोग के कारण उनकी मृत्यु जवानी में ही हो गयी; नहीं तो वे अकोला के एक अच्छे नेता वन जाते।"

अकोला के डिप्टी कमिश्नर के साथ घटी एक घटना के वारे में किशोरलाल भाई लिखते हैं:

"मेरे वकालत छोड़ने के कुछ ही समय पहले अकोला में ऐसे चिह्न दिखाई देने लगे कि यहाँ जोरों का प्लेग फैलेगा। पिछले वर्ष प्लेग फैला था और उसने गजव ढा दिया था। इस वर्ष डिप्टी कमिश्नर ने सोचा कि प्लेग की रोकथाम के लिए पहले से ही कड़ी काररवाई करनी चाहिए। इसमें जनता का सहयोग प्राप्त करने के लिए उन्होंने नागरिकों की एक सभा की। सरकार की ओर से नागरिकों के सहयोग की माँग करनेवाली यह शायद पहली ही सभा थी। उपस्थिति अच्छी थी। परन्तु डिप्टी कमिश्नर ने लोगों को ढाढ़स वँधानेवाला और मार्गदर्शक भाषण करने के वदले अपनी सत्ता और अधिकारों का वयान करनेवाला भाषण दिया और कहा कि सूचित सावधानी की हिदायतों का लोग पालन नहीं करेंगे, तो उन्हें दंडित होना पड़ेगा। यह सुनकर मुझे वहुत वुरा लगा और मैंने खड़े होकर डिप्टी कमिश्नर के भाषण में जो उद्धतपन था, उस पर खेद प्रकट किया। मैंने कहा कि जिस समय समाज पर संकट आया हुआ है, उस समय उसे हिम्मत दिलाने और मदद करने की जरूरत है। उसके वदले इस तरह का रुख प्रकट करने से लोगों का समभाव विगड़ जायगा और उनका सहयोग सरकार नहीं प्राप्त कर सकेगी। मैं वोल रहा था कि एक प्रमुख नागरिक ने मुझसे भाषण वन्द करने के लिए कहा। परन्तु मुझे कहना पड़ेगा कि डिप्टी कमिश्नर ने मुझे वगैर रुके अपनी वात पूरी तरह से कह लेने दी और मेरा जवाव देते हुए कहा—"वर्षों से हम लोग सत्ताधारी रहते आये हैं, इसलिए हमारी भाषा ही ऐसी हो गयी है। वास्तव में हमारा उद्देश्य यह नहीं है।" परन्तु वाद में श्रीवाल्श द्वारा मुझे कहलाया गया कि "अव आगे कभी इस तरह का वर्ताव करोगे, तो चक्कियों का मुकावला करना होगा। याद रखना।" परन्तु अकोला के लोगों ने मेरी हिम्मत पर मेरा अभिनन्दन किया।

कितने ही मित्रों ने यह भी कहा कि वकालत छोड़ने का तुम लगभग निश्चय कर चुके हो, इसी कारण ऐसा भाषण कर सके। शायद यह बात भी सही हो।"

अब कुटुम्ब की आर्थिक स्थिति सुधरने लग गयी थी। बालूभाई के भाग्य-चक्र ने फिर जोर मारा। उन्हें जापानी कम्पनियों का काम मिलने लग गया था। इसी वर्ष उनका परिचय जमनालालजी के साथ हुआ। उन्होंने भी अपना काम बालूभाई को देने का आश्वासन दिया। बालूभाई ने ईश्वरदास की कम्पनी के नाम से दलाली और जुगलकिशोर घनश्यामलाल के नाम से मुकद्दम का काम—इस तरह दो-दो काम शुरू कर दिये। ये दोनों काम बालूभाई को इतने लाभ-दायक प्रतीत हुए कि सन् १९१६ में किशोरलाल भाई से उन्होंने आग्रह किया कि वे वकालत छोड़कर उनकी मदद के लिए बम्बई चले आयें। पिताजी को यह पसन्द नहीं था, फिर भी किशोरलाल भाई वकालत छोड़कर बम्बई चले गये।

किशोरलाल भाई ने कुल तीन वर्ष वकालत की। जिस समय उन्होंने वकालत छोड़ी, उस समय वकील-मण्डल ने उनके प्रति बड़ा प्रेम प्रकट किया। जजों ने भी उसमें भाग लिया। उनका पहले से ही यह स्वभाव था कि जो चीज उनके सामने आती, उसे वे अच्छी तरह समझ लेते। इस विषय में भाई नीलकण्ठ लिखते हैं:

"कॉलेज की पढ़ाई पूरी करके एल-एल० बी० का अध्ययन करते हुए, सॉलीसिटर्स के यहाँ आर्टिकल्ड क्लर्क के रूप में रहे, तब तथा वकालत के दिनों में भी वे प्रत्येक पुस्तक और अपने मुकदमे खूब एकाग्र होकर पढ़ते और उस पर मनन करते। इसी प्रकार अपनी किताबें, कागजात और फाइलें बहुत व्यवस्थित रखते। उन्होंने लगभग तीन वर्ष तक वकालत की। इस समय इनके पास जो दो क्लर्क थे, वे बहुत खुश रहते; क्योंकि वे स्वयं बहुत व्यवस्थित रीति से काम करते और क्लर्कों से भी इसी प्रकार काम लेते। जो मुवक्किल आते, उन्हें ऐसा नहीं लगता कि वकील साहब कोई गैर आदमी हैं, बल्कि ऐसा लगता कि वे घर के ही अपने आदमी हैं। इस गुण का उन्होंने उत्तरोत्तर उत्कर्ष ही किया है। उनके पास जो जाता, वह उनका आदमी बन जाता। उनकी प्रेमभरी मंद मुसकुराहट घर के हर आदमी को, मित्रों को, सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को और अंत में व्यक्तिमात्र को अपनी तरफ खींच लेती। उनसे जो मिलते अथवा सलाह लेने आते, वे भी उनके आत्मीय बन जाते।"

◆ ◆ ◆

दमे की बीमारी : १० :

किशोरलाल भाई के पिताजी सूरत छोड़कर बम्बई जाने के बाद नारणदास राजाराम की फर्म में नौकरी करने लगे। यह फर्म एक अंग्रेजी फर्म की आढ़त करती और अलसी, गेहूँ आदि वस्तुएँ भारत से खरीदकर विदेशों को भेजने का काम करती। इसलिए जहाँ-जहाँ इन वस्तुओं का मौसम शुरू होता, वहाँ-वहाँ खरीददारों को भेजना पड़ता। तदनुसार पिताजी को वर्ष में लगभग आठ महीने भारत के भिन्न-भिन्न भागों में जाना पड़ता। इसी दौड़-धूप में एक बार उन्हें गुलबर्गा में लम्बी और सख्त बीमारी भोगनी पड़ी। इससे उन्हें बहुत दिनों तक बड़ी कमजोरी रही और फेफड़ों को भी कुछ हानि पहुँची। कुटुम्ब में ऐसी मान्यता है कि पिताजी की इस बीमारी के बाद जितने भी बच्चे पैदा हुए, उनके फेफड़े कमजोर ही रहे। इस प्रकार नानाभाई और किशोरलाल भाई की फेफड़ों की कमजोरी उन्हें पिताजी से विरासत में मिली थी।

किशोरलाल भाई वकालत छोड़कर बम्बई चले तो गय, परन्तु वे बालूभाई की कोई आर्थिक मदद नहीं कर सके। उनके शरीर और स्वभाव दोनों के लिए रूई बाजार का काम अनुकूल नहीं पड़ा। बम्बई जाने से पहले अकोला में ही उन्हें दमा और दम घुटने के दो दौर आ चुके थे। किशोरलाल भाई लिखते हैं :

"घर के भीतर बड़ी गरमी महसूस हो रही थी, इसलिए मैं रात के साढ़े आठ बजे के करीब बाहर खुले में बेंच पर पड़ा था। थोड़ी देर के लिए आँख लग गयी थी कि एकाएक मेरी नींद खुल गयी। मैंने देखा कि मैं साँस नहीं ले सकता। दम घुट रहा था। दमे का मेरा यह पहला अनुभव था। मुझे कॉफी पिलायी गयी और छाती पर अजवाइन रखी गयी। इससे यह दौर आधे-पौन घण्टे के भीतर समाप्त हो गया। परन्तु कुछ दिन बाद फिर ऐसा ही दौर आया। उसके बाद अकोला में दौर नहीं आया। परन्तु बम्बई आने पर मालूम हुआ कि दमा अब हमेशा का साथी बन गया है। दमे के शुरू-शुरू के दौरों में बहुत अधिक दम घुटता था। कई बार तो मैं जोर-जोर से रोने लग जाता और उससे कुछ

हलकापन भी मालूम होता। अंगरेजी में जिसे Anaphylaxis pangs कहते हैं, उस तरह का यह दमा था—ऐसा मुझे लगता है। इसका असर कुछ ही घण्टे रहता था। ऐंठन चली जाने के वाद लगता था कि कुछ नहीं हुआ। परन्तु वम्वई में रुई वाजार की धाँस के कारण तथा भारी वर्षा के कारण मुझे स्थायी रूप से सर्दी रहने लग गयी। इसमें से श्लेष्मायुक्त श्वासनलिका के संकुचन और जठरद्वार (डायाफ्राम) की जड़तावाले दमे ने धीरे-धीरे मेरे शरीर में अपना घर कर लिया।"

दमे के कुछ सादे उपचारों की वातें वहुत प्रचलित रहती हैं। कोई कहता कि अमुक मनुष्य की दवा का सेवन केवल एक वार किया और दमा चला गया। अव इस कुटम्व में दमे के तीन मरीज हो गये थे। नानाभाई, उनका वड़ा लड़का शान्ति और किशोरलाल भाई। उन्होंने किसीसे सुना कि झाँसी के पास ओरछा नाम का एक स्टेशन है। उसके पास के एक गाँव में एक राजपूत हर रविवार को दमे की दवा देता है। उसे केवल एक वार लेने से और एक महीने के पथ्य-पालन से दमा चला जाता है। किशोरलाल भाई लिखते हैं:

"अकोला के स्टेशन मास्टर को दमे की शिकायत थी। उसने इस दवा का सेवन किया था और वह इसकी तारीफ करता था। हम और अकोला के एक दूसरे वकील लालच में आकर वहाँ गये। गोमती और एक नौकर हमारे साथ था। रास्ते में नानाभाई दमे से वहुत परेशान हुए। उन्हें उठाकर प्लेटफार्म वदलना पड़ता। ओरछा स्टेशन से एक डोली में डालकर उन्हें उस गाँव में ले जाना पड़ा। वहाँ उसने कुछ जड़ें पीसकर उसका एक छोटा-सा गोला वनाया और उसे पानी में घोलकर उन्हें पिला दिया। उस दिन के भोजन में गाय के घी में पकायी पूड़ियाँ मीजकर घी-गुड़ के साथ उनका चूर्मा लेना था। दूसरे दिन सवेरे के भोजन के लिए पहले दिन ही चावल पकाकर उसमें जल डालकर उसे रातभर वाहर रख दिया गया था। दिसम्वर का महीना था। सवरे चार वजे के करीव पड़ोस के एक कूएँ पर जाकर स्नान करने के लिए हमें कहा गया। नानाभाई के ऊपर तुरन्त ही दवा का इतना असर हुआ कि वे चलने-फिरने लग गये। यही नहीं, वल्कि सवेरे वहाँ जाकर स्नान करने का साहस भी उनमें आ गया। नहा लेने के वाद उस पके हुए भात में से पानी निकालकर उसमें गाय का दही

मिलाकर सबको खाने के लिए दिया गया। छह-साढ़े छह बजे तक यह सब निपट गया और हमें छुट्टी मिल गयी। नानाभाई स्टेशन तक अर्थात् लगभग चार मील पैदल चले आये। एक महीने तक गाय का घी, दूध, ब्रह्मचर्य और दूसरे कुछ पथ्य पालन करने के लिए कहा गया था। दवा के लिए हम तीनों से तीन-तीन आने धर्मादाय के रूप में रखवाये गये। परन्तु सेकेण्ड क्लास का रेल-किराया और अन्य खर्च—इस तरह कुल मिलाकर कोई दो सौ रुपये हमारे खर्च हो गये। दवा का लाभ केवल शीतकाल भर रहा। उसके बाद हमारी स्थिति 'जस-की-तस' हो गयी।" आगे के वर्णन में आश्रम के प्रति आकर्षण के बीज अनजान में किस तरह पड़ गये, इसका वर्णन है।

"झाँसी से लौटने के बाद गोमती के साथ मैं वापस बम्बई चला गया। उसके कुछदिन बाद गोमती, मैं, नीलू और निर्मला (बालूभाई के पुत्र और पुत्री) गढडा जाने के लिए निकले। वापस लौटते हुए वे सारंगपुर, अहमदाबाद, खेड़ा (किशोरलाल भाई के चाचा के पुत्र श्रीवरजीवनदास वहाँ सिविल सर्जन थे), उभाण, वड़ताल आदि स्थानों पर होते हुए लगभग सवा महीने में बम्बई लौटे। अहमदाबाद में उस समय कोचरब में सत्याग्रहाश्रम था, वहाँ भी गये। दूसरे आश्रमों और मंदिरों में पाँच-दस रुपये भेंट रखते आये थे, उसी प्रकार यहाँ भी पाँच रुपये भेंट के रूप में रख दिये।

"बम्बई लौटने के कुछ दिन बाद खेड़ा में मुरब्बी वरजीवन भाई बीमार हो गये। इसलिए फिर वहाँ गया। वहाँ मैं महीना-सवा महीना रहा। वहाँ मुझे समाचार मिला कि श्री चंदूलाल काशीराम दवे आश्रम में रहने के लिए गये हैं। वे तो केवल दो-चार दिन के लिए ही वहाँ गये थे, परन्तु मैं समझा कि वे आश्रम में शामिल हो गये हैं। वे मेरे मित्र थे। इसलिए मैंने आश्रम के उद्देश्य, नियम, ध्येय आदि के विषय में उनसे जानकारी मँगायी। वह उन्होंने भेजी। मुझे ऐसा लगा करता था कि मैं बम्बई में नीरोग नहीं रह सकूँगा। इसलिए एक तरफ तो ऐसे विचार उठते कि अकोला जाकर मुझे फिर वकालत शुरू कर देनी चाहिए और दूसरी तरफ मन में राष्ट्र का काम करने की अभिलाषा भी जाग गयी थी!"

परन्तु इसके लिए तो एक स्वतंत्र प्रकरण लिखना होगा। ◆◆◆

पिताजी के कुछ संस्मरण :११:

किशोरलाल भाई के नानाजी ने अपनी लड़कियाँ मशरूवाला कुटुम्ब में दीं, तो अपने मन में यह निश्चय कर लिया कि प्रत्येक लड़की को बम्बई में एक मकान खरीदने के लिए कुछ दिया जाय। तदनुसार अपने मृत्यु-पत्र में इस काम के लिए प्रत्येक लड़की को उन्होंने पंद्रह हजार देने की व्यवस्था कर दी। सूरत की नौकरी से पिताजी को सन्तोष नहीं था। उन्हें स्वभाव से ही नौकरी प्रिय नहीं थी। इसलिए सूरत छोड़कर वे बम्बई जाकर बस गये, यद्यपि वहाँ भी कुछ वर्ष तो उन्हें नौकरी करनी ही पड़ी। जान पड़ता है कि पिताजी की भाँति अन्य सब चाचा भी बम्बई में जाकर बस गये। हाँ, वे सब एक साथ गये हों—ऐसा नहीं लगता। एक के बाद एक गये और जैसे-जैसे वहाँ पहुँचे, अलग-अलग मकान लेकर रहने लगे। जब आत्माराम काका और पिताजी बम्बई गये, तब नानाजी ने दोनों के लिए एक-एक मकान लेकर रख लिया था।

हम जानते हैं कि बम्बई में पिताजी ने नारणदास राजाराम की फर्म में नौकरी कर ली थी। इस नौकरी में उन्हें बहुत अधिक घूमना पड़ता था, इसलिए उन्हें यह पसन्द नहीं थी। अतः उन्होंने सोचा कि कोई अनुकूल स्थान ढूँढ़कर वहाँ अपना कोई निजी धन्धा शुरू करना चाहिए। अपने दौरों के बीच इस काम के लिए उन्हें अकोला उपयुक्त जान पड़ा और वहाँ जाकर वे बस गये। यह घटना किशोरलाल भाई के जन्म के एकाध वर्ष पहले या बाद की होनी चाहिए। वहाँ उन्होंने शुरू में नारणदास राजाराम की फर्म के आढ़तिया के तौर पर काम शुरू किया। परन्तु कुछ समय बाद आढ़त छोड़ दी और जुगलकिशोर घनश्यामलाल के नाम से स्वतंत्र रूप से काम शुरू कर दिया। किसान आसपास के गाँवों से अपना माल अकोला की मण्डी में बेचने के लिए लाते। उसे वे बाजार में बिकवा देते और उसकी कीमत चुकवा देते। इसके मेहनताने के रूप में वे दलाली ले लेते। इन लोगों के साथ उन्हें थोड़ा-सा लेन-देन का व्यवहार भी करना पड़ता।

किशोरलाल भाई ने अपने विवरण में लिखा है: "लेन-देन में अथवा आढ़त में पिताजी से जिन-जिन का सम्बन्ध हुआ, पिताजी की प्रामाणिकता के कारण उनका इस कुटुम्ब के साथ आजतक उसी प्रकार का घरेलू सम्बन्ध बना हुआ है। पिताजी ने यह काम पंद्रह-सोलह वर्ष तक किया। परन्तु इस बीच एक बार भी उन्होंने अदालत में कदम नहीं रखा। इस कारण उनका बहुत-सा पैसा डूब भी गया। परन्तु ऐसे भी बहुत-से उदाहरण हैं, जिनमें कर्जदारों ने मियाद के बाहर का कर्ज भी ईमानदारी के साथ चुका दिया। मेरी वकालत में इनमें से कितने ही आदमियों ने मेरी मदद की है। इसी कारण मेरी वकालत जल्दी जमने लगी थी। धार्मिक और चारित्र्यवान पुरुष के रूप में अकोला में पिताजी की प्रतिष्ठा प्रथम पंक्ति के पुरुषों में थी। नानाभाई ने इस प्रतिष्ठा में खासी वृद्धि की। उनके असामियों में एक अपढ़ मुसलमान किसान था। पिताजी का उसके साथ निजी मित्र जैसा सम्बन्ध था, जो अंत तक कायम रहा। वह मुसलमान था, तथापि उसकी सज्जनता, प्रामाणिकता, निर्मलता आदि गुणों के कारण पिताजी के दिल में उसके बारे में कभी भेदभाव पैदा नहीं हुआ।"

किशोरलाल भाई ने अपने संस्मरणों में लिख रखा है:

"अकोला में पिताजी ने प्रारम्भ से ही एक निर्भय व्यक्ति के रूप में ख्याति प्राप्त कर ली थी। यूरोपियन फर्मों के गोरे मैनेजर कई बार केवल अपनी चमड़ी के रंग के कारण अधिक सहूलियतें प्राप्त करने में सफल हो जाते। परन्तु अन्य व्यापारियों के साथ उनका व्यवहार तिरस्कारपूर्ण होता। पिताजी के मन में गोरी चमड़ी के प्रति तिरस्कार तो नहीं था, परन्तु उन लोगों से वे रत्तीभर भी दबते नहीं थे। उनके साथ भी वे दूसरों के समान ही व्यवहार रखने का आग्रह रखते। दूसरे व्यापारी 'साहबों' से डरते और उनसे झुककर रहते। राली भदर्स के यूरोपियन मैनेजर ने पिताजी को बहुत तंग और परेशान करने का यत्न किया। परन्तु पिताजी ने उसकी एक न चलने दी। अंत में उसे पिताजी के साथ समझौता करना पड़ा और वह उनका मित्र बन गया। पिताजी ने इसके साथ जो टक्कर ली, उसके कारण लोग उन्हें 'अकोला का शेर' कहने लगे थे।

"अंत तक उनका स्वभाव तेज रहा। वे असत्य को कभी बरदाश्त नहीं कर

सकते थे। मैत्री की सदा इच्छा करते, परन्तु खुशामद कभी न करते। वालूभाई ने वम्वई जाते ही वहाँ के वाजार पर अपना प्रभाव डाला। इसी प्रकार नीलकण्ठ (वालूभाई के वड़े पुत्र) द्वारा जापान में प्राप्त प्रतिष्ठा और नानाभाई तथा उनके चिरंजीव शान्ति द्वारा अकोला में प्राप्त प्रतिष्ठा में पिताजी के उपर्युक्त गुणों की ही विरासत है।

"शाम को भोजन के वाद दो-चार गानेवाले हरिजन भजनीक तथा घर के लोग एकत्र होते। इस मण्डली में पिताजी वचनामृत सुनाते, निर्गुणदासजी की वातें वताते, और भक्तचिन्तामणि अथवा पुरुषोत्तम-चरित इत्यादि ग्रन्थों में से कुछ पढ़कर सुनाते। इसके वाद भजन गाते और अंत में आरती करते। आरती के वाद 'चेष्टा' के पद गाये जाते। वहुत दिन तक उन्हें यह अभिलाषा रहा करती कि अक्षर धाम में जाकर श्रीजी की पसन्दगी के पक्वान्न वनवाने के काम में लग जाऊँ। ठाकुरजी की पूजा-सेवा के हर काम में स्वाद और कला-कुशलता का उन्हें वड़ा ध्यान रहा करता था।

"पिताजी का स्वभाव सामान्यत: शांत था, फिर भी कभी-कभी उन्हें वड़ा क्रोध आ जाता। परन्तु इस क्रोध पर वाद में उन्हें वहुत पश्चात्ताप होता। तीव्र क्रोध आने पर भी किसीके साथ दुश्मनी कर लेना, उनके स्वभाव के वाहर की वात थी। नौकरों और गुमाश्तों पर वे अपने वच्चों के समान प्रेम करते। नौकरों के प्रति पिताजी जो आत्मीयता प्रकट करते और उन्हें जितनी आजादी देते थे, उसे सहने लायक निरभिमानता मुझमें नहीं थी। उस समय मेरे विचार ही ऐसे थे कि नौकर को नौकर होने का खयाल रखना चाहिए और अपनी मर्यादा का ध्यान रखकर वर्ताव करना चाहिए। इसलिए पिताजी के वर्ताव से मेरे मन में असन्तोष होता और मैं उसके प्रति अपना विरोध भी प्रकट करता। कभी-कभी अपना रोष प्रकट करने के लिए मैं नौकरों का अपमान भी कर देता। परन्तु इस पर मुझे पिताजी का उलहना सुनना पड़ता। मुझे वे हमेशा कहते कि 'नौकर' के मानी 'गुलाम' नहीं समझना चाहिए। अपने घर के आदमियों की तुलना में उन्हें हम नीचा क्यों समझें? नौकरों के प्रति मेरी असभ्यता पर कई वार पिताजी उनसे क्षमा भी माँगते। यह सव सहने की उदारता मुझमें नहीं थी। इसलिए मैं निश्चय करता कि जव तक वहाँ ये नौकर होंगे, मैं

अकोला नहीं जाऊँगा। परन्तु बाद में अपनी गलती समझ गया और जिन नौकरों पर नाराजी प्रकट की थी, उन्हींको मैंने बम्बई में फिर रख लिया।

"पिताजी की इस समभाव की वृत्ति के कारण उनमें वर्ण या जाति का अभिमान नहीं था। ब्राह्मणों के प्रति उनके मन में स्वाभाविक आदर था। परन्तु नीची गिनी जानेवाली जातियों के प्रति जरा भी तिरस्कार की भावना नहीं थी। हमारे असामी कुनबी या मुसलमान होते और मजदूरों में ईसाई, मराठे, अछूत आदि। अछूत का पेशा करनेवाले को छू लेने पर नहाने का संस्कार अभी कुटुम्ब से गया नहीं था। परन्तु उन्हें छोड़कर शेष सब लोग चौके के दरवाजे तक आ सकते थे। ठाकुरजी के सामने अथवा आस-पास एकत्र होकर वे भजन गाते और गवाते। पुराने ढंग का पंक्तिभेद तो माना जाता था, परन्तु किसी भी नीची जाति के मनुष्य के प्रति अपमान की भावना नहीं होती थी। एक बढ़ई का कण्ठ मधुर था। भजन गाने के लिए पिताजी उसे ठाकुरजी के सामने बैठाते। हमारे कई मित्र देशी ईसाई थे और अभी तक हैं। वे घर में आजादी से घूम-घाम सकते थे। पिताजी के पास काम करनेवाले मजदूरों, मालियों आदि के प्रति वे वात्सल्यभाव रखते। हमारे अहाते में झोंपड़े बनाने के लिए पिताजी ने उन्हें जगह दे रखी थी। यह पद्धति आज तक जारी है। इनमें अगर कोई बीमार होता, तो पिताजी फौरन दौड़कर उसका समाचार लेने जाते और दवा आदि का प्रबन्ध कर देते। यह उनका स्वभाव ही था। ईसाई मिशनरियों के लम्बे सहवास और देशाटन में बहुत अधिक समय बीतने के कारण भी शायद उन पर ये संस्कार पड़े हों।

"नौकरों, आश्रितों और निराधारों के प्रति पिताजी के दिल में जहाँ दया-दृष्टि थी, वहाँ सत्संगियों के प्रति उनके मन में बंधुदृष्टि थी। किसी सत्संगी को यदि आश्रय की जरूरत होती, तो वह उसे उनसे अवश्य मिलता।

"अनेक तरुणों ने उनसे व्यापार की तालीम पायी। कुछ समय अकोला में यह प्रशिक्षण प्राप्त करके वे शाखाओं में चले जाते और दो-चार वर्ष काम करके नारणदास राजाराम कंपनी के स्थायी गुमाश्ते बन जाते अथवा किसी अन्य व्यापारी के यहाँ नौकरी कर लेते। इन युवकों को पिताजी के पास धार्मिक संस्कार और शुद्ध व्यवहार की तालीम मिलती। इसके अतिरिक्त उनके सरल

स्वभाव और प्रेमभरे वर्ताव की छाप इन युवकों पर पड़े विना नहीं रहती। हर तरुण हमारे यहाँ उतनी ही आजादी, प्रेम और शांति का अनुभव करता, जितनी अपने माता-पिता के पास उसे मिलती। यही नहीं, वल्कि वह अपने घर पर रहने की अपेक्षा हमारे यहाँ रहना अधिक पसन्द करता। पिताजी के समय हमारे घर का वातावरण ऐसा रहता था। यह वातावरण विचार-पूर्वक अर्थात् प्रयत्नपूर्वक रक्खा जाता हो, ऐसी वात नहीं। पिताजी का तो यह स्वभाव ही था। वाहर के इतने आदमी हमारे घर में रहते, और आजादी से घूमघाम सकते थे कि इसे देखते हुए घर के वातावरण में जो पवित्रता पायी जाती थी, उसे आश्चर्यजनक ही मानना चाहिए।

"शिक्षापत्री की स्पष्ट आज्ञाओं और समाज की मर्यादाओं के पालन में पिताजी अत्यंत सावधान थे। किसी भी युवक को पर-स्त्री के साथ माँ, वहन अथवा लड़की के साथ भी एकांतवास नहीं करना चाहिए—इस आज्ञा का वे अक्षरशः पालन करते और कराते थे। चौदह वर्ष की मेरी एक छोटी वहन जिस कमरे में थी, वहाँ एक परिचित पुरुष चला गया, तो वह स्वयं उठकर वाहर नहीं चली गयी—इस भूल पर पिताजी ने उससे उपवास कराया था। विधवा स्त्री से कभी स्पर्श हो जाता, तो वे एक वार का भोजन छोड़ देते थे।

"माँ की मृत्यु के वाद पिताजी का जीवन विशेष उदासीन वनता गया, ऐसा लगता है। तव से अनेक कौटुम्बिक आपत्तियाँ आरम्भ हो गयीं। जवान लड़के-लड़कियों की मृत्यु, धन्धे का वन्द होना, खर्च तथा कर्ज का वोझ—इन सवने पिताजी को चिंता और दुःख में डाल दिया। सन् १८९८ से लेकर १९१४ तक के लगभग सोलह वर्ष पिताजी तथा वालूभाई के लिए अत्यंत संकट और संघर्षों के वर्ष थे। पिताजी का उद्वेग शान्त था। इन विपत्तियों को ईश्वराधीन और दैवाधीन समझकर शायद वे उदासीन से हो गये थे। विषाद और चिन्ता वालूभाई को भी थी, परन्तु वे अत्यंत पुरुषार्थी और प्रयत्नशील रहे। इसलिए अंत में नाव किनारे लग गयी।

"संवत् १९७३ (ई० सं० १९१६) की कार्तिक वदी सप्तमी को पिताजी ने शरीर छोड़ा। इसके आठ महीने पहले वे प्रायः विस्तर पर ही पड़े रहे। रोग किसी प्रकार का नहीं था—ऐसा लगता था; परन्तु शरीर का प्रत्येक अंग मानो

ढीला हो गया और प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय की शक्ति क्षीण हो गयी। मृत्यु के पहले-वाले माघ या फागुन में मैं पिताजी को अकोला से बम्बई ले आया। मेरा खयाल है कि उस रोज टोपीवाला की बिल्डिंग में पिताजी को कुर्सी पर बैठाकर जो ऊपर की मंजिल में ले गये, सो फिर वे जीवित अवस्था में नीचे नहीं उतरे।

"अगस्त १९१६ में मैंने वकालत छोड़ी और गोमती तथा मैं बम्बई आये। बम्बई में पिताजी की शुश्रूषा का काम ही मुख्य हो गया। वे प्रायः मेरे हाथ से ही भोजन करते। परन्तु अपनी लोभवृत्ति के कारण उनके अंतिम दिनों में उनकी सेवा करने के लाभ को मैंने गँवा दिया। अकोला में मेरे दो मुकदमे बाकी रह गये थे। उनके लिए मुझे वहाँ बार-बार जाना पड़ता था। दिवाली के तुरन्त बाद मैं अकोला गया। उस समय पिताजी की स्थिति गंभीर तो थी ही, परन्तु बीमारी ऐसी नहीं थी कि दो-तीन दिन के लिए बाहर न जा सकूँ। मैंने सोचा था कि मैं दूसरे ही दिन वापिस लौट आऊँगा। परन्तु मुकदमा ऐसा रुक-रुककर चलता रहा कि पंद्रह-सत्रह दिन अकोला में ही बीत गये। बम्बई से जो समाचार आते, उनसे बीमारी की गंभीरता का ठीक-ठीक अनुमान नहीं हो पाया। मेरे अकोला में पड़े रहने पर गोमती मुझे बराबर दोष देती रहती। मुकदमे की जिस दिन आखिरी पेशी थी, उस दिन बम्बई से एकाएक तार आया कि पिताजी की अंतिम घड़ी आ गयी। मैं अदालत में गया। जज से बातचीत की और दूसरे वकीलों को सूचना दे रहा था कि इतने में घर से आदमी मुझे बुलाने के लिए आ गया। मैं समझ गया। घर पर मृत्यु के सम्बन्ध में दूसरा तार पहुँच गया था। (कार्तिक वदी[1] ७ सं० १९७३ ता० १७–१२–१९१६) इस प्रकार धनलोभ के कारण अंतिम समय में मैं पिताजी की सेवा से वंचित रह गया।"

एक डायरी में नीचे लिखी टिप्पणी मिलती है :

"दूसरे दिन सवेरे मैं बम्बई पहुँचा। अभी तक मन शान्त था। परन्तु घर पहुँचते ही जीना चढ़ते-चढ़ते हृदय भर आया और रोना आ गया। परन्तु पूरी शान्ति नहीं हुई। अभी भी मन में लग रहा है कि जी भरकर रो लूँ, तो अच्छा हो। परन्तु कौन जाने क्या हो गया है, दिल में एक अजीब कठोरता आ गयी है।

---

[1]उत्तरप्रदेश और राजस्थान के अनुसार अगहन वदी

"आज दसवाँ दिन है। इच्छा न होते हुए भी खाना खा लिया। सगे-सम्बन्धी आये हैं। तेरहवीं के दिन किन-किन को बुलाना चाहिए—इस विषय में सलाह हो रही है। मृत्यु का भी उत्सव मनाने की प्रथा हमारे देश में पता नहीं किस प्रकार पड़ गयी है। हिन्दू-वैराग्य की यह परिसीमा तो नहीं ? जो भी हो, मेरा मन तो नहीं मानता। भीतर आग-सी जल रही है। दस दिन से मन में उद्वेग ही भरा हुआ है। शान्ति नहीं मिल रही है।"

और भी लिखा है:

"मैंने पिताजी के हाथ की मार काफी खायी है। फिर भी मैं उनका अत्यंत लाड़ला वेटा था। माँ जीवित थीं, तव भी मैं माँ की अपेक्षा पिताजी के साथ ही अधिक लगा रहता था। माँ का दूध न मिलने के कारण ठेठ वचपन से ही मैं माँ से कुछ अलग-सा पड़ गया था। मेरी कितनी ही आदतें इसी प्रेम के कारण पिताजी ने पूरी कीं। इसलिए उनके विना मेरा काम वहुत कम चलता। पांच-छह वर्ष का होने तक हाथ विगड़ने के डर से मैं अपने हाथ से खाना नहीं खाता था। जव पिताजी न होते, तव नौकर मुझे खाना खिलाते। परन्तु जव वे होते, तव तो उनके हाथों से ही खाने के लिए मैं जिद करता। मुझे अपने हाथ से खाने की आदत डालने के लिए पिताजी को काफी प्रयत्न करना पड़ा। रोटी का टुकड़ा हाथ में लेकर उसे एक सिरे पर इस तरह पकड़ता कि उसका दूसरा सिरा दाल में डुवोते हुए हाथ में कहीं दाल लग न जाय। मुंह में रखते समय भी यही ध्यान रखता कि उंगलियाँ खराव न होने पावें। दाल-चावल तो दूसरा कोई खिलाता, तभी खाता। यही वात साग-सब्जी की भी थी। वहुत से साग तो मुझे अच्छे ही नहीं लगते थे। लगभग तीस वर्ष की उम्र तक गिनती के साग ही मैं खाता था। दो-तीन साल वाद मैंने सव तरह के साग खाने शुरू किये। मुझसे छोटी वहनें अपने हाथ से खा लेतीं और मैं पिताजी के हाथों से खाता। इस पर मेरी वड़ी हंसी होती। कहते हैं कि लाड़ला वेटा वहुत तकलीफ देता है। तदनुसार मैं पिताजी को वहुत तंग करता। इससे चिढ़कर पिताजी कभी-कभी मुझे मार भी वैठते। उस समय मैं महसूस करता कि अपराध मेरा ही है और मन में पश्चात्ताप भी होता। मैं मन ही मन निश्चय करता कि पिताजी को खुश कर लूंगा। अपने को सुधारने के लिए

ठाकुरजी की प्रार्थना भी करता। परन्तु आदत कहीं जाती है? मैं फिर अपने स्वभाव पर आ जाता। मेरा स्वभाव इतना मानी था कि उलहना और मार मुझे अपमानजनक लगते और हृदय में घाव हो जाता। आज भी यदि कोई मुझे कड़ी बात कहता है, तो मेरे दिल में घाव-सा हो जाता है। पिता हों, गुरु हों या अन्य कोई गुरुजन हों, किसीका भी शब्द मैं सहन नहीं कर सकता था। इसलिए मैं यह भी प्रकट किये बिना नहीं रहता कि मुझे बड़ा बुरा लगा है। खुद मेरी गलती होती, तो भी मैं रूठकर बैठ जाता और खाना खाने से इन्कार कर देता। मुझे दुःख पहुँचानेवाला ही जब मुझे मनाने आता, तभी मैं मानता और खाना खाता। इस तरह कितनी ही बार मैं दोपहर के एक-एक दो-दो बजे तक भखा रहता। स्नेह के कारण पिताजी यह सब नहीं सह सकते थे। इसलिए अंत में वे मुझे मनाते। सच पूछिये तो कितनी ही बार मैं जानता था कि मुझे ही माफी माँगनी चाहिए, परन्तु बचपन में यह नहीं समझता था कि इस तरह माफी माँगना मेरा कर्तव्य है। ठाकुरजी के सामने पश्चात्ताप करके मैं माफी माँगता। परन्तु माफी मँगवाता दूसरों से ही। इतना होने पर भी इसी कारण पिताजी और मेरे बीच प्रेम बढ़ा।

"पिताजी की मृत्यु तक उनके प्रति मेरा आकर्षण और मेरे प्रति उनकी विशेष प्रेमवृत्ति बनी रही। वे मेरा बड़ा खयाल रखते। जिन दिनों मैं वकालत करता था, उन दिनों शाम को जब मैं कचहरी से लौटता, तो वे चबूतरे पर आराम-कुर्सी पर बैठे हुए मेरी राह देखते रहते और दूर से आता हुआ देखते ही अंदर जाकर मेरे लिए चाय बनाने को कहते। इसी प्रकार यदि मुझे कहीं दूसरे गाँव जाना होता या मैं कहीं बाहर से आता, तो खुद पहले उठ जाते और सारा प्रबन्ध करवा देते।

"बचपन में मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता कि मेरे मन में किसके प्रति अधिक भक्ति है—सहजानंद स्वामी के प्रति, पिताजी के प्रति या मेरे मित्र मंगलदास के प्रति? बुद्धि से मैंने निश्चय कर लिया था कि भक्ति इष्टदेव के प्रति ही अधिक होनी चाहिए। परन्तु हृदय में ऐसा विश्वास नहीं होता था। इसलिए अनेक बार मैं ठाकुरजी के सामने बैठकर प्रार्थना करता कि मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि मैं आपकी सच्ची भक्ति कर रहा हूँ या नहीं। यदि आज जितनी

समझ मुझमें उस समय होती, तो शायद मैं अपनी भक्ति को पिताजी और मित्र की ओर निःशंक भाव से वहने देता । उससे इष्टदेव के प्रति मेरी भक्ति भी अधिक शुद्ध और दृढ़ हो जाती। हुआ यह कि पिताजी और मित्र के प्रति अपने नैसर्गिक प्रेम को मैंने अपनी वुद्धि से मोह मान लिया। इसलिए इस प्रेम को वहाँ से हटाकर सहजानंदस्वामी के प्रति जवरदस्ती मोड़ने का प्रयत्न करता रहा। अर्थात् दूसरे की भक्ति में अपने-आपको भुला देने के वदले अपने स्वत्व को वढ़ाने में ही मेरा सारा प्रयास होने लगा। इस भूल से उत्पन्न कई दोष हमेशा के लिए मुझमें वने रहे। उस समय पिताजी और मित्र के लिए अपने-आपको अर्पण कर देने की जो शक्ति मुझमें थी, वह आज उस प्रमाण में मैं अपने अन्दर नहीं पा रहा हूँ। पिताजी अगर जीवित होते, तो सार्वजनिक काम में पड़ने के लिए मैं आश्रम में गया होता या नहीं—यह प्रश्न मेरे मनमें जव उठता है, तो ऐसा निश्चित उत्तर नहीं मिलता कि मैं अवश्य ही चला गया होता। यह तो निश्चित है कि उनके मन को ज़रा-सा भी दुःख होता, तो मैं नहीं जाता। वापू का अवलंव लेने में मैंने देखा कि पिताजी की कमी की पूर्ति हो रही है और मुझे लगता है कि अंत में यही निर्णायक कारण वन गया।

"यह भी संभव है कि परोक्ष इष्टदेव के प्रति और प्रत्यक्ष पिताजी और मित्र के प्रति इस प्रकार मेरी भक्ति वँट गयी, सो लाभदायक ही हुई। इष्टदेव के प्रति मेरी भक्ति इतनी तीव्र न होती, तो शायद पिताजी का वियोग मुझे मूढ वना देता और संसार में प्राणीमात्र के भाग्य में लिखा वियोग सहने की शक्ति मुझमें न आ पाती। परन्तु इष्टदेव की भक्ति और उनके धाम में श्रद्धा—इन दोनों ने मुझे ऐसा वल दिया कि मैं वचपन से ही किसी भी स्नेही की मृत्यु को सह सकता था। यही भक्ति सगुण साकार के स्थान पर निर्गुण निराकार के प्रति होती तो ? यह प्रश्न विचार करने योग्य है। मैंने इसका विवेचन अपनी 'जीवन शोधन' नामक पुस्तक में किया है।

"वचपन से मेरा यह दैनिक कार्यक्रम था कि जव हम एक साथ होते, तो मैं पिताजी के साथ ही उठता, खाता-पीता और सव काम करता। प्रायः मैं उन्हींके साथ सोकर उठता, उनके साथ ही नहाता और उन्हींके साथ पूजन भी करता। मंदिर में, रिश्तेदारों के यहाँ अथवा वाजार में भी उन्हींके साथ जाता।

वडताल भी दो-तीन वार उन्हींके साथ गया। भोजन के समय भी अपना पाटा उन्हींके पास रखवाता। वे न होते, तव भी मैं उन्हींकी थाली में भोजन करने की जिद करता और उसे अपना हक समझता। पिताजी जव कहीं दूसरी जगह जाते, तव मैं अपना यह हक मानता कि सवको काम-काज के वारे में मुझसे ही सूचनाएँ लेनी चाहिए। इस तरह मैंने अपने-आपको पिताजी का उत्तराधिकारी वना लिया था। अनेक छोटी-वड़ी वातों में मैं पिताजी का अनुकरण किया करता। उनकी वहुत सूक्ष्म आदतें भी मैं अपने में लाने का यत्न करता। उन्हें जो भजन कण्ठस्थ होते, उन्हें मैं भी कण्ठस्थ कर लेता। पिताजी मंदिर में झूला वाँवने जाते, तो उनके साथ मैं भी जाता। उन्होंने एक वार यह नियम किया कि जव तक 'चेष्टा' के भजन पूरे न हो जायँ तव तक मन्दिर में ही रहें। मैं भी इसमें उनके साथ रहा। इस तरह सभी वातों में पिताजी का साथ देने में कई वार मेरी पढ़ाई में वाधा पड़ जाती।

"दो-तीन वातों में पिताजी की और मेरी रुचि में भेद था। नौकरों के प्रति व्यवहार के वारे में मैं कह चुका हूँ। दूसरी वात खाने-पीने के स्वाद की है। पिताजी के स्वाद सुसंस्कृत और सूक्ष्म थे। मुझे स्वाद में वहुत रुचि न थी। उन्हें सागों और नमकीन आदि का शौक था। तरह-तरह की भजियाँ, मूठिया, पातरा आदि उन्हें वहुत पसन्द थे। मुझे ये सव अच्छे न लगते थे। मुझे मीठा अधिक पसन्द था। पिताजी तवला आदि वाद्यों के साथ भजन करवाना वहुत पसन्द करते। अकोला में भगवानजी महाराजको एक घण्टा भजन करने के लिए रख लिया था। शुरू में ऐसे भजनों के प्रति मेरा विरोध था। वम्वई में मैं हिण्डोला, एकादशी आदि के उत्सवों में पिताजी के साथ अवश्य जाता था। परन्तु यह शोर मुझे घर पर अच्छा नहीं लगता था। एक-दो भजन होने के वाद मैं हठ करता कि अव इन्हें वन्द करके कथा शुरू करें। कथा में भी वचनामृत का वाचन मुझे शुष्क लगता। निर्गुणदासजी की वातें, भक्तचिन्तामणि आदि कहानियोंवाली पुस्तकें मैं पसन्द करता और आग्रह करता कि वे ही पुस्तकें पढ़ी जायँ। इसका कारण मेरी छोटी उम्र ही थी। वाद में तो भजन और वचनामृत भी मुझे अच्छे लगने लगे।

"पिताजी के विना घर मुझे सदा सूना लगता रहता। कितने ही लोगों

को बच्चों के बिना घर सूना लगता है। मुझे घर में कोई वृद्ध पुरुष हो—जिनकी थोड़ी-बहुत सेवा करनी हो—तो प्रसन्नता होती है। वृद्धों के प्रति मेरे मन में जो भाव हैं, उनका परीक्षण करने पर मुझे ऐसा लगता है कि उसमें दो तरह की भावनाएँ हैं। एक तो मैं उनके सामने अपने-आपको बच्चे के रूप में देखता हूँ। दूसरी यह कि वे मानो मेरे सामने बच्चे के समान हैं और मैं उनके सुख-सुविधा की चिन्ता करनेवाला कोई बुजुर्ग हूँ। मैं शिक्षक का काम करता था और बच्चों का सहवास मुझे प्रिय था, फिर भी मैं बच्चों को अपने अधिक निकट नहीं ला सका था। इसी प्रकार बच्चों के बिना मुझे बहुत सूना-सूना लगा हो—ऐसा भी अनुभव मैंने नहीं किया। परन्तु पिताजी के बिना मुझे बहुत बुरा लगता। आज उनके अभाव में वृद्धों तथा गुरुजनों के प्रति मेरी वृत्ति एक प्रकार से पिता के समान ही है। कोई भी वृद्ध पुरुष मेरी कोई छोटी-बड़ी सेवा करते हैं, तो मुझे लगता है मानो वे मुझे दोष में डाल रहे हैं।

"मुझ पर पिताजी का जो प्रेम था, उसका वर्णन मैं कैसे करूँ? मैं उनका लाड़ला बेटा था और उनके बगैर मैं कुछ भी नहीं कर सकता था। एक बार इलाज के लिए मैं एक-डेढ़ महीना बडताल में रहा। तब पिताजी मेरे साथ रहने के लिए बड़ताल आये। उस समय मेरे लिये उन्हें जो चिन्ता हो रही थी, उसका वर्णन करना कठिन है। प्रत्येक पितृभक्त पुत्र को अपने पिता के बारे में ऐसा ही लगता होगा। फिर भी मुझे ऐसा ही लगता है कि शायद ही किसी के पिता ऐसे होंगे। उनके वियोग के कारण मैं घर की तरफ से उदासीन हो गया और उनकी जगह को भरने के लिए मैंने बापूजी का सहारा लिया। उन्होंने इसे पूरा भी किया। इसमें भी सन्देह नहीं कि पिता की योग्यता में बापूजी मेरे पिताजी को भी बहुत पीछे छोड़ देते हैं। बापूजी और मेरे बीच विचार-भेद तथा दृष्टि-भेद तो हैं ही। परन्तु रुचि-भेद नहीं अथवा नहीं के बराबर ही समझिये।"

सार्वजनिक सेवा-क्षेत्र में : १२ :

हम देख चुके हैं कि सार्वजनिक प्रवृत्तियों के प्रति उत्साह तथा सत्य और न्याय के लिए लड़ने और कष्ट सहने की तैयारी—ये गुण किशोरलाल भाई को अपने कुटुम्ब से विरासत में ही मिले थे। प्रारंभ में वे जातिसेवा का कार्य भी करते थे। भाई नीलकण्ठ लिखते हैं:

"बम्बई में झारोला जाति का एक विद्योत्तेजक फण्ड था। उसके इनाम देने के समारम्भों की योजना का सारा काम पू० किशोरलाल भाई करते। जाति का जो भी विद्यार्थी परीक्षा में पास होता, उसका नाम मँगाया जाता। उसे इनाम में दी जानेवाली पुस्तकों का निश्चय करना, उन्हें रस्सी से व्यवस्थित रीति से बाँधना, समारम्भ के लिए निमन्त्रण-पत्रिकाएँ भेजना, अध्यक्ष खोजना, यह सारा काम प्रायः वे अकेले ही करते। एक बार ऐसे समारम्भ के अध्यक्ष श्री हिम्मतलाल गणेशजी अंजारिया हुए, जो उन दिनों शिक्षा-विभाग में इन्स्पेक्टर थे। मुझे याद है कि उन्होंने काकाजी की व्यवस्था-शक्ति की बहुत प्रशंसा की थी।"

किशोरलाल भाई को राष्ट्र के काम में रुचि कैसे पैदा हुई, राष्ट्रीय नेताओं की ओर वे किस प्रकार आकर्षित हुए तथा उनके संपर्क में आये और बापूजी के पास चम्पारन किस प्रकार गये, इस सम्बन्ध में किशोरलाल भाई ने खुद ही लिख रखा है:

"मुझे ऐसा लगता है कि देशभक्ति और स्वदेशाभिमान के संस्कार बचपन से ही मेरे मन में पुष्ट हुए हैं। सन् १९०५ में बंगाल के टुकड़े किये गये। इसे लेकर देश में स्वदेशी का आन्दोलन खड़ा किया गया। उसका असर हम सभी भाइयों पर पड़ा। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और तिलक महाराज के भाषण पढ़-सुनकर हमारे सारे कुटुम्ब ने स्वदेशी की प्रतिज्ञा की। यह प्रतिज्ञा केवल कपड़ों तक ही सीमित नहीं थी। जीवन के लिए जितनी भी चीजें आवश्यक हों, वे सब स्वदेशी ही खरीदें और यदि ऐसी चीजें स्वदेशी न मिल सकें, तो उनके बगैर काम

चलायें—ऐसी हमारी प्रतिज्ञा थी। कठोर आग्रह के साथ वर्षों तक हमने इस प्रतिज्ञा का पालन किया। पुराने कपड़ों के बदले कभी-कभी काँच के प्याले जैसी चीजें यदि घर में खरीदी जाती, तो हम उन्हें फोड़ डालते।

"दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोखले आदि को मैं साधु-सन्तों के समान पूज्य मानता। जिस प्रकार अपने संप्रदाय के प्रसिद्ध और पवित्र साधु-सन्तों के सत्संग के लिए मैं प्रयत्न करता, उसी प्रकार इन लोगों का सत्संग और संपर्क पाने की भी मुझे बड़ी अभिलाषा रहा करती थी। परन्तु बापूजी से पहले ऐसे किसी प्रथम पंक्ति के नेता के परिचय में आने का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हो सका। देश की सेवा में अपना जीवन समर्पित करनेवालों में सबसे पहले मेरा परिचय श्री देवधर से हुआ। उसके बाद भारत-सेवक-समाज (सर्वेण्टस् ऑफ इण्डिया सोसायटी) के अन्य सेवकों से भी मेरा परिचय हुआ।

"साम्प्रदायिक साधुओं में ब्रह्मचारी श्री मुनीश्वरानंदजी, अनंतानंदजी, स्वामी श्री हरचरण दासजी, रघुवीरचरण दासजी, रामचरण दासजी आदि के उपदेशों का मुझ पर बड़ा गहरा असर पड़ा है।

"अकोला में मैं वकालत करता था, तब माननीय श्री गोखले और सर फिरोजशाह मेहता की मृत्यु हो गयी। गोखले की मृत्यु से मुझे अतिशय दुःख हुआ। मैं कभी उनके सीधे संपर्क में नहीं आया था। कॉलेज के दिनों में केवल एक बार मैंने उनका अराजनैतिक विषय पर भाषण सुना था। परन्तु उसीसे मेरे मन में उनके प्रति अत्यधिक पूज्यभाव पैदा हो गया। मुझे लगा कि उनकी मृत्यु से भारत अत्यंत अभागा हो गया। पिताजी को किसी प्रकार मेरे इन विचारों का पता लग गया। उसके बाद वे बम्बई गये। वहाँ से उन्होंने इतना ही लिखा कि 'यदि सेवा में ही जीवन अर्पण करना है, तो धर्म के द्वारा—अर्थात् स्वामी नारायण-संप्रदाय की सेवा में—जीवन अर्पण करने के विचार का पोषण करना'। इस आदेश को मैंने अपने हृदय में धारण कर लिया। पिताजी की सहानुभूति मेरे लिए कोई ऐसा वैसा—सामान्य-बल नहीं था। नानाभाई की तो ऐसी बात में सहानुभूति थी ही। बालूभाई की भी हमदर्दी रहती। परन्तु आर्थिक कठिनाइयाँ और इनकी चिन्ता उन्हें एक विचार पर स्थिर नहीं रहने देती थीं। उनका मन हमेशा दुविधा में रहा करता।

"पिताजी की मृत्यु ने कुटुम्ब के साथ मुझे बाँध रखनेवाले एक बन्धन को तोड़ दिया। वकालत छोड़कर मैं बम्बई आया, तब भारत-सेवक-समाज का दफ्तर हमारे पड़ोस में ही था। उसके साथ मेरा संपर्क बढ़ गया। मैं बी० ए० में था, तभी से श्री देवधर मुझे ललचाते रहते थे। अकोला से बम्बई आने के बाद मैं ठक्कर बापा के संपर्क में आने लगा। इंदुलाल याज्ञिक भारत-सेवक-समाज में गये, तब मैं अकोला में वकालत करता था। परन्तु वे एक वर्ष नागपुर में रहे। इस कारण एक-दो बार वे मुझसे मिलने के लिए आये थे। वे मेरे पुराने मित्र थे। इस प्रकार भारत-सेवक-समाज के प्रति मेरा बहुत आकर्षण था। परन्तु बाद में मेरा उसके प्रति यह मोह कुछ कम हो गया। अकोला में और बम्बई में मुझे एक अजीब अनुभव हुआ। तिलक और गोखले के अनुयायी ऐसा मानते थे कि दूसरे पक्ष की निन्दा किये बिना या उससे लड़े बिना अपने पक्ष की और देश की सेवा नहीं हो सकती। मैं गोखले की पूजा अवश्य करता था, परन्तु मेरे मन में तिलक के प्रति भी बहुत भारी आदर था। अकोला में इनके अनुयायी भी मेरे मित्रों में थे। जिस प्रकार गोखलेपक्ष के श्री महाजनी के साथ मैं काम करता, उसी प्रकार तिलकपक्ष के श्री बापट के साथ भी अच्छी तरह काम कर सकता था। इस कारण मुझे लगा कि भारत-सेवक-समाज के साथ मेरी पटेगी नहीं। इसके अतिरिक्त धार्मिक क्षेत्र में काम करने का पिताजी का आदेश तो था ही। भारत-सेवक-समाज में देश के लिए त्याग करने की भावना अवश्य थी, परन्तु मुझे लगता था कि मेरी कल्पना के अनुकूल धर्म-भावना का उसमें सर्वथा अभाव है।"

किशोरलाल भाई ने बापू का नाम पहले-पहल कब सुना और वे उनके प्रत्यक्ष परिचय में कैसे आये—इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है :

"बम्बई के हाईस्कूल में मैं अंगरेजी की पाँचवीं कक्षा में पढ़ता था। उस समय मेरी उम्र लगभग १३ वर्ष की रही होगी। तभी मैंने पहले-पहल बापू का नाम सुना। बापू के सबसे बड़े लड़के हरिलाल गांधी मेरे ही वर्ग में पढ़ते थे। एक बार हमारे संस्कृत शिक्षक विद्यार्थियों से दूसरी बातें कर रहे थे। तब हरिलाल ने कहा था कि वे शीघ्र ही शाला छोड़ देनेवाले हैं, क्योंकि उन्हें दक्षिण अफ्रिका जाना है। वहाँ उनके पिता बैरिस्टर हैं। वे वहाँ अंगरेजी,

गुजराती, तमिल आदि तीन-चार भापाओं में एक साप्ताहिक चला रहे हैं। —यह वात वहीं रह गयी।

"इसके वाद दस वर्प वीत गये। मैं वकील वनकर अकोला गया। उस समय दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह की लड़ाई अपनी आखिरी मंजिल पर थी। वहाँ की खवरों से अखवार भरे रहते थे। स्वर्गीय गोखलेजी ने तथा भारत के उस समय के वाइसराय ने उनका पक्ष लिया था। जगह-जगह सभाएँ हो रही थीं और लड़ाई की सहायता के लिए चन्दा भी इकट्ठा किया जा रहा था। एक उत्साही नौजवान के रूप में मैंने भी उसमें हाथ वँटाया था। गांधीजी के साथ मेरा यह दूसरा परिचय था।

"इसके वाद फिर चार वर्प वीत गये। मैं वम्वई में था। गिरमिट-प्रथा का विरोध करने के लिए एक सभा हो रही थी। वक्ताओं में गांधीजी का भी नाम था। मैं तथा मेरे वड़े भाई ऐसी सभाओं में जाना नहीं भूलते। हम दोनों वहाँ गये। गांधीजी का भापण मैंने पहली वार सुना। वे अंगरेजी में तथा गुजराती में भी वोले थे। गुजराती ठेठ काठियावाड़ी थी। सभा समाप्त होने पर गांधीजी समुद्र के किनारे घूमने के लिए चले गये। मैं तथा मेरे वड़े भाई भी उनके पीछे-पीछे हो लिये। श्री पोलक गांधीजी के साथ थे। समुद्र के किनारे से वे गांवदेवी में श्री रेवाशंकर जगजीवनराम के घर गये। हमें भी अपने घर लौटना था। इसलिए उन्हें प्रणाम कर हम भी चले आये। इस समय श्री पोलक ने हमें संकेत करके कहा—The faithful two—दो श्रद्धालु।

"हम घर पहुँचे और भोजन किया। इतने में ठक्कर वापा का सन्देश आया कि गांधीजी भारत-सेवक-समाजवाले मकान में आनेवाले हैं। अगर तुम लोग आना चाहो, तो आ जाओ। हम तुरन्त वहाँ गये। गांधीजी, ठक्कर वापा, श्री शंकरलाल वैंकर तथा अन्य एक दो व्यक्ति वहाँ थे। हम भी पीछे की कुर्सियों पर जाकर वैठ गये। आश्रम के मकान वनाने के वारे में वातें चल रही थीं। गांधीजी की राय थी कि एकदम कच्चे झोपड़े वनाये जायँ। ठक्कर वापा 'सर्वेण्टस् ऑफ इण्डिया सोसाइटी' में शरीक हो गये थे, फिर भी अपना इंजीनियरी का धन्धा भूले नहीं थे। उनकी दलील यह थी कि कच्चे मकानों की वार-वार मरम्मत करनी पड़ती है। इसलिए अंत में जाकर वे पक्के मकानों

के समान ही महँगे पड़ जाते हैं। फिर सार्वजनिक मकान जहाँ तक संभव हो, मजबूत होने चाहिए। गांधीजी की राय यह थी कि भले ही पाँच-दस वर्ष में मकान फिर से नया बनाना पड़े, तो भी सस्ते मकान बनाना अधिक अच्छा। शंकरलाल बैंकर की भूमिका एक दूसरी ही थी। उनकी दलील यह थी कि भारतीय हमेशा के लिए झोपड़ों में ही रहें—यह वे पसन्द नहीं करते। उनकी महत्त्वाकांक्षा यह थी कि प्रत्येक भारतीय को अच्छा और पक्का मकान मिले। इसलिए गांधीजी को सस्ते मकान बनवा करके खराब मिसाल नहीं पेश करनी चाहिए। अन्त में आश्रम के मकान तो पक्के ही बने। गांधीजी सेवाग्राम गये, तब झोंपड़ों में रहने की अपनी अभिलाषा पूरी कर सके।

"मुझे याद नहीं कि उस दिन बापू से मेरा परिचय कराया गया या नहीं। बड़े भाई को तो परिचय की जरूरत भी नहीं थी। अगली कांग्रेस में वे बापू के साथ ही ठहरे थे। उस कांग्रेस में बापू का चश्मा खो गया था और बालूभाई का चश्मा उन्हें लग गया। इसलिए बालूभाई ने उन्हें वह दे दिया। उस समय बालूभाई को क्या पता था कि वे आगे चलकर अपने भाई को ही अर्पण कर देंगे और अंत में वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा संपूर्ण परिवार बापू को अर्पित हो जायगा।

"दो एक दिन बाद भारत-सेवक-समाज के मकान में कुछ भंगियों की एक खानगी सभा बापू से मिलने के लिए रखी गयी थी। ठक्कर बापा ने सूचना भेज दी थी। इसलिए हम तीनों भाई इस सभा में गये और भंगियों के साथ मिलकर बैठे। हमारे लिए यह कुछ नया ही अनुभव था। 'कुछ' इसलिए कह रहा हूँ कि ईसाई हरिजनों के साथ तो हम अकोला में मिलते थे। मेरे पिताजी तथा मँझले भाई का स्थानीय मिशनरियों के साथ काफी सम्बन्ध था और अपने कारखाने में वे हरिजनों को रखते भी थे। परन्तु हिन्दू भंगियों के साथ सटकर बैठने का यह पहला ही प्रसंग था। घर लौटने पर हमारे सामने यह प्रश्न खड़ा हुआ कि हमें नहाना चाहिए या नहीं? बालूभाई को अभी पूजन करना था। इसलिए उन्होंने तो नहाने का निश्चय किया। नानाभाई ने कहा कि मैंने तो भोजन भी कर लिया है। इसलिए केवल कपड़े बदल लूँगा। मैंने हाथ पैर धोकर संतोष कर लिया।

"इसके वाद एक दिन फिर भारत-सेवक-समाज के ही कार्यालय में ठक्कर वापा से मेरी भेंट हो गयी। उस समय वापू चंपारन में थे। वहाँ स्वयंसेवक भेजने के वारे में ठक्कर वापा के पास वापू का एक पत्र आया था। वह उन्होंने मुझे पढ़ने के लिए दिया, और पूछा कि मैं वहाँ जा सकूँगा? मैंने तुरन्त 'हाँ' कह दिया। फिर दफ्तर गया और वालूभाई से इजाजत माँगी। उन्होंने कुछ आनाकानी की। परन्तु इजाजत दे दी। फिर घर जाकर गोमती से वात की। अगर मैं उसे भी साथ ले जाऊँ, तो चम्पारन जाने में उसे आपत्ति नहीं थी। परन्तु मुझे अकेला जाने देने के लिए वह तैयार नहीं थी। हम दोनों जाना चाहते हैं—यह ठक्कर वापा से कहने में मुझे वड़ा संकोच हो रहा था और वापू से यह वात पुछवाने की तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था। उस रात हमारे वीच कुछ कहासुनी भी हुई। परन्तु मैं अपनी वात पर अड़ा रहा। गोमती ने राजी-खुशी अपनी संमति नहीं दी। फिर भी मैं सवेरे की गाड़ी से वेतिया जाने के लिए रवाना हो गया।

"मुझे दिन में दो-वार चाय पीने की आदत थी, यद्यपि खाने-पीने में अव तक मैं पुरानी परम्परा का वड़ा आग्रही था। सभा-सम्मेलनों में जाता, तो वहाँ फल भी नहीं लेता था। फिर भी स्टेशनों पर और होटलों में दूसरों के जूठे प्यालों में विकनेवाली 'ब्राह्मणी' चाय पीने की आदत डाल ली थी। वेतिया जाते हुए वड़े स्टेशनों पर चाय वेचनेवालों को ढूंढा। परन्तु युक्तप्रदेश में गरमी के दिनों में वड़े स्टेशनों पर भी 'ब्राह्मणी' चाय वेचनेवाले नहीं मिले। मुझे रात को लखनऊ में ठहरना था। गाड़ीवाला मुझे एक हिन्दू लॉज में ले गया। रात हो गयी थी। खाना खाने की इच्छा नहीं थी। इसलिए चाय मँगायी। होटलवाले ने मेरे लिए खास तौर पर चाय वनवायी। गुजरात काठियावाड़ में तो छोटा-से-छोटा गाँव भी विना चायवाला नहीं मिलेगा। इसलिए मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि लखनऊ जैसे वड़े शहर के एक प्रतिष्ठित माने जानेवाले होटल में चाय कैसे नहीं मिल सकी। वहाँ के लोग चाय वनाना भी क्या जानें? मुझे जो चीज़ पीने के लिए दी गयी थी, वह चाय के नाम पर कोई काढ़ा जैसा था। वह पीकर मैं सो गया। मैंने यह तो मान ही लिया था कि वेतिया में चाय नहीं मिलेगी और मुझे तो इसकी आदत हो गयी थी। चाय न मिलती,

तो मुझे कुछ भी नहीं सूझता, सिर चढ़ जाता। फिर भी वह छूटती नहीं थी।

"दूसरे दिन सवेरे दस वजे वेतिया पहुँचा। वापू से मिला। नहाने-धोने के वाद वापू ने मुझे बुलाया और पूछा—"चन्दूलाल दवे के भेजे पत्र के लेखक आप ही हैं?" मैंने कहा—"जी हाँ"। इसके वाद उन्होंने स्वामी नारायणीय ब्रह्मचर्य के विपय में कुछ चर्चा की। उसका मेरे विचारों पर कोई असर नहीं पड़ा। परन्तु परिचय न होने के कारण मैंने अधिक चर्चा नहीं की। इस चर्चा की मैंने अपेक्षा भी नहीं की थी और न मैं उसके लिए तैयार ही था। फिर मेरे स्वास्थ्य को देखकर वापू ने यह आशंका प्रकट की कि मैं चंपारन में काम नहीं कर सकूँगा। उन्होंने सुझाया कि यदि आपको राष्ट्रीय काम करना ही है, तो आप आश्रम पर जायँ। वहाँ एक राष्ट्रीय शाला है। उसमें काम करें। फिर आश्रम की शाला के विपय में संक्षेप में सारी वात समझायी। घर की स्थिति के वारे में पूछताछ की। यदि मैं अपने खर्च से शाला में काम कर सकूँ तो अच्छा, नहीं तो निर्वाह-व्यय देने की वात भी कही। वहाँ क्या खर्च लगेगा, इसकी कल्पना मुझे नहीं थी। वापू ने कहा कि तीन जनों के लिए मासिक ४०) काफी होंगे। कुछ भोंदू तो वना ही, परन्तु सोचा कि गुजरात में जीवन सस्ता होगा। वापू को मैंने एक धार्मिक पुरुप और इसलिए भोला भक्त जैसा समझ लिया था। परन्तु उन्होंने जिस वारीकी के साथ मेरी जाँच की, उसे देखकर मेरे विचार एकदम वदल गये। मैं जान गया कि उन्हें भोला समझने में मेरा अपना भोलापन था। मुझे यह भूलना नहीं चाहिए था कि वे वनिया और वकील दोनों थे। परन्तु इससे वापू के प्रति मेरे मन में आदर जरा भी कम नहीं हुआ, उलटे वढ़ ही गया। भोले नहीं हैं, इसलिए चालाक और धूर्त हैं—ऐसा मुझे जरा भी नहीं लगा।

"वापू ने मुझसे आग्रह किया कि मुझे आश्रम पर जाकर राष्ट्रीय शाला में काम करना चाहिए। उन्हें लगा कि चम्पारन में काम करने के लायक मेरा शरीर नहीं है। इसलिए उन्होंने सुझाया कि मैं पहली ही गाड़ी से रवाना हो जाऊँ। इससे मुझे निराशा तो हुई, परन्तु उनकी आज्ञा शिरोधार्य करने के सिवा कोई चारा नहीं था। दोपहर में वालूभाई का पत्र भी वापू के पास पहुँच

गया। उसमें उन्होंने मेरे स्वास्थ्य के वारे में चिन्ता दिखायी थी और गोमती को भेजने की इच्छा भी प्रकट की थी। इससे तो वापू का निर्णय अव और भी पक्का हो गया। मैं यह भी कह सकता हूँ कि उन्होंने मुझे लौट जाने की आज्ञा दे दी। मैंने उनसे कहा कि आश्रम की शाला में काम करने के विपय में विचार करके मैं अपना निर्णय वम्वई से आप को सूचित करूँगा, परन्तु उन्होंने मुझे अपने जाल में तो पूरी तरह खींच ही लिया था।

"दूसरे दिन दोपहर में मैं लौटा। रास्ते में एक रात छपिया में मैं ठहरा। सहजानंद स्वामी की जन्मभूमि की यात्रा की। वहाँ से फिर लखनऊ होता हुआ वापिस वम्वई आ गया। लखनऊ में फिर उसी होटल में ठहरा। परन्तु इस वार चाय नहीं मँगायी। रास्ते में मैंने चाय छोड़ देने का निश्चय कर लिया था। उसके वाद कई वर्ष तक मैंने चाय नहीं ली। हाँ, इंफ्लुएंजा की वीमारी के वीच कुछ दिन ली थी। उसके वाद १९२८ की लम्वी वीमारी में फिर चाय पीना शुरू किया। तव से लगभग नियमित रूप से पीता हूँ। चाय को पुनः शुरू करने में दो-तीन मनोवृत्तियों ने काम किया है। चाय छोड़ने से सवेरे और शाम को—खास तौर पर सवेरे का—कुछ गरम पेय लेना छूट गया, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मुझे अनुभव हुआ कि कुछ-न-कुछ गरम पेय लिये वगैर मेरा काम नहीं चल सकता। मसाले का काढ़ा, गेहूँ की काफी, गेहूँ के आटे की राव, वुन्द के वीजों की काफी—इस तरह एक के वाद एक कई प्रयोग किये गये। कुछ समय तक केवल दूध ही लेता रहा। परन्तु केवल दूध अनुकूल नहीं आया। वहुत दिन तक तो वह मुझे भाया भी नहीं। सभी पेय शारीरिक अड़चन अथवा तैयारी सम्वन्धी कोई-न-कोई असुविधा खड़ी कर देते। आसपास के जिन लोगों ने चाय छोड़ दी थी, उन्होंने प्रायः वुंद के वीजों की कॉफी लेना शुरू कर दिया था। यह भी खर्च की दृष्टि से सस्ती नहीं थी। फिर इसके विपरीत परिणाम चाय से किसी प्रकार कम नहीं दिखे। इससे पेट की अफरा और अम्लता शायद और भी अधिक होती थी और वीमारी में तो कॉफी की अपेक्षा चाय ही अधिक अनुकूल मालूम होती। चाय-वागानों में मजदूरों पर अत्याचार होते हैं। यह एक नैतिक पहलू अवश्य था, परन्तु वह तो कॉफी पर भी लागू होता है। इसलिए चाय और कॉफी के वीच भेद करना मुझे कोई सार नहीं लगा। दोनों को

ही छोड़ना हितकर है। दोनों मुझे अखरते हैं। फिर भी किसी स्फूर्तिदायक पेय की आवश्यकता तो रहती ही है।

"बम्बई पहुँचने पर सबके साथ बातचीत की। बरजीवन भाई को भी लिखा। अगर साथ में ले जा सकूं, तो गोमती का विरोध तो था ही नहीं। परन्तु धन्धा छोड़कर मेरा आश्रम जाना बालूभाई को नहीं जँचा। बरजीवन भाई की राय यह थी कि पहले एक वर्ष के लिए जाऊँ और देखूं कि वह अनुकूल पड़ता है या नहीं। इस पर बालूभाई सहमत हो गये। यह भी तय हुआ कि बालूभाई का बड़ा लड़का नीलकण्ठ हमारे साथ जाय। बाद में तो उनका छोटा लड़का सुरेन्द्र भी वहाँ आ गया।

"अभी मैं वर्णान्तर-भोजन के लिए तैयार नहीं हो सका था। स्वयं मुझे इसमें कोई अनीति नहीं मालूम होती थी, परन्तु मुझे ऐसा लगता था कि जो काम मैं खुलेआम नहीं कर सकता, उसे खानगी तौर पर करने में पाप है। फिर मैं उन दिनों यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता था कि वर्णान्तर-भोजन में किसी प्रकार का भी दोष नहीं है। हाँ लोग दरगुजर कर लें—वह बात अलग है। इसलिए आश्रम में भोजन करने के लिए मैं तैयार नहीं था।"

किशोरलाल भाई आश्रम में किसीको नहीं जानते थे। परन्तु उनके एक परिचित मेरे भी परिचित थे। उन्होंने किशोरलाल भाई के सामने मेरा उल्लेख करते हुए कहा कि मैं दो-एक महीने से आश्रम में आया हूँ। मैं उन्हें पत्र दूंगा। फिर मैंने किशोरलाल भाई को पत्र दिया कि आप आश्रम आयें, तब मेरे साथ ही रहें। मुझे आश्रम के चौके में भोजन करने में कोई आपत्ति नहीं थी। आश्रम पर गया, तभी से वहाँ भोजन करने लग गया था। परन्तु सुविधा की दृष्टि से मैंने तथा प्रो० साकलचन्द शाह ने—वे भी आश्रम की शाला में काम करने के लिए आये थे—आश्रम के पास ही एक स्वतंत्र मकान किराये पर ले रखा था। किशोरलाल भाई जब आश्रम में आये, तब मेरे पास ही ठहरे और जब तक दूसरा घर नहीं मिला, तब तक हमारे साथ ही भोजन करते रहे। उन्हें देखकर और उनके साथ बातचीत करते ही मैं उनकी ओर आकर्षित हो गया और तभी से वे मेरे श्रद्धेय मित्र और मार्गदर्शक बन गये।

सत्याग्रह-आश्रम में शिक्षण : १३ :

आश्रम की राष्ट्रीय शाला में किशोरलाल भाई जिस समय शामिल हुए, उस समय उन्हें शिक्षण का कोई विशेप अनुभव नहीं था। और यों तो हम शिक्षकों में काकासाहव को छोड़कर अन्य किसी भी शिक्षक को कोई अनुभव नहीं था। हमारी मुख्य महत्त्वाकांक्षा तो वापू के मातहत काम करने की थी। उन्होंने भारत में आकर राष्ट्रीय शिक्षण का प्रयोग शुरू किया और उसमें शरीक होने के लिए हमसे कहा। तव हमने सोचा कि अच्छी वात है। यदि इस प्रकार गांवीजी के साथ काम करने का अवसर मिलता है, तो यही सही। काकासाहव की स्थिति हम सवसे सर्वथा भिन्न थी। उन्होंने स्वयं राष्ट्रीय शिक्षण के कई प्रयोग किये थे और कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्तिनिकेतन में काम करके विशेप अनुभव प्राप्त कर लिया था। इसलिए उनके पास राष्ट्रीय शिक्षण की एक निश्चित दृष्टि थी। हमारी शाला में आचार्य के स्थान पर प्रो० साकलचन्द शाह थे, तथापि शाला की नीति-निर्वारण का तथा शिक्षकों के मार्गदर्शन का काम काकासाहव ही करते। विनोवा उन दिनों वेदों के अध्ययन के काम को पूरा करने के लिए वापू से आज्ञा लेकर वाई गये थे। लगभग एक वर्प वाद वे लौटे। तव नीति-निर्वारण के काम में वे भी योग देने लगे। वापू अपनी ओर से इस प्रयोग में मुख्यतः काकासाहव को ही जिम्मेवार समझते थे। संगीत-शास्त्री पंडित खरे, हरिहर भाई भट्ट, जुगतराम भाई तथा अप्पा साहव पटवर्धन शाला शुरू होने पर एक-डेढ़ वर्ष के भीतर ही उसमें शामिल हुए थे।

हमारी शाला के विपय में भाई नीलकण्ठ लिखते हैं :

"राष्ट्रीय शाला का काम आश्रम के पास के एक वँगले में चलता था। प्रभुदास गांवी, गिरिवारी कृपालानी, कान्तिलाल परीख, प्रीतमलाल मेहता और मैं, इस तरह पाँच वड़े विद्यार्थी और आश्रम-वासियों के दस-ग्यारह दूसरे वच्चे—इस तरह कुल पंद्रह विद्यार्थी हमारी शाला में थे। श्री किशोरलाल

काका, नरहरि भाई, साकलचन्द शाह, काकासाहब तथा फूलचंद भाई—हमारे शिक्षक थे। ऐसा याद पड़ता है कि काकासाहब तथा नरहरि भाई के साथ पू० काका शिक्षण के विषय में चर्चाएँ करते और धीरे-धीरे अपने विचार भी स्थिर करते जाते। वहाँ से फिर आश्रम साबरमती चला गया। वहाँ प्रारम्भ में तो हम तम्बुओं में रहते थे। फिर झोंपड़ियाँ बनाकर उनमें रहने लगे। लगभग डेढ़ वर्ष में मकान तैयार हो गये। तम्बुओं में रहते समय वर्षा होने पर सामान को उठाकर यहाँ से वहाँ रखना पड़ता। खाना पकाकर रखते, तो उसे कुत्ते खा जाते या बिगाड़ डालते। इन सब बातों से गोमती काकी बहुत तंग आ जातीं। तब काकासाहब उन्हें समझाते। सारा काम-काज खुद ही करना पड़ता था। इसलिए काका दमे के दौर में भी काम करते जाते और हाँफते जाते। उनकी तबीयत अच्छी न रहती, फिर भी वे खेती की छोटी जगह में पानी देते, सवेरे जल्दी उठकर प्रार्थना में जाते। इस तरह का सारा काम वे आग्रहपूर्वक बिला नागा करते। मैं और चि० सुरेन्द्र उनके पास दो वर्ष रहे। हम भी उनके काम में यथाशक्ति सहायता करते। अपने लायक काम करते और पढ़ते भी।"

किशोरलाल भाई अपने विषय में लिखते हैं:

"मैं जब कॉलिज में था, तभी से मेरा दिल प्राथमिक शिक्षा की ओर आकृष्ट हो गया था। इंटर अथवा जूनियर बी० ए० में था, तब इस विषय पर मैंने एक निबन्ध भी पढ़ा था और मुझे याद है कि उसमें मैंने पाठ्यक्रम की एक योजना भी बतायी थी। मातृभाषा के अतिरिक्त हिन्दी, धार्मिक शिक्षण, औद्योगिक शिक्षण और ग्रामजीवन का सुधार—ये विषय उसमें मैंने रखे थे। यह निबन्ध स्वभावतः उन दिनों जैसी मेरी बुद्धि थी, उसीके अनुसार और रूढ़ मार्ग के अनुसार लिखा गया होगा—ऐसा मेरा खयाल है। शिक्षण का अनुभव तो था ही नहीं। इसलिए दूसरों के विचारों का दोहन अथवा तर्क द्वारा उसमें कुछ शोधन ही किया होगा। परन्तु शिक्षण के क्षेत्र में अपने जीवन को लगाने की अभिलाषा का पोषण उस समय से ही मन में होता रहा है। परन्तु यह कल्पना तो थी नहीं कि जीवन का प्रवाह इसी दिशा में मुड़ेगा। गांधीजी के संपर्क के कारण पुरानी अभिलाषाएँ जागृत हो गयीं।"

किशोरलाल भाई आश्रम की शाला में शरीक हो गये, फिर भी स्वामी-

नारायण संप्रदाय के मार्फत सेवा करने के विषय में पिताजी के आदेश को वे भूले नहीं थे। एक वर्ष अथवा जरूरत हो, तो अधिक समय भी राष्ट्रीय शाला में काम करके, कुछ अनुभव प्राप्त करके संप्रदाय के द्वारा एक विद्यापीठ की स्थापना करनी चाहिए—इस तरह की भी अभिलाषा उनके मन में थी। परन्तु कुछ ही वर्षों में उन्होंने देख लिया कि संप्रदाय का वातावरण इस तरह की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है। संप्रदाय के साधुओं अथवा संप्रदाय के प्रमुख गृहस्थों में से उनका साथ देने के लिए कोई तैयार नहीं था।

स्वामीनारायण-संप्रदाय द्वारा नियत आचार के अनुसार किशोरलाल भाई नियमपूर्वक पाठपूजा आदि करते। कॉलेज में जाते समय भी तिलक लगाकर जाते और उसके बीच में पाई के आकार की कुमकुम की एक बिन्दी लगाते। आश्रम में आने पर भी उन्होंने यह प्रथा जारी रखी थी। पूजा करके वे ठाकुरजी के सामने नैवेद्य के लिए थाली रखते और कहते—

जमो थाल जीवन जाऊँ वारी ॥
धुओ कर चरण, करो त्यारी ॥ जमो० ॥
जेसो मेल्या बाजोठ ढाली।
कटोरा, कंचन नी थाली।
जले भर्या चंबु चोखाली ॥ जमो० ॥

(हे भगवन् जीमिये, मैं आप पर निछावर हो रहा हूँ। हाथ-पैर धोकर तैयारी कीजिये। देखिये, आपके लिए पीढ़ा बिछा दिया है। इस पर विराजिये। सोने की थाली और कटोरे में भोजन परोसा है और स्वच्छ लोटे में जल भी रख दिया है।)

ये पंक्तियाँ वे ऊँचे स्वर में गाते। इन्हें सुनकर हमें कुछ तमाशा-सा लगता। दूसरी ओर किशोरलाल भाई जैसे तीव्र बुद्धि वादी पुरुष की इतनी भारी श्रद्धा देखकर आश्चर्य भी होता।

भोजन के विषय में पंक्तिभेद अभी उन्होंने छोड़ा नहीं था—यह तो पहले ही कहा जा चुका है। कोचरब में तो आश्रम के पास एक किराये के मकान में हम रहते थे। परन्तु उन दिनों अहमदाबाद और कोचरब में भी बहुत जोरों का प्लेग फैला था। इन्हीं दिनों साबरमती आश्रम के लिए बापू ने जमीन

खरीदी थी। उस समय वहाँ एक भी मकान नहीं था और न कोई जरे पेड़। फिर भी गांधीजी ने चम्पारन से लिखा कि शहर में भयंकर प्लेग फैला है, इसलिए आश्रम के सभी लोगों को नयी खरीदी हुई जमीन पर जाकर रहने लगना चाहिए। इसलिए जमीन साफ की गयी। कहीं से चार तम्बू लाये गये। उन्हें खड़ा करके हम सबने उनमें रहने का निश्चय किया। चौके के लिए सिरकी का एक मण्डप तैयार कर लिया। १९१७ के जुलाई या अगस्त मास में, जब वर्षा का खासा जोर रहता है, हम लोग वहाँ रहने के लिए गये। कोचरब में हम में से जो लोग अलग रहते थे, वे भी अब संयुक्त चौके में ही भोजन करने लगे। परन्तु किशोरलाल भाई तो हर किसी आदमी का पकाया हुआ भोजन खा नहीं सकते थे। एक तम्बू के चार कोनों में काकासाहब, किशोरलाल भाई, मैं तथा फूलचंद भाई रहते थे। गोमतीबहन तंबू के अपने कोने में अपना खाना अलग पकाने लगीं। हम सबके पास सामान बहुत ही कम था। दोनों समय का भोजन वे सवेरे ही पका लेतीं। परन्तु शाम का भोजन संभालकर रखने का कोई साधन उनके पास नहीं था। इस कारण कई बार तो कुत्ते आ जाते और उनका भोजन खा जाते अथवा छूकर बिगाड़ देते। वर्षा आती तब सामान इधर से उधर रखना पड़ता।

अपने कुटुम्ब की प्रथा के अनुसार स्वामीनारायण के मंदिर में दर्शन के लिए जाने का नियम किशोरलाल भाई ने बराबर जारी रक्खा। इस बारे में भाई नीलकण्ठ लिखते हैं :

"आश्रम में आने से पहले कोचरब से और फिर साबरमती से भी हम रविवार को, एकादशी के दिन, खास तौर पर अन्य उत्सवों के दिन वहाँ के स्वामीनारायण-मंदिर में बराबर जाते। कोचरब से या साबरमती से रवाना होकर हम वापिस लौटते, तब तक थककर चकनाचूर हो जाते।"

अतिशय व्यवस्थित और नियमपूर्वक काम करनेवाले के रूप में हमारी शाला में—और खास तौर पर विद्यार्थियों में—किशोरलाल भाई की प्रतिष्ठा बहुत अधिक थी। वे गणित, बहीखाता, गुजराती आदि विषय पढ़ाते। जब तक किशोरलाल भाई ने शाला में काम किया, तब तक शाला के सभी वर्गों के समय-पत्रक तैयार करने का काम वे ही करते रहे। चाहे कितने ही प्रारम्भिक वर्ग को

पढ़ाना हो, परन्तु आज क्या पढ़ाना है, इसका वे पहले से विचार कर लेते और वर्ग में जो नयी-नयी जानकारी देनी होती, उसका निश्चय पहले से कर लेते। हमारे कितने ही विद्यार्थियों को ऐसी आदत थी कि वे शिक्षक से भिन्न-भिन्न प्रश्न पूछकर समय-पत्रक में निश्चित विषय को छोड़कर दूसरी ओर खींच ले जाते। हम भी सोचते कि विद्यार्थी के मन में जिस समय किसी विषय की जिज्ञासा जागृत हो, उसे उसी समय तृप्त कर देना चाहिए। परन्तु इससे नियत विषय एक ओर रह जाता और अनेक वार सारा समय दूसरी ही वातों में चला जाता। परन्तु कोई विद्यार्थी किशोरलाल भाई को इस तरह दूसरी वातों में नहीं उलझा सकता था। विद्यार्थी के प्रश्न का उत्तर एक-दो वाक्यों में देकर वे तुरन्त प्रस्तुत विषय पर आ जाते और विद्यार्थियों को भी ले आते। इस कारण उनके वर्ग में कभी ऐसा नहीं हो पाया कि निश्चित पाठ्यक्रम पूरा न हो सका हो। विद्यार्थियों की कापियों को देखना होता, तो उन्हें देखकर वे अवश्य ही समय पर लौटा देते। उनकी इस नियमिता का असर विद्यार्थियों पर भी पड़ता। दिया हुआ काम पूरा किये विना शायद ही कोई विद्यार्थी उनके वर्ग में जाता। विद्यार्थियों पर उनकी एक प्रकार की धाक रहती। परन्तु इसके साथ ही विद्यार्थियों के समग्र जीवन के विषय में और उनकी प्रगति के विषय में प्रेमपूर्वक वे इतना ध्यान रखते कि वे विद्यार्थियों के विशेष प्रीतिपात्र वन जाते।

सन् १९१८ में अपनी शाला के सभी विद्यार्थियों के साथ हमने आवू की पैदल यात्रा की थी। जाते समय काकासाहव, मैं और विनोवा अपने साथ पंद्रह विद्यार्थियों को लेकर सावरमती से पैदल आवू गये। किशोरलाल भाई तथा पंडित खरे छोटे विद्यार्थियों और कुछ वहनों को लेकर ट्रेन द्वारा आवू गये। लौटते समय किशोरलाल भाई तथा गोमतीवहन पाँच विद्यार्थियों को साथ लेकर आवू से पैदल सावरमती आये थे। इस प्रवास में उन्होंने विद्यार्थियों का जितना खयाल और उनकी सँभाल रखी, उससे सभी विद्यार्थी उन पर मुग्ध हो गये।

इतने पर भी किशोरलाल भाई को लगता रहता कि वे पढ़ाना नहीं जानते, क्योंकि वे अपने को वहुश्रुत नहीं मानते थे अथवा उन्हें पढ़ाने की कला नहीं आती थी। अपने वारे में उन्होंने यह जो मत वना लिया था, उससे स्पष्ट है कि वे

कितनी कड़ाई से आत्म-परीक्षण करते थे और अपने लिए कितना ऊँचा नाप रखते थे। उनके दिल में यह बात बहुत गहरी पैठ गयी थी कि शिक्षक अथवा माता-पिता अपने बच्चों को सुधारना चाहते हैं, तो उन्हें सबसे पहले अपना जीवन सुधारना चाहिए और उन्हें संस्कारी बनाना चाहिए। 'केळवणीना पाया' (शिक्षण की बुनियाद) नामक अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा है :

"आश्रम की शाला के प्रयोग के दिनों में हमने अपने कुटुम्ब के कुछ बालकों को साथ में रखा था। आश्रमवासियों के बच्चे भी थे। कुछ और लोगों ने भी अपने बच्चे हमें सौंप दिये थे। मैंने देखा कि कितने ही पिताओं ने अपने बच्चों से तंग आकर उन्हें आश्रम में भेज दिया था। उन्हें अपने बच्चों से सन्तोष नहीं था और वे चाहते थे कि हम उन्हें सुधारें। अभिभावकों के साथ बातचीत करने पर मुझे ज्ञात हुआ कि बाप-बेटे के बीच जो असंतोष था तथा लड़कों में जो दोष थे, उनका असली कारण घर का वातावरण ही था। पिता को लड़कों की इच्छाओं, उमंगों, खेल, मनोरंजन आदि किसी बात से सहानुभूति नहीं थी। वे (अभि-भावक) खुद मनमाने ढंग से रहते और जो जी में आता, सो करते रहते। मुंह में जो आता, वह बक जाते और लड़कों का अपमान करते रहते। वे स्वयं अव्यवस्थित रहते। वे अपने माता-पिता के प्रति भी जी में आता, वैसा वर्ताव करते। लड़कों की उम्र की स्त्री से शादी कर लेते। अपनी रहन-सहन और कृति में किसी प्रकार भी सुधार करने की इच्छा उनमें न रहती। फिर भी वे आशा करते कि उनके बच्चे अत्यंत विनयी, परिश्रमी और संयमी तथा ऐसे बनें कि आँखें जुड़ा जायँ। वे कहते कि "हमारा जीवन तो-जैसा तैसा बीत गया। परन्तु इन बच्चों का जीवन सुधर जाय, ऐसी इच्छा है।" मुझे यह अपेक्षा विचित्र लगती। एक दो अभिभावकों से मैंने कहा भी कि यदि आप अपने-आपको नहीं सुधारेंगे, तो आपके बच्चे भी नहीं सुधरेंगे। फिर भी मुझे यह आशा तो रहती ही कि ऐसा हो सकता है।

"परन्तु उस समय मैं यह नहीं समझ पाया था कि जो नियम बच्चों के पालकों को लागू होता है, वही मुझे भी लागू होता है। हम यह आशा नहीं रख सकते थे कि आश्रम में भेजे गये बालकों का जीवन केवल चार-छह महीने आश्रम में रह लेने से ही सुधर जायेगा। इसके लिए तो उनके अपने घर के वातावरण का भी सुधार

होना जरूरी है। उसी प्रकार जब तक मेरे अपने घर का वातावरण अच्छा नहीं होगा, तब तक मैं यह आशा नहीं कर सकता कि मेरी देखभाल में रहनेवाले बालक भी मेरी अपेक्षा के अनुकूल अच्छे बन जायेंगे। परन्तु यह बात खुद मैं भी नहीं देख पाता था। इस कारण मेरे और मेरे घर के बच्चों के बीच भी समाधान का वातावरण नहीं हो पाया था। यदि हर दूसरे-तीसरे दिन अपनी पत्नी से मैं झगड़ता रहूँ, किसी निश्चय पर पूरे एक महीने तक भी कायम न रह सकूँ, हर वस्तु उसके अपने स्थान पर रखने की आदत मुझे भी न हो, मेरी मेज हमेशा अव्य-वस्थित स्थिति में ही रहती हो (आज भी वह ऐसी ही रहती है), दिन में बगैर भूख के दो-चार बार खाते रहने की आदत पड़ गयी हो और कोई रोकनेवाला न होने के कारण मैं खाता भी रहूँ, फिर भी यदि मैं आशा करूँ कि मेरे भतीजे तंग करनेवाले न हों, निश्चयी, व्यवस्थित और मिताहारी हों, तो यह कैसे संभव है ? मैं जब देखता कि ऐसा नहीं हो रहा है, तो तंग आकर अपने सिर का भार किसी दूसरे शिक्षक पर डाल देता। अर्थात् विद्यार्थियों के अभिभावकों की भाँति मैं भी इस सिद्धान्त को मानता था कि अपने कान अपने ही हाथ से नहीं बींधे जा सकते।

"इसी प्रकार हमारी यह भी इच्छा थी कि हमारे विद्यार्थी निरे विद्या-व्यसनी ही नहीं, उद्योगशील भी बन जायँ। वे मजदूरों की तरह मेहनत कर सकें। हम बार-बार प्रयोग करते कि समय-पत्रक में शरीरश्रम के लिए खास तौर पर अधिक समय रखा जाय। हम में से एक-दो शिक्षक बारी-बारी से उसमें हाजिर भी रहते। परन्तु शरीरश्रम का कितना ही गुणगान हम करते, फिर भी हमने तो यही देखा कि हमारे विद्यार्थियों में तो पंडित-जीवन के प्रति ही प्रेम बढ़ रहा है। देखने में यही आया कि वे प्रेम से नहीं, बेगार समझकर ही शरीरश्रम करते हैं। इसका कारण क्या था यह इतना सब लिख जाने के बाद हर कोई समझ सकता है। परन्तु उस समय मैं नहीं समझ सका था।

"मैं यह नहीं देख सका कि हमारा जीवन उद्योग-व्यसनी नहीं, विद्या-व्यासंगी है। बच्चों के लिए हम शरीरश्रम का समय रखते अवश्य, परन्तु उस समय भी हमारा चित्त तो किसी पुस्तक में या साहित्य-चर्चा में ही रमता रहता। फिर बच्चों के साथ उपर्युक्त क्रिया में केवल एक-दो शिक्षक ही ऊपर-

ऊपर से भाग लेते। जब कि अन्य शिक्षक सीधे-सीधे साहित्य की उपासना में ही लगे रहते। उधर साहित्य का खण्डन करते हुए भी हम प्रत्यक्ष रूप से साहित्य की ही उपासना करते रहते। परिश्रम का मण्डन हाथ-पैर द्वारा नहीं, अधिकतर लेखों और प्रवचनों के द्वारा चलता रहता। फिर भी हम यह आशा लगाये रहते कि जो चीज खुद हमारे पास नहीं है, उसे विद्यार्थी हमारे पास से प्राप्त कर लेंगे।

परन्तु शिक्षणशास्त्र के जिन सिद्धान्तों को हमने अपना रक्खा था, उनसे किशोरलाल भाई को धर्मविचार के साथ सबसे अधिक विरोध दीखता था और इस विषय में आपस में हमारी बहुत चर्चाएँ होती रहतीं। स्वयं किशोरलाल भाई ने इस विरोध को इस प्रकार व्यक्त किया है:

"धर्मशास्त्र कहते हैं कि भोग से विषय कभी शान्त नहीं होते। इसलिए इन्द्रियों का लाड़ नहीं लड़ाना चाहिए। मन को वश में रखो। वह जैसा कहे, वैसा मत करो। यम-नियमों का पालन करो। विषयासक्ति को कम करो। रागद्वेष से ऊपर उठो। फिर धर्मशास्त्र यह भी कहते हैं कि विद्यार्थियों, ब्रह्मचारियों और संयमशील मनुष्य के लिए संगीत, नृत्य, वाद्य वर्जित हैं। एक इन्द्रिय को भी खुला छोड़ देने से सभी इन्द्रियाँ काबू से बाहर हो जाती हैं इत्यादि। उधर शिक्षणशास्त्र कहता है (और यह शास्त्र तो आश्रम के संयमी वातावरण को भी मान्य था) कि बच्चे की सभी इन्द्रियों का विकास करना चाहिए। संगीत के बिना शिक्षण अधूरा रह जाता है। कला राष्ट्र का प्राण है और साहित्य समाज का जीवन है। आप जो चाहते हैं वह नहीं, बालक को जिस चीज की रुचि हो, वह उसे दें। विषयों (पाठ्यवस्तु) को रसयुक्त बनाकर दें। इसके लिए बच्चों से नाटक करायें, रासों की रचना करें, शालाओं की सजावट करायें। बच्चों से 'राष्ट्र देवो भव' कहें और इसी दृष्टि से उन्हें इतिहास पढ़ायें। उन्हें वही ज्ञान दें, जिससे उनके देश की संस्कृति का पोषण हो।"

इसमें वस्तुतः कोई विरोध है या केवल ऊपर से देखने से विरोध का आभास होता है, यह प्रश्न विचारणीय है। किशोरलाल भाई ने अपनी 'केळवणीना पाया' नामक पुस्तक में इस प्रश्न पर सूक्ष्म विचार किया है। उन्होंने लिखा है कि इन्द्रियों के विकास का अर्थ यह नहीं कि हम इन्द्रियों का

लाड़ लड़ायें या उन्हें निरंकुश बना दें। उन्होंने इन्द्रियों की शुद्धि और इन्द्रियों की रसवृत्ति के बीच भेद बताया है। यदि मनुष्य की इन्द्रियाँ शुद्ध और सतेज नहीं होंगी, तो उनमें अधिक रसवृत्ति हो ही नहीं सकती। बहरे के सामने संगीत और अंधा के सामने रूप-रंग व्यर्थ है। इसलिए इन्द्रियाँ शुद्ध और सतेज तो होनी ही चाहिए। परन्तु यह शुद्धि और तेज प्राप्त करने के लिए इन्द्रियों का संयम आवश्यक है। इन्द्रियों को अपने विषयों के प्रति निरंकुश रूप से छोड़ देते हैं, तो उनकी शक्ति क्षीण होती जाती है। इससे मनुष्य बीमार पड़ता और असमय ही मृत्यु का शिकार बन जाता है। आहार के बिना आरोग्य लाभ नहीं हो सकता, यह बात सही है। परन्तु साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अति आहार से अथवा स्वादों के अति सेवन से भी आरोग्य का नाश होता है। जीभ में तरह-तरह के स्वाद परखने की शक्ति होनी चाहिए। परन्तु यदि मनुष्य स्वादों के पीछे ही पड़ जाय, तो वह धीरे-धीरे अपनी स्वादों को परखने की शक्ति खोता जायेगा। यही बात हमारी सभी इन्द्रियों की है। जीभ के समान ही आँख, नाक और कान की भी बात है। हमारी सभी इन्द्रियाँ सशक्त तो अवश्य ही होनी चाहिए। उनका विकास तो इस बात पर निर्भर करता है कि हम उनका उपयोग किस प्रकार कर रहे हैं। बहुत बार तो इन्द्रियों का संयम—उनको काबू में रखना—ही आवश्यक और इष्ट होता है। इस संयम और निग्रह से संचित शक्ति को अच्छी और ऊँचे प्रकार की प्रवृत्तियों में लगाना मनुष्य का कर्तव्य है। इसीको इन्द्रियों का सच्चा शिक्षण कहते हैं। इन्द्रियों को अपने विषयों की ओर दौड़ने देने में तो किसी भी प्रयत्न अथवा शिक्षण की आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार रसवृत्ति को भी समझना चाहिए। शिक्षण का उद्देश्य विद्यार्थी की रसवृत्ति को संस्कारी और विशुद्ध बनाना है। इस प्रकार का शिक्षण देने पर ही मनुष्य में दया, समभाव, सार्वजनिक सेवा आदि उच्च मनोवृत्तियों का पोषण हो सकता है। जिस मनुष्य की इन्द्रियाँ अपने विषयों की ओर दौड़ती रहती हैं, और जिसकी रस-वृत्ति सुसंस्कृत नहीं है, हीन प्रकार की है, उसमें उच्च मनोवृत्तियों को पोषण नहीं मिलता।

यही न्याय कला को भी लागू होता है। कला की उपासना करने में मनुष्य यदि विवेक नहीं रखेगा, तो वह विलास की ओर बह जायगा। हमारी शालाओं

में इन्द्रियों और रसवृत्ति के विकास के नाम पर मनोरंजन के जो कार्यक्रम रखे जाते हैं, उनसे विलासिता और हीन रुचियों का पोषण ही होता देखा जाता है। इनके विरुद्ध किशोरलाल भाई अवश्य ही अपनी आवाज उठाते। इस पर लोग उन्हें 'शुष्क सन्त' कहते। इसे भी वे सह लेते। हमारी शिक्षा-संस्थाओं में जीवन के लिए आवश्यक संयम का वातावरण नहीं दिखाई पड़ता और कई बार तो संयम की खिल्ली भी उड़ायी जाती है। लड़के-लड़कियों में कला एवं सौंदर्य की उपासना और रसिकता के नाम पर स्वच्छंदता, नकली फैशन और चारित्र्य की शिथिलता ही पायी जाती है। इसका वे विरोध करते और उनका यह विरोध सर्वथा उचित भी था। इस वस्तु को लोग ठीक तरह से समझ लें, तो धर्म अर्थात् नीति और सदाचार के सिद्धान्तों और शिक्षण के सिद्धान्तों के बीच कोई विरोध नहीं रह जाता।

सौंदर्य, कला, लालित्य आदि विषयों के प्रति किशोरलाल भाई की दृष्टि के विषय में भाई नीलकण्ठ लिखते हैं :

"बहुत से लोगों का खयाल था कि पू० काका नीरस व्यक्ति थे और उनके जीवन में लालित्य नहीं था। परन्तु जिन्होंने उनके जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। वे जानते हैं कि यह बात कितनी गलत है। मुझे तो ऐसे अनुभव हुए हैं कि वे जरा भी शुष्क नहीं थे। कला और लालित्य के मर्म को वे जानते थे और वे एक अत्यंत उच्च भूमिका में विचरण करते रहते थे।

"हाँ, जहाँ कला के नाम पर स्वच्छन्द विहार होता, अथवा मर्यादा को छोड़कर शृङ्गारिक भाव प्रकट किये जाते अथवा सौंदर्य का प्रदर्शन किया जाता, वहाँ वे अवश्य इनका विरोध करते। इन चीजों के पीछे लोग पागल हो जाते हैं। इसे वे बरदाश्त नहीं कर सकते थे। सौंदर्य की प्रतिस्पर्धा में लोग कला और सौंदर्य की पूजा के नाम पर अपनी स्थूल और हीन मनोवृत्तियों का ही पोषण करते हैं, ऐसा वे मानते थे। अपने आवश्यक कर्तव्यों को भुलाकर लोग इस तरह स्वेच्छाचार में पड़े रहें, इसके खिलाफ वे बराबर अपनी आवाज बुलन्द करते रहते।

"साहित्य के विषय में भी उनकी अभिरुचि इसी प्रकार उच्च कोटि की थी। उच्च भावनावाले काव्यों और साहित्य का रसास्वाद वे भरपूर ले सकते थे।

परन्तु इसके साथ ही मर्यादारहित शृंगार का वे विरोध भी करते। 'साहित्य-संगीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाणहीनः'—इस उक्ति को वे नहीं मानते थे, क्योंकि उन्होंने कभी यह स्वीकार नहीं किया कि तथाकथित साहित्य, संगीत कला से अपरिचित मनुष्य अपना विकास कर ही नहीं सकता। अथवा इन वस्तुओं का मनुष्य के साथ ही सम्बन्ध होना ही चाहिए। जीवन के साथ स्वाभाविक रीति से ताने-बाने की भाँति जो कला और लालित्य एकरूप हो गये हैं, उन्हींको वे सच्ची कला और सच्चा लालित्य मानते। इसीलिए मैं कहता हूँ कि वे कला के मर्म को जानते थे। ऊपर से देखने पर यदि हमें ऐसा लगता था कि वे इनकी उपेक्षा करते हैं, तो इसका कारण केवल यही था कि इनकी अपेक्षा अधिक महत्त्व की बातों में उनका ध्यान लगा हुआ था। नहीं तो जो वाल्मीकि, कालिदास, रवीन्द्रनाथ, जिब्रान—जैसों के काव्यों को तथा ज्ञानेश्वरी, रामचरितमानस समझ सकते और मिल्टन, शेक्स्पियर आदि का जिन्होंने रसपूर्वक अध्ययन किया, उनके बारे में यह कैसे कहा जा सकता है कि वे शुष्क थे और कला को नहीं जानते थे ?"

हमारी शाला के एक बड़े विद्यार्थी भाई प्रभुदास गांधी ने किशोरलाल भाई के कुछ संस्मरण लिखकर भेजे हैं। उनमें से कुछ यों हैं :

"चम्पारन में बापू के पास लड़ाई के काम में उनकी सहायता करने के लिए जब बम्बई से किशोरलाल भाई पहुँचे, तब उनके आगमन का समाचार मैंने ही बापू को सुनाया। बापू से मैंने इस तरह कहा :

"बापू, बम्बई से एक भाई आये हैं। एकदम दुबले-पतले हैं। अकेले हैं। फिर भी पूरा बिस्तर, टिफिन-बॉक्स और काफी सामान साथ में लाये हैं। माथे पर तिलक है। पूरे वैष्णव जान पड़ते हैं। वे आपके पास क्या काम कर सकेंगे ?" बापू ने मेरी बात सुनकर थोड़ी देर बाद अपना काम करके उठे और उनसे मिले। शाम के पहले ही किशोरलाल भाई फिर अपना बोरिया-बिस्तर लेकर लौट भी गये। मैंने अपने मन में सोचा कि ऐसे इन बम्बईवालों को बापू ने तुरन्त लौटा दिया—यह बहुत अच्छा किया। बेकार दूसरों के लिए उलटे बोझरूप बन जाते।" उन्हें लौटाते हुए बापूजी ने कहा था : "यहाँ मेरे साथ चम्पारन में नहीं, परन्तु कोचरब के आश्रम में आवेंगे, तो वहाँ आपको

अच्छा लगेगा।" यह सुनकर भी मुझे लगा कि ऐसे वैष्णव भाई आश्रम में भी शायद ही टिक सकें। मुझे उस वक्त यह खयाल भी नहीं आया कि बापू ने उनके भीतरी गुणों को पहचानकर उन्हें आश्रम में आने के लिए कहा है।

"इस घटना के एक-सवा वर्ष बाद की बात है। साबरमती आश्रम चटाई के झोपड़ों में बस रहा था। वहाँ शिक्षकों के झोपड़ों में एक झोपड़ा किशोरलाल भाई का भी खड़ा हो गया। राष्ट्रीय गुजराती शाला के विद्यार्थी के रूप में मैं अपना अधिक-से-अधिक समय किशोरलाल भाई के झोपड़े में बिताने लगा। मेरे सहपाठी नीलकण्ठ मशरूवाला किशोरलाल भाई के भतीजे थे। उनके साथ उठना-बैठना और पढ़ना मुझे अच्छा लगता। साथ में पूज्य गोमती बहन के वात्सल्य का तो लाभ मिलता ही। परन्तु अन्य शिक्षकों की अपेक्षा किशोरलाल भाई से कम संकोच होता। उनके पास छोटे-बड़े के भेद जैसा बर्ताव नहीं था। फिर भी हमारी पढ़ाई में छोटी-से-छोटी बातों की ओर वे ध्यान देते और हमारे उत्साह तथा ज्ञान को बढ़ाते। इसलिए उनके झोपड़े में आना-जाना अधिक अच्छा लगता।

"हमारी राष्ट्रीय शाला नये ही ढंग की थी। यह कहने की जरूरत तो होनी ही नहीं चाहिए कि वहाँ शिक्षक डण्डे का उपयोग नहीं कर सकते थे। यही नहीं, वहाँ तो शिक्षक उलहना भी नहीं दे सकते थे। जिसने गलती की हो, उसे चार लड़कों के सामने नीचा भी नहीं दिखा सकते थे। कम-अधिक नम्बर देकर नीचे-ऊपर भी नहीं कर सकते थे। सब शिक्षक मिलकर सलाह करते कि पढ़ने में विद्यार्थियों को आनंद किस प्रकार आ सकता है। इसलिए वे पढ़ाने के नित्य नये तरीके काम में लाते। इन प्रयोगों के बीच किशोरलाल भाई ने रूखे और कठिन विषय अपने लिए पसन्द किये। अपने वर्ग के बारे में मुझे याद है कि किशोरलाल भाई ने भूमिति, बहीखाता, निबन्ध-लेखन और कठिन कविताओं का अर्थ—ये विषय लिये थे। भूमिति पढ़ाने के लिए वे नये-नये पाठ गुजराती में लिखकर लाते और नयी-नयी परिभाषाएँ बनाकर पढ़ाते। विषय को रसमय बनाने के लिए वे अपनी सारी कला लगा देते। परन्तु मैं और मेरे साथी भी ऐसे गुणहीन थे कि हम—खास तौर पर मैं—तो कभी इतनी मेहनत करते ही नहीं थे कि जिससे उन्हें सफलता मिल सके। फिर भी किशोरलाल भाई में कितना धीरज

था, इसका पता इन दो वातों से लग सकता है। गरमी के दिनों में दोपहरी में जब चटाइयों से छनकर झोपड़ों में जोर की लू आती, उस समय भूमिति का वर्ग रखा गया था। सवेरे संस्कृत जैसे वर्ग होते थे। दोपहर में भूमिति के पाठ तैयार करके किशोरलाल भाई उत्साहपूर्वक हमें पढ़ाने के लिए बैठते और हम विद्यार्थी उस समय सावरमती में तैरने और गोते लगाने के लिए चले जाते। सारे वर्ग में कुल चार विद्यार्थी थे। उनमें मेरे जैसे दो-तीन गैरहाजिर रहते। जब हम वर्ग में पहुँचते, तव घण्टा पूरा होने में आठ-दस मिनट वाकी रह जाते। शरीर सूख भी नहीं पाता था और हम किशोरलाल भाई के सामने पढ़ने-बैठते। तव, क्यों देरी हो गयी? इससे अधिक शायद ही उन्होंने कुछ कहा हो। हम निर्लज्जता पूर्वक जवाव देते कि हम नहा रहे थे। वहाँ घण्टी सुनाई नहीं पड़ी। इसलिए देरी हो गयी। ऐसा कई वार हुआ और हमने जान-बूझकर पढ़ाई का नुकसान कर लिया। भूमिति में हमें अव रस आने लगा था, परन्तु हमने ध्यान ही नहीं दिया। फिर भी उन पाँच-दस मिनटों में जो कुछ पढ़ाते वनता, उतना पढ़ाकर किशोरलाल भाई संतोष कर लेते।

"शायद उन्होंने सोचा हो कि भूमिति के लिए लड़के नहीं हैं, लड़कों के लिए भूमिति है। नहीं तो उन्होंने जो पाठ तैयार करके रक्खे थे, उनके वहुत वड़े भाग के प्रति हम जो लापरवाही वरत रहे थे, उससे उन्हें दुःख हुए विना न रहता।

"निवन्ध-लेखन में तो अपनी मूर्खता दर्शाने में हमने हद कर दी थी। शुक्रवार के दिन कोई विषय चुनकर उस पर निवन्ध लिखने के लिए वे हमसे कहते। शनिवार को दोपहर का सारा समय हमें लिखने के लिए मिल जाता था। सोमवार को वे हमारा निवन्ध देखते थे। वीस-पचीस लकीरों में निवन्ध कैसे लिखना-यह वे विस्तारपूर्वक समझा देते थे। शनिवार के दिन दोपहर में निवन्ध लिखने के वहाने हम कागज लेकर निकलते और सड़क के किनारे खड़े करंज के पेड़ों के नीचे जाकर वैठ जाते और इधर-उधर की वातों में तथा आमली-पीपली (लुका-छिपी) खेलने में सारा समय विता कर देते। सोमवार के दिन जब किशोरलाल भाई हमारी लेख की कापी देखने के लिए माँगते तब कभी साढे तीन लकीरें और कभी मुश्किल से पाँच लकीरें लिखी हुई उन्हें मिलतीं। परन्तु मुझे याद नहीं कि मीठी हँसी के सिवा उन्होंने कभी एक भी कठोर शब्द कहा हो। इस

तरह हमारा प्रमाद और उनकी क्षमावृत्ति महीनों टकराती रहती। परन्तु निवन्ध लिखने के लिए किस प्रकार विचार करना, वाक्यों का विन्यास कैसे करना, विरामचिह्न कहाँ वनाना, पैरा कैसे वनाना—आदि वातें समझाने के उपरांत हममें से किसीको ऊँची आवाज में उन्होंने कभी एक शब्द तक नहीं कहा।

"आज जव मैं उन प्रसंगों को याद करता हूँ, तव मुझे यह खयाल आता है कि अपने क्रोव को पीकर किशोरलाल भाई हमें कितनी भारी शिक्षा दे रहे थे। इतना होने पर भी पढ़ाई में ध्यान न देनेवाले विद्यार्थियों के कारण उन्हें कितना क्लेश सहना पड़ रहा है, इसे प्रकट करनेवाली एक रेखा तक हमने कभी उनके चेहरे पर नहीं देखी।

"दूसरी ओर हमें खुश करने, हमारा लाड़-प्यार करने अथवा मीठी-मीठी वातें वनाकर गुड़ पर भिनकनेवाली मक्खियों की भाँति अपने आस-पास विद्यार्थियों को इकट्ठा करने का उन्होंने कभी प्रयत्न किया हो—ऐसा हमें याद नहीं। हम 'खोखो' अथवा 'लोगपाट' आदि अनेक खेल खेलते। इनमें कभी उन्होंने न तो भाग लिया और न तटस्थ निरीक्षक के रूप में काम करके अपना निर्णय देना स्वीकार किया। देशी वनाम विदेशी खेलों के वारे में जव विवाद चलता, तव वे अवश्य ही अपनी राय जता देते।

"कविता में उन्हें कम रस नहीं था। वे नयी-नयी कविताएँ वनाकर रख लेते और हमें कभी पता भी नहीं लगने देते। मेरे जैसे विद्यार्थियों को कभी-कभी पू० गोमती वहन से पता चल जाता और किशोरलाल भाई को विना पता लगे, हम ये कविताएँ अपनी कापियों में लिख लेते। कभी-कभी काकासाहव के वदले प्रार्थना में वे संतचरित्र हमें सुनाते। तव कहानी कहने की उनकी कला का हमें परिचय मिलता, परन्तु कहानी के रस में लड़कों को सरावोर करने के लिए कहानी कहने के लिए अपनी ओर से उन्होंने कभी तैयारी नहीं दिखायी। शिक्षक रस की नदियाँ वहा दे, वच्चों को खूव खुश कर दे और उनके साथ खुद भी वालक वनकर नाचे-कूदे—ऐसी वृत्ति से किशोरलाल भाई ने अपनेको अलग ही रक्खा। फिर भी हमारी शाला के आचार्य कौन हों?—इसका निर्णय हर साल एक सभा में विद्यार्थियों के मतों से होता, जिसमें शिक्षक भी हाजिर रहते। उसमें वहुत वार किशोरलाल भाई भारी वहुमत से आचार्य चुने जाते।

"यदि उस समय हमसे कोई पूछता कि किशोरलाल भाई की कौन-सी वात तुम्हें उनकी ओर खींच ले जाती है, तो हम अपनी टूटी-फूटी भाषा में कहते कि वे वहुत सज्जन और प्रेमी हैं। इनके मार्ग-दर्शन में हमें भी थोड़े-वहुत प्रमाण में ये सद्‌गुण मिल जायँ—इस आशा से हम अपने सवसे वड़े शिक्षक के रूप में उन्हें चाहते हैं। यों कभी एक वार भी ऐसा प्रसंग नहीं आता था, जव विद्यार्थियों के वीच कोई झगड़ा हुआ हो या किसी शिक्षक के विरुद्ध विद्यार्थियों को कोई शिकायत रही हो और उसमें निर्णय देने के लिए आचार्य को वैठना पड़ा हो। विद्यार्थी शिक्षक की वात न मानते हों, इसलिए उनके विरुद्ध शिकायत आचार्य तक पहुँची हो और आचार्य को विद्यार्थियों के विरुद्ध अनुशासन की कार्यवाही करनी पड़ी हो—ऐसा कभी एक वार भी होने का मुझे स्मरण नहीं। किशोरलाल भाई के दुवले-पतले शरीर के चारों ओर एक प्रकार का शांत और चेतनादायी तेज फैला रहता, जिससे नासमझ-से-नासमझ वच्चे को भी ऐसा लगता कि मनुष्य हो, तो ऐसा हो।

"यह सही है कि किशोरलाल भाई अपनी वुद्धि की तीक्ष्णता और स्वभाव की मधुरता से हमें चौंधिया देते थे और इस कारण हमारी श्रद्धा उनकी ओर झुकती थी, परन्तु ऐसा कहना अधूरा है। मनुष्य वुद्धि से चाहे कितना ही जाज्वल्यमान हो, परन्तु वह केवल इसी कारण वापू के आश्रम में आदर्श नहीं माना जा सकता और न माना गया। इसी प्रकार स्वभाव की मधुरता में भी वापू हिमालय के ऊँचे-से-ऊँचे शिखर को भी मात कर देते थे। वहाँ किशोरलाल भाई, काकासाहव अथवा विनोवा की गिनती न होना स्वाभाविक ही था। मेरे साथी विद्यार्थियों के मन की वात मैं नहीं कहूँगा। परन्तु मेरे मन पर ही उनकी एक वात की छाप वहुत गहरी पड़ी है। वह है उनका स्वाश्रयी स्वभाव और दूसरे का सहारा न लेने की वृत्ति।

"सवेरे चार वजे उठने की घण्टी लगती। उस समय कोई अपना विस्तर समेटता, तो कोई अँगड़ाई लेकर आलस्य को भगाता। परन्तु उस समय किशोरलाल भाई अपने घर की सफाई में लगे होते। डेढ़-दो घंटे वे अपने घर का शरीर-श्रम का काम करते। जो काम गृहिणी का माना जाता है, उसे भी वे आधा या अधिक भी कर डालते। इस वीच उनके मुँह से सुन्दर भजनों का प्रवाह अव्याहत गति से स्वर के किसी उतार-चढ़ाव के विना चलता रहता। कुएँ से पानी लाने में,

नदी से वालटी भरकर धुले हुए कपड़े लाने में अथवा भोजन पकाते समय लकड़ी की जरूरत पड़े, तो उसे लाने में, वे किसी विद्यार्थी या अन्य व्यक्ति की मदद न लेते। कोई मदद करना चाहता भी, तो मीठी हँसी हँसकर कह देते कि मदद की जरूरत नहीं है। पिछले वर्षों में जव वे वहुत वीमार हो गये, तव की वात मैं नहीं कर रहा हूँ। जिन दिनों वे हमारे शिक्षक थे, तव की यह वात है।

"अपने घर का काम तो वे करते ही; इसके अलावा शाला के अभ्यास-क्रम में शरीरश्रम के काम के समय भी अपने दुवले शरीर को लेकर किशोरलाल भाई हमारे साथ पूरे समय तक शरीरश्रम करते। उन दिनों सावरमती-आश्रम के मकानों की जुड़ाई का काम चल रहा था। अनेक वार शिक्षक और विद्यार्थी मिलकर ईंटें यहाँ से वहाँ पहुँचाने, छप्पर पर खपरैल चढ़ाने और वालू की टोकरियाँ भरकर लाने—आदि का काम करते। वे इसके लिए एक लम्वी कतार वना लेते और हाथोहाथ सामान पहुँचा देते। किशोरलाल भाई भी सवके साथ वजन उठाने का काम करते। वे हाँफने लग जाते, फिर भी कतार छोड़कर अलग न होते थे। एक वर्ष वड़ा अकाल पड़ा। उस समय कुएँ तैयार नहीं हुए थे। खड्डों में पानी डालकर जमीन नरम नहीं की गयी थी। सावारणतया जमीन रेतीली थी। फिर भी कहीं-कहीं वह वहुत कड़ी थी और गैंती जमीन में एक-दो इंच से अधिक गहरी नहीं जा पाती थी। ऐसी कड़ी जमीन में खाई खोदकर सड़क के दोनों तरफ आश्रम की हद पर काँटेवाली थूहर की वाड़ लगाने का काम शुरू हुआ। अकाल के कारण जमीन सूखी पड़ी थी। फिर भी थूहर तो लगायी जा सकती थी। दूर से थूहर काटकर लाने का काम विद्यार्थी कर रहे थे और खाई शिक्षक खोद रहे थे। किशोरलाल भाई रोज दो घण्टे गैंती लेकर खाई खोदने के काम में वरावर लगे रहते। उनकी शारीरिक कमजोरी देखकर हम उनसे कहते कि वे यह काम हमें करने दें। परन्तु खोदने का काम वे कभी न छोड़ते। किशोरलाल भाई द्वारा लगायी गयी आश्रम की इस वाड़ के सामने से आज भी जव कभी मैं गुजरता हूँ, तव उनकी जीवट और थक जाने पर भी काम करते रहने के उनके आग्रह की याद मुझे आये विना नहीं रहती। अनजान में भी उन्होंने इस तरह हमारे मन में श्रम के प्रति कितना आदर पैदा कर दिया था, इसकी कल्पना मुझे अव होती है।

शरीर से अत्यंत कमजोर होने पर भी किशोरलाल भाई में आश्चर्यजनक निर्भयता थी। उन दिनों सावरमती में साँप वरावर निकलते रहते। अनेक वार हमारे रहने के मकानों में भी वे दीख पड़ते। परन्तु हमने साँप को मारने का रिवाज नहीं रखा था। हिम्मतवाले लड़के उन्हें पकड़कर दूर छोड़ आते। एक वार नदी के घाट की तरफ मैं नीचे जा रहा था। उधर से किशोरलाल भाई धुले कपड़ों की वालटी लेकर ऊपर की ओर आ रहे थे। उनके पीछे-पीछे गोमती वहन माँजे हुए वर्तन लेकर आ रही थीं। मेरे और किशोरलाल भाई के वीच छह सात फुट का अंतर रहा होगा। इतने में हम दोनों के वीच से होकर एक साँप गुजरने लगा। मेरी वायीं तरफ की घास में से वह निकला और दाहिनी तरफ जाने के वजाय मेरी ओर वढ़ आया। मैं चमका और कूदकर दूसरी तरफ हो गया। मेरे कूदने से डरकर साँप नीचे किशोरलाल भाई की ओर मुड़ा। परन्तु वे इस तरह शान्ति के साथ खड़े हो गये, मानो कुछ भी न हुआ हो। इन दिनों वे प्रातः चार वजे से दिन के दस वजे तक मौन रखते थे। परन्तु इस प्रसंग पर उन्होंने अपना मौन तोड़ दिया और मुझे ठीक समय पर सावधान करते हुए कहा—"प्रभुदास डरो नहीं, शांति से खड़े रहो। यह चुपचाप चला जायगा।" उनकी वात सुनकर मैं वड़ा शरमिन्दा हुआ। मैं अपने भय को छिपा ही नहीं सकता था। किशोरलाल भाई की शांति और निर्भयता से चकित होकर मैं उनके प्रतापी मुँह की तरफ देखता ही रह गया। वे फिर मौन धारण करके चले गये। गोमती वहन भी जरा नहीं डरीं। मैंने वहुत प्रयत्न किया कि भय के समय दिमाग ठिकाने रक्खूं। परन्तु अभी तक यह मुझे नहीं सधा।

रौलट एक्ट के समय अहमदावाद में हड़ताल हुई, दंगे हुए। लोग वड़े-वड़े झुण्ड वनाकर सरकारी इमारतें जलाते और शोर मचाते हुए घूमते थे। आश्रम में मैं नदी की तरफ के आँगन में वैठा कुछ पढ़ रहा था। इतने में अचानक नदी के उस पार आकाश में धुएँ के काले वादल दिखाई पड़े। साफ मालूम हो रहा था कि कहीं वहुत वड़ी आग लगी है। कमरे में किशोरलाल भाई थे। मैंने उन्हें यह आग दिखायी। एक क्षण में किशोरलाल भाई सारी स्थिति समझ गये। 'जान पड़ता है कि हुल्लड़वाजों ने यह आग लगायी है। वहाँ हमें तुरन्त पहुँच जाना चाहिए।' ऐसा कहकर वे एकदम निकल पड़े। काकासाहव, नरहरि भाई आदि

के साथ उन्होंने उस दिन शरारती झुण्डों को रोकने के लिए वहुत वड़े खतरे का सामना किया । उस समय उन्हें एक मिनट भी यह खयाल नहीं आया कि इस कमजोर शरीर को लेकर मैं इन हुल्लड़वाजों का मुकावला कैसे कर सकूँगा।

"अपने शरीर से काम लेने में किशोरलाल भाई कितने कठोर थे, इसका एक उदाहरण उनकी आवू से सावरमती की पैदल यात्रा है। हमारी शाला के शिक्षकों और विद्यार्थियों का एक वड़ा जत्था सावरमती से पैदल आवू. गया । जाते समय छोटे विद्यार्थियों और वहनों को लेकर किशोरलाल भाई ट्रेन से गये। परन्तु लौटते समय वे और गोमती वहन कुछ विद्यार्थियों के साथ पैदल आये थे। जाते समय मैं पैदल गया था। फिर भी लौटते समय मैं किशोरलाल भाई के साथ हो लिया। आवू से सावरमती तक विना किसी खलल के सुवह-शाम छह-छह मील का प्रवास करते हुए हम आये। जेठ का महीना और उत्तर गुजरात की गरमी। रास्ते में पेड़ों का नाम भी नहीं था। शाम को भी लू चलती। नकसीर फूटती, पैरों में फफोले पड़ जाते और मीलों तक कुएँ के दर्शन न होते । फिर भी उन्होंने प्रवास में किसीको कष्ट नहीं होने दिया। हर मनुष्य के साथ अपना सामान और पीने के लिए पानी की छोटी-सी सुराही थी। किशोरलाल भाई भी अपना सामान खुद ही उठाते थे। गोमती वहन रास्ते में शुरू से आखीर तक साथ रहीं। वे भी अपने सामान में से एक छोटा-सा थैला तक हम विद्यार्थियों को न उठाने देतीं। पड़ाव पर हम सव तो खा-पीकर लम्वे पड़ जाते, परन्तु किशोरलाल भाई कुछ वाचन-मनन करते। वोलने में किशोर-लाल भाई शिक्षकों में सवसे आगे रहते। ऊँची आवाज थी और हर वात खूव विस्तार से समझाने की उन्हें आदत थी। परन्तु इस प्रवास में वे प्रायः मौन ही रहे। जरूरत पड़ती और हम कोई वात पूछते, तभी वे वोलते थे। एक विद्यार्थी की हैसियत से मैंने उनसे जो कुछ पाया, उसमें इस प्रवास में उनके अत्यन्त निकट के सहवास में मिले धैर्य, लगन और सादगी के आदर्श का विशेष स्थान है।

"देखने में वे एक साधारण मनुष्य थे, परन्तु जो भी उनके संपर्क में आता, वह यह अनुभव किये विना न रहता कि अनेक दिशाओं में उनमें अनेकविध विशेषताएँ थीं।

"किशोरलाल भाई ने हमारी शाला में एक-दो वर्ष काम किया और फिर कुछ कौटुम्बिक कारणों से उन्हें बम्बई लौट जाना पड़ा। उन्होंने हमें बताया था कि साल दो साल बाद वे फिर साबरमती आयेंगे। परन्तु हम विद्यार्थियों को लगा कि व्यापार में लग जाने पर एक शिक्षक के लिए वापिस लौटना बहुत कम संभव है। इसलिए किशोरलाल भाई को विदा करने का एक समारंभ किया गया। हम लोगों ने दूसरे शिक्षकों की मदद से तैयार किया गया एक अत्यंत भावनामय मानपत्र उन्हें अर्पित किया और इसी समय 'मेहमान जल्दी लौटकर आना'—इस आशय का एक गीत भी गाया। उनके प्रेम से हम सब इतने अभिभूत हो गये कि यह गीत गाते समय बहुत-सी बहनों और भाइयों की आँखों से आँसू बहने लगे। हम सभी इतने गद्गद् हो गये कि हम वह गीत पूरा नहीं गा सके। इसके बाद तो साबरमती में बहुत से छोटे-बड़े व्यक्ति आये और गये, परन्तु किशोरलाल भाई के वियोग के समय जो दुःख का वातावरण उत्पन्न हो गया था, वैसा शायद ही कभी हुआ हो।

"उस समय किशोरलाल भाई हमारे बीच एक सामान्य मनुष्य ही थे। पू० नाथजी की मदद लेकर अभी उन्होंने कोई एकान्त-साधना नहीं की थी। इसके बाद वनवासी बनकर वे आबू गये। वहाँ समाधान प्राप्त करके लौटने के बाद तो उनकी गिनती ज्ञानियों में होने लगी थी। अभी वह बात नहीं थी। हम विद्यार्थियों ने तो सुना था कि किशोरलाल भाई को भगवान का साक्षात्कार हो गया है! यह भी सुना था कि आबू में घूमते हुए नाथजी ने उन्हें भगवान के दर्शन करा दिये हैं। इसलिए अब वे 'पुरुष' से 'पुरुषोत्तम' बन गये हैं। परन्तु हम नहीं जानते थे कि इन बातों में केवल कल्पना का अंश कितना था और वास्तविक सत्य कितना था। मेरे जैसा तो उनसे सीधा प्रश्न पूछ बैठता कि 'आपने भगवान को देखा है?' तब वे मंद-स्मित करके उल्टे हमसे ही पूछते—"अच्छा बताओ, भगवान का अर्थ क्या है? मोक्ष का अर्थ क्या है?" हम कोई जवाब नहीं दे पाते और वे मौन होकर अपने काम में लग जाते।

"मेरे मन पर उनकी जो छाप पड़ी है, उसका मैं इस प्रकार विश्लेषण करता हूँ कि नेता, गुरु और मार्ग-दर्शक तो बहुत से महापुरुष बन जाते हैं, परन्तु सबके स्वजन तो विरले ही होते हैं। किशोरलाल भाई एक प्रखर तत्त्व-चिंतक, कुशल

शिक्षक, आदर्श त्यागी, उत्तम संचालक, क्रान्तिकारी लेखक, मर्मस्पर्शी कवि, सदा सर्वदा विनोदी—इत्यादि अनेक बातों में महापुरुष थे। परन्तु इनकी सबसे बढ़कर श्रेष्ठता तो यह थी कि महापुरुष होने पर भी सबके स्वजन बनकर रहने की कला उनमें असाधारण थी। मेरे जैसे पंगु मन और कच्ची बुद्धिवाले विद्यार्थी तथा सेवक उनके पास जाते, तब हर मनुष्य की भूमिका पर वे इतनी मिठास के साथ विचार-विनिमय करते कि कहाँ तो उनका अत्यंत ऊँचा व्यक्तित्व और कहाँ हम अल्प मनुष्य; यह भेद ही आदमी भूल जाता। अपनी शक्ति अथवा समर्थ विचारधारा की छाप अपने पास आनेवाले आदमी पर वे कभी इस तरह नहीं डालते कि जिससे वह चौंधिया जाय। परन्तु जो आदमी जहाँ होता, वहाँ उसे उलझन में डालनेवाली गुत्थी को सुलझाने में वे तत्काल मदद करने लगते। कुछ भाग्यशाली विशाल कुटुम्बों में कहीं एक-आध ऐसा सहृदय और विशाल मन का पुरुष होता है, जो परिवार के छोटे से लेकर बड़े—वृद्ध व्यक्ति तक सबके लिए हर घड़ी सहायक बन जाता है। छोटे बच्चों से खिलौनों के बारे में, शाला में जानेवाले बच्चों से पढ़ाई के बारे में, बड़े आदमियों से व्यापार-बाजार के बारे में, मेहमानों से सुविधा-असुविधा के बारे में, स्त्रियों के साथ घर तथा रिश्तेदारों के बारे में और पुरुषों के साथ गाँव एवं समाज के बारे में वह पूछताछ करता है और अपनी शक्ति के अनुसार हर आदमी की मदद करता रहता है। परन्तु इस पुरुष को अपना काम अथवा अपने हर्ष-शोक का भार दूसरे पर डालने की इच्छा कभी भूलकर भी नहीं होती। केवल बापू के परिवार में ही नहीं, किशोरलाल भाई जहाँ-जहाँ भी पहुँच सके; वे सबके स्वजन और सुहृद बन जाते और उनका एक बार का संपर्क दीर्घजीवी और घनिष्ठ होता जाता।"

अब कुछ मनोरंजक प्रसंग देकर इस प्रकरण को समाप्त करूँगा। सन् १९१८ में हम लोग जब आबू की पैदल यात्रा को गये थे, तब खादी का पहनावा दाखिल नहीं हुआ था। इस कारण हममें से कुछ लोग बंगलोरी टोपी, चीनी सिल्क का लम्बा या छोटा कोट, कमीज, कुछ छोटी ऊँची धोती पहनते, कुछ नंगे बदन रहते। इस तरह की हमारी पोशाक थी। फिर हमने अपने साथ कुछ लालटेनें, भोजन पकाने के लिए एक बड़ा पतीला और कठौता ले लिया था। हमारा यह पहनावा कितने ही लोगों को बड़ा विचित्र लगता। उन दिनों आज की

तरह घूमने के लिए पर्यटन-मंडलियाँ वहुत कम निकलतीं थीं। गणवेश—राष्ट्रीय वर्दी—जैसी कोई चीज भी नहीं वनी थी। तव यदि हमसे कोई पूछता कि कहाँ जा रहे हो? तो हम केवल अगले पड़ाव का नाम वताते। क्योंकि यदि हम आवू का नाम लेते, तो स्थानीय आदमी हमारी वात भी नहीं समझते। कई वार हम रेल की पटरियों के किनारे चलते। कभी-कभी यह कहनेवाले भी मिल जाते कि इतनी दूर चलकर क्यों जा रहे हैं? मैं आपके लिए टिकट खरीद लाऊँ? गाड़ी में वैठकर आराम से जाइये। हम सवको एक साथ भोजन करते देखकर कितने ही लोगों को अजीव-सा लगता। वे पूछते भी—"क्या आप सव एक ही जाति के हैं?" जव हम जाति न वताते, तव पूछते कि आप किस दूध के हैं? मतलव यह कि अभी भले ही आपकी कोई जाति न हो, परन्तु जन्म की तो कोई जाति जरूर होगी? कोई पूछते—"अगले पड़ाव पर तो लीला करेंगे न?" शुरू में तो हम समझे ही नहीं कि वे क्या पूछ रहे हैं। परन्तु धीरे-धीरे वातों पर से पता लगा कि वे रामलीला के वारे में कह रहे हैं। हमारे पहनावे देखकर उन लोगों को लगता कि यह तो रामलीलावालों की कोई मंडली है।

इसी प्रकार एक और मजे की वात तव होती, जव किशोरलाल भाई, गोमती वहन, मणि वहन तथा मैं शहर में साग-सब्जी या खाने-पीने का दूसरा सामान लेने के लिए हर आठ-पंद्रह दिन में जाते। किशोरलाल भाई तथा मैं सामान के थैले पीठपर लटकाकर ले जाते, गोमती वहन तथा मणि वहन अनेक वार वगल में या सिर पर गठरी रखकर चलतीं। किशोरलाल भाई के सिर पर तो स्वामी-नारायण-पंथ का तिलक भी होता। उन दिनों वसें नहीं चली थीं और ताँगों का खर्च हम करते नहीं थे। इसलिए दुधेश्वर के पास से सावरमती को पार करके हम शहर में आते-जाते रहते। एक वार वोझ कुछ अधिक हो गया, तो सामने से आनेवाले एक आदमी ने कहा—"वाह महाराज! आज तो खूव हाथ मारा है। भिक्षा वहुत अच्छी मिली है।" और किशोरलाल भाई की ओर उँगली दिखाकर वोला—"इन महाराज से तो उठती भी नहीं।" इस तरह के मजे शुरू के दिनों में आते रहते।

◆◆◆

विद्यापीठ के महामात्र

किशोरलाल भाई शुरू में केवल एक वर्ष के लिए साबरमती की राष्ट्रीय शाला में आये थे। परन्तु वहाँ वे लगभग दो वर्ष रहे। फिर १९१९ के अगस्त में बड़े भाई श्री बालूभाई के व्यापार में मदद करने के लिए वापिस बम्बई चले गये। परन्तु वे तो व्यापार के लिए जन्मे ही नहीं थे, इसलिए वहाँ उन्हें अच्छा नहीं लगा।

बापूजी को पत्र लिखकर वे अपने कुटुम्ब की और अपनी भी कठिनाइयों से उन्हें परिचित कराते रहते थे। इस बारे में बापू का एक उत्तर उल्लेखनीय है:

भाई श्री ५ किशोरलाल !

आपका पत्र मुझे गुजरानवाला में मिला। अभी तो मैं सबूत एकत्र करने के लिए घूमता रहता हूँ। इसलिए मुझे पत्र लाहौर के पते पर ही दें। मुझे निश्चय है कि आप दूर रहकर बालूभाई की सेवा कर सकेंगे और उनका ऋण भी अदा कर सकेंगे। मेरे सामने भी ऐसी ही समस्या उपस्थित हुई थी। हमें जो चीज अच्छी-से-अच्छी लगे, वह हम अपने प्रियजनों को भी दें, इससे अधिक आदमी क्या कर सकता है? आप अपनी शर्त पर सबका भरण-पोषण कर सकते हैं। आज आप निर्दय दीखेंगे, परन्तु इससे घरवालों को भी लाभ ही होगा। इसलिए बालूभाई का धन्धा सँभालने से आप इन्कार कर दें, तो मैं समझता हूँ कि इसमें कोई दोष नहीं होगा। बालूभाई भी इस झंझट से अपने को मुक्त कर लें, तो अच्छा होगा। गरीब बनने में ही कल्याण है। बालूभाई अपने सब बच्चों को लेकर आश्रम में आ बसें। जो कुछ धन उनके पास है, उससे अपना खर्च चला लेंगे और सुख से रहेंगे। उनकी वृत्तियाँ तो अच्छी ही हैं। आश्रम में अर्थात् आपके साथ रहकर उनसे जो सेवा बन पड़े, वह करते रहें। कुछ नहीं तो कुकड़ियाँ तो भर ही सकेंगे। रुई तौल सकेंगे। मुझे तो इस काम में जो सुलभता और सादगी दीखती है, वह और किसी चीज में नहीं। इस तरह संयम से रहकर जब हम कालान्तर में अपने शरीर को शुद्ध कर सकेंगे, तब हमारा

जीवन पुष्पवत् सुन्दर और सरल वन जायेगा और जिस प्रकार पुष्प किसीको वोझरूप नहीं लगता, उसी प्रकार हम भी पृथ्वी को वोझरूप नहीं लगेंगे। आज तो हम भाररूप लग रहे हैं।

मोहनदास का वन्देमातरम्

अन्त में जुलाई १९२० में वे आश्रम में वापिस लौट आये। उस समय वापू ने असहयोग का आन्दोलन शुरू कर दिया था और राजनैतिक वातावरण वहुत गरम था।

असहयोग के प्रश्न पर विचार करके उस विपय में एक निश्चय करने के लिए सितम्वर मास में कलकत्ता में कांग्रेस का एक विशेप अधिवेशन करने का निश्चय किया गया। परन्तु इस विशेष अधिवेशन से पहले असहयोग के विचार को वल देने के लिए २७-२८ और २९ अगस्त को अहमदावाद में गुजरात राजनैतिक परिषद् की गयी। इसमें असहयोग के वारे में एक प्रस्ताव स्वीकृत किया गया। उसके अलावा राष्ट्रीय शिक्षण के वारे में नीचे लिखा प्रस्ताव मंजूर किया गया।

(१) यह परिषद् मानती है कि अंग्रेज-सरकार द्वारा इस देश में जारी की गयी शिक्षा-पद्धति हमारे देश की संस्कृति और परिस्थिति के प्रतिकूल और अव्यावहारिक भी सिद्ध हुई है। इसलिए विद्यार्थियों को स्वदेशाभिमानी, स्वाश्रयी और चरित्रवान् भारतीय वनाने के लिए परिषद् यह आवश्यक समझती है कि सरकार से स्वतंत्र राष्ट्रीय शालाएँ खोलना आवश्यक है।

(२) इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए खास तौर पर गुजरात में—परिषद् यह भी आवश्यक समझती है कि राष्ट्रीय सिद्धान्त के अनुसार शालाएँ, महाविद्यालय, उद्योगशालाएँ, उर्दू शालाएँ और आयुर्वेदिक आरोग्यशालाएँ खोली जायं और इनके कार्य में समन्वय स्थापित करने के लिए गुजरात विद्यापीठ (युनिवर्सिटी) की भी स्थापना की जाय।

(३) ऊपर लिखे अनुसार गुजरात में राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार करने के लिए उचित उपायों की योजना करने के लिए यह परिषद् एक कमेटी नियुक्त करती है। इस कमेटी को अपनी सहायता के लिए अधिक सदस्य नियुक्त करने का भी अधिकार होगा।"

इस कमेटी के मंत्री के स्थान पर श्री इंदुलाल याज्ञिक और किशोरलाल भाई नियुक्त किये गये। प्रस्ताव में राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाएँ निर्माण करने के बारे में लिखा गया है। परन्तु उस समय जनता के सामने राष्ट्रीय शिक्षण के प्रश्न की अपेक्षा सरकारी नियन्त्रण से मुक्त शिक्षा का प्रश्न अधिक आवश्यक था। इसलिए इसे 'राष्ट्रीय शिक्षा' कहने की अपेक्षा 'असहयोगवाली शिक्षा' कहना अधिक सार्थक होगा।

इस समिति ने गुजरात विद्यापीठ का विधान बनाया और ता० १८-१०-,२० के दिन गुजरात विद्यापीठ की स्थापना की। इसके प्रथम नियामकों के स्थान पर समिति के चालू सदस्य ही रख लिये गये। समिति के अध्यक्ष गांधीजी ने कुलपति का पद ग्रहण किया। आचार्य श्री गिदवाणीजी कुलनायक और श्री किशोरलाल भाई महामात्र नियुक्त किये गये।

किशोरलाल भाई ने प्रारम्भ में शिक्षण-समिति के मंत्री की हैसियत से और बाद में गुजरात विद्यापीठ के महामात्र की हैसियत से शिक्षकों, विद्यार्थियों तथा सर्वसाधारण प्रजाजनों के नाम कई परिपत्र जारी करके उनका अत्यंत सुन्दर मार्ग-दर्शन किया। उनकी कई सूचनाएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। असहयोग करने-वाले शिक्षकों को उन्होंने यह सलाह दी :

"राष्ट्रीय शालाओं में आपको नौकरी मिले, तो आप सरकारी नौकरी से त्याग पत्र देंगे, इस तरह की शर्त रखना बेकार है। इस शर्त पर विद्यापीठ शिक्षकों को स्वीकार नहीं कर सकता। विद्यापीठ यह भी विश्वास नहीं दिला सकता कि नौकरी छोड़नेवाले आप सबको विद्यापीठ अवश्य ही नौकरी दे देगा। यहाँ तो योग्यता ही देखी जायगी। सरकारी नौकरी से त्यागपत्र देना, तो एक भारतीय के नाते मनुष्य का कर्तव्य हो गया है। इसमें एक प्रकार का आत्मबलिदान है। विद्यापीठ में नौकरी मिलने में शिक्षा की दृष्टि से योग्यता की बात है।"

असहयोग करनेवाले विद्यार्थियों को वे सलाह देते हैं :

"सोलह वर्ष से अधिक आयु के विद्यार्थी यदि स्पष्ट रूप से समझ लें कि असहयोग करना उनका धर्म ह, तो अपने माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध भी उन्हें शालाएँ छोड़ने की सलाह दी गयी है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे गुरुजनों के प्रति अपने पूज्यभाव को कम कर लें। जो माता-पिता असहयोग को समझ

2111

नहीं पाये हैं अथवा विरोध करते हैं, उनके प्रति भी असहयोगी विद्यार्थी पूज्यभाव ही रक्खें। उनकी सेवा संपूर्ण प्रेम और आदर के साथ करें। उन्हें अनादर-युक्त वचन न कहें।"

शिक्षा से असहयोग क्यों किया जाय, इस बारे में उन्होंने जो लिखा है; वह आज स्वराज्य की शालाओं में दी जा रही शिक्षा पर भी लागू होता है :

"हममें इस तरह का एक वहम जड़ पकड़ गया है कि अच्छी शिक्षा का अर्थ है अमुक भाषा में लिखने-पढ़ने की शक्ति और अमुक विषयों की जानकारी। अगर किसी खास तौर पर बने मकान और उसके अन्दर निश्चित सुविधाओं के होने का नाम ही पाठशाला हो, तो अमुक भाषा का ज्ञान और अमुक जानकारी रखने को भी हम सुशिक्षा कह सकते हैं। परन्तु जिस प्रकार मकान नहीं, बल्कि शिक्षक और विद्यार्थी शाला हैं; उसी प्रकार भाषा और जानकारी नहीं, परन्तु भाषा का तेज और जानकारी की उत्पादक शक्ति ही विद्यार्थी की सुशिक्षा है। यदि इस दृष्टि से हम शिक्षा पर विचार करेंगे, तो मुझे निश्चय है कि हम इसी निर्णय पर पहुँचेंगे कि आज की शिक्षा-पद्धति का हम सदा के लिए त्याग कर दें, तो इससे देश कुछ भी नहीं खोवेगा।

"पढ़ लिख लेने पर भी यदि लड़का रोगी, पुरुषार्थहीन, क्षीणवीर्य और संयम के पालन में अशक्त बन जाय, यदि वह यह मानने लगे कि पढ़ने-लिखने के फलस्वरूप वह विशेष ऐश-आराम का अधिकारी बन जाता है, स्वधर्म की अपेक्षा तात्कालिक लाभ को वह अधिक मूल्य देना सीख जाय, यदि शिक्षा पूरी करने के बाद जीवनभर नौकरी में पड़े रहने के अतिरिक्त उसमें कोई आकांक्षा न रह जाय, पढ़ लेने पर भी यदि वह इस योग्य न बन सके कि किसी उद्योग के द्वारा वह प्रामाणिकता के साथ अपनी आजीविका चला सके, यदि पढ़ लेने पर भी केवल अपनी हाजिरी लिखाने के लिए सोलह-सोलह मील चलकर जाने[1]

---

१. सन् १९१९ के अप्रैल मास में रॉलट एक्ट के विरोध में जगह-जगह उपद्रव हुए थे। उस समय लाहौर में फौजी कानून जारी किया गया था और उसमें विद्यार्थियों को यह हुक्म दिया गया था कि वे इतनी-इतनी दूर चलकर रोज थाने पर हाजिरी दे जाया करें।

की गुलामी उसके अन्दर रह गयी हो, यदि पढ़ लेने पर भी वह झूठे गवाह और झूठे दस्तावेज तैयार करने में तथा मुवक्किलों और मरीजों को धोखा देने में भाग ले सकता है, तो इसकी अपेक्षा यह अच्छा है कि वह गरीब, मेहनत-मजदूरी करनेवाला और अपढ़ बना रहे; ऐसी इच्छा हर माता-पिता को करनी चाहिए।"

एक भाई ने गांधीजी से पूछा कि "सभी राष्ट्रीय शालाओं में अंत्यज पढ़ सकेंगे या नहीं?" उत्तर के लिए गांधीजी ने यह पत्र विद्यापीठ की नियामक सभा के पास भेज दिया। इस पर नियामक सभा ने निर्णय किया कि "विद्यापीठ की मान्यताप्राप्त कोई भी विद्यामंदिर (शाला तथा महाविद्यालय) केवल अंत्यजों का बहिष्कार नहीं कर सकता।"

उन दिनों शारदापीठ के शंकराचार्य का मुकाम नडियाद में था। उस समय ता० २१–११–१९२० के दिन इस निर्णय के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए ब्राह्मणों ने एक महासभा की और उसमें प्रस्ताव किया कि "विद्यापीठ का निर्णय हिन्दू धर्मशास्त्र के विरुद्ध है और हमारे सनातनधर्म के प्राचीन नियमों का उच्छेदन करनेवाला है।" इस प्रस्ताव का उत्तर देते हुए किशोरलाल भाई ने लिखा:

"ब्राह्मण महासभा के प्रस्ताव पर और जगद्गुरु द्वारा उसके अनुमोदन पर मुझे अत्यंत दुःख हुआ है। वर्णाश्रम-व्यवस्था समाज के हितार्थ और लोक-कल्याण के साधन के रूप में रची गयी है। स्मृतिकारों ने समाज के हित को देखकर लोक-कल्याण के लिए देश-काल के अनुसार वर्णाश्रम-व्यवस्था में फेरफार किये हैं और नयी स्मृतियों की रचना भी की है। प्रारम्भ में अंत्यजों को अस्पृश्य करार देने में जो भी कारण रहा हो, आज देश की सारी व्यवस्था बदल गयी है। उसे ध्यान में रखते हुए यदि श्रीमद्शंकराचार्य तथा महासभा यह परीक्षण करते कि न्याय और समाज का हित किस ओर है और अत्यंजों के विरुद्ध प्रस्ताव करने के बजाय उदारतापूर्वक उन्हें आश्रय देने का प्रस्ताव करते, तो धर्म की अधिक सेवा होती—ऐसा मेरा नम्र मत है।"

विद्यापीठ द्वारा किस प्रकार की पाठ्य पुस्तकों की रचना की जानी चाहिए, इस विषय में सलाह देते हुए उन्होंने जो कहा, वह भी ध्यान देने लायक है:

"मेरा ख़याल है कि पाठ्य पुस्तकों के बारे में अनेक लोग स्वतंत्र प्रयास करें,

तो अधिक अच्छा होगा। इस वात में तो सभी सहमत हैं कि शिक्षण जनता के हाथ में हो, और आज हम ऐसे लोकतंत्री शिक्षण को राष्ट्रीय शिक्षण कहते हैं। परन्तु राष्ट्रीय शिक्षण में मुख्य प्रश्न यह है कि राष्ट्र को आज किस प्रकार के, किस चीज के और किस रीति से दिये जानेवाले शिक्षण की आवश्यकता है। इस विषय में अभी हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँचे हैं। पहुँचना आसान भी नहीं है। इसलिए भिन्न-भिन्न आदर्शों का महत्तम समापवर्तक करने की अपेक्षा, अथवा भिन्न-भिन्न आदर्शों को एक-दूसरे के अनुकूल वनाने अथवा उनमें समन्वय साधने के लिए उनकी तोड़-मरोड़ करके लिखी गयी पुस्तकों की अपेक्षा अधिक अच्छा यह होगा कि जिन्होंने विचारपूर्वक अपने आदर्श स्थापित किये हैं, इस प्रकार के भिन्न-भिन्न विचार और आदर्शवाले शिक्षाशास्त्री अथवा शिक्षा-मण्डल अपनी शिक्षण-संस्थाओं के लिए अलग-अलग स्वतंत्र पाठ्य पुस्तकों का निर्माण करें।"

किशोरलाल भाई उस समय भी इस वात के विरुद्ध थे कि शिक्षण पूरी तरह किसी एक तंत्र के मातहत ही हो। वे उसे विकेन्द्रित स्वरूप देना चाहते थे। राष्ट्रीय शिक्षण-मण्डलों को ध्यान में रखकर जारी की गयी एक पत्रिका में वे कहते हैं :

"इस युग में यह पद्धति चल पड़ी है कि लोकजीवन का प्रत्येक व्यवहार चलाने के लिए एक-एक महकमा खोल दिया जाय। इसका सदर मुकाम एक जगह होता है और वहाँ से वह अपने आदमियों द्वारा गाँव-गाँव में शाखाएँ खुलवाता है और उनमें सव जगह एक ही प्रकार से काम करवाता है। इस पद्धति में कुछ लाभ अवश्य हैं। परन्तु उनके साथ ही कुछ दोष भी हैं। इस तरह के महकमे की कार्य-पद्धति यांत्रिक—यंत्रवत्—वन जाती है। इसमें हर मनुष्य को अपनी वुद्धि को इस यंत्र के अनुकूल वनाना पड़ता है। अनेक ऐसे रिवाज जारी करने पड़ते हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से खर्चीले और मूर्खतापूर्ण होते हैं। महकमे के मूल को धक्का लगते ही सारी शाखाओं का नाश होने का भय होता है। और मूल को धक्का पहुँचाना कठिन नहीं। अधिक कमाई करनेवाला और जनता को मोहित करनेवाला कोई नया महकमा खड़ा हो जाय, तो पहला महकमा वन्द किया जा सकता है।

"जहाँ तक मैं समझता हूँ, विद्यापीठ की स्थापना करने में हमारा हेतु यह नहीं

है कि अंग्रेज-सरकार के शिक्षाविभाग के समान ही हम भी कोई मध्यवर्ती शिक्षा-विभाग खोल दें और उसके जरिये सारे गुजरात में शिक्षा के कारखाने खोल दें और एक निश्चित साँचे में सारे विद्यार्थियों और शिक्षकों को ढालने लग जायँ। गुजरात विद्यापीठ का हेतु यह है कि जनता समझने लगे कि हर गाँव में जनता को ही अपने बच्चों की शिक्षा का प्रवन्ध करना है । यह शिक्षा गाँवों की आवश्यकता के अनुकूल हो। फिर यह भी स्पष्ट है कि आज ऐसी मध्यवर्ती संस्था के विना हमारा काम नहीं चल सकता। ऐसे समय, जब कि हमारी पुरानी संस्थाएँ नष्ट हो गयी हैं, जनता अपने पुराने संस्कारों को भूल गयी है, नयी संस्थाएँ निर्माण करने की अपनी नैसर्गिक शक्ति के बारे में हम श्रद्धा खो बैठे हैं; ऐसे समय इस तरह की संस्था ही हममें संघ-बल उत्पन्न करके हमारे प्रयासों के लिए एक ध्येय निश्चित करने में हमारी मदद कर सकती है। फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस मध्यवर्ती संस्था का काम केवल ध्रुव की भाँति सही दिशा बता देना है। इससे आगे बढ़कर यदि वह सारा संचालन अपने हाथों में लेने का प्रयत्न करेगी, तो उतने अंश में यह यन्त्र बन जायेगी । राष्ट्रीय शिक्षा-मण्डल का काम है कि वह विद्यापीठ को यन्त्र न बना दे।"

शिक्षित अथवा पढ़ा-लिखा किसे कहना चाहिए, इस विषय में उन्होंने एक पत्रिका में लिखा है :

"केवल लिखना-पढ़ना मात्र आ जाने से मनुष्य 'शिक्षित' नहीं कहा जा सकता। शिक्षण तो खानदानी स्वभाव में है। यह अगर अपने बच्चों में माता-पिता ला सकें, तो उन्हें असंतोष मानने के लिए कोई कारण नहीं । फिर ज्ञान की निरंतर प्यास होना भी शिक्षण का लक्षण है । जो माता-पिता अपने बच्चों को पढ़ा नहीं सकते, वे उनमें यदि ज्ञानप्राप्ति की प्यास भी जगा सकें, तो यह कम नहीं। इसके द्वारा बच्चे खुद दूसरों को देख-सुनकर और अपने अनुभव से स्वयं ही बहुत-सा ज्ञान प्राप्त कर लेंगे। अपने ज्ञान का शतांश भी मनुष्य शालाओं में नहीं प्राप्त करता। निन्यानवे प्रतिशत तो यह ज्ञान उसे प्रत्यक्ष जीवन में मिलता है। यह शतांश भले ही महत्त्वपूर्ण हो, परन्तु देश के सामने उपस्थित धर्म के पालन में इस शतांश का त्याग करना पड़े, तो यह कोई बहुत बड़ा त्याग नहीं कहा जायेगा।"

ता० १५-११-१९२० को महाविद्यालय की स्थापना हुई। इस अवसर पर महामात्र की हैसियत से भाषण करते हुए किशोरलाल भाई ने कहा :

"शिक्षा-परिषद् तथा साहित्य-परिषद् ने राष्ट्रीय शिक्षा के विषय में भिन्न-भिन्न प्रस्ताव किये हैं। परन्तु आज आपके सामने जो संस्था खड़ी की गयी है, उसका मूल आधार राजनैतिक परिषद् है। शायद यह आपको आश्चर्य में डाल दे। परंतु आज देश की राजनैतिक स्थिति भयंकर है। ......ऐसी क्रूर और भयंकर सरकार को इच्छापूर्वक एक दिन भी टिकाये रखना अधर्म है। सरकारी शिक्षण-पद्धति इसे टिकाये रखनेवाला एक उत्तम साधन है। इस विचार से प्रेरित होकर ही राजनैतिक परिषद् ने शिक्षण को व्यावहारिक रूप देने का निश्चय किया है।

"इस प्रकार आज आपके सामने राष्ट्रीय शिक्षा का प्रश्न केवल विशुद्ध शिक्षा की दृष्टि से नहीं खड़ा हुआ है। इसमें राजनैतिक दृष्टि प्रधान है। जनता के सामने आज यह सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न खड़ा हो गया है कि वह देश की शिक्षण-पद्धति को सरकारी नियन्त्रण से मुक्त कर ले।"

उस समय की परिस्थिति के कारण विद्यापीठ के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह अपने काम का प्रारम्भ ठेठ नीचे से करने के बजाय ऊपर से करे। इस विषय में किशोरलाल भाई ने कहा था :

"सच पूछिये तो महाविद्यालय शिक्षणमंदिर का कलश होता है। कलश चाहे कितना ही मूल्यवान और प्रकाशमान हो, फिर भी उसकी बुनियाद तो प्राथमिक शिक्षा ही है। परन्तु इस विद्यापीठ का श्रीगणेश महाविद्यालय से करना पड़ रहा है। इसलिए यह विद्यापीठ कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के आक्षेप का पात्र बन गया है। इस अटपटी स्थिति का कारण आज की राजनैतिक स्थिति है।"

यह विद्यापीठ मुख्यतः किनके लिए है—इस प्रश्न के उत्तर में किशोरलाल भाई ने जो लिखा है, वह विशेष रूप से जानने योग्य है :

"विद्यापीठ की ओर से मैं विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि यह विद्यापीठ मुख्यतः गुजरातियों के लिए है, फिर वे चाहे हिन्दू हों, जैन हों, मुसलमान हों, पारसी हों या ईसाई हों। मुसलमान और पारसी भाइयों को मैं विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि यह विद्यापीठ संस्कृतमय गुजराती का उत्कर्ष करने के लिए नहीं

हैं, बल्कि गुजराती भाषा का अधिक से अधिक अच्छी तरह जिस प्रकार उत्कर्ष संभव हो, उसके लिए है। केवल संस्कृतमय भाषा के लिए फारसी का बहिष्कार नहीं होगा। मुसलमान भाइयों से यह भी कह देना चाहता हूँ कि जिस श्रद्धा के साथ खिलाफत के प्रश्न के निपटारे के लिए आपने गांधीजी का नेतृत्व स्वीकार किया है, उसी श्रद्धा से यह मान लें कि इस विद्यापीठ में भी मुसलमानों के हितों की रक्षा हम अपनी शक्तिभर करेंगे।"

यद्यपि विद्यापीठ की स्थापना असहयोग के अंग के रूप में हुई है, तथापि आश्रम से विद्यापीठ में आये हुए हम लोगों ने तो यही मान लिया कि राष्ट्रीय शिक्षा के सिद्धान्तों का जनता में प्रचार करने तथा उनको प्रोत्साहन देने का यह उत्तम अवसर है। इसलिए हमारा यह अधिक-से-अधिक आग्रह रहता कि विद्यापीठ की शालाओं में राष्ट्रीय सिद्धान्तों को अधिक-से-अधिक दाखिल किया जाय। परन्तु बहुत से हाईस्कूल जो कि सरकार से असहयोग करके विद्यापीठ में शामिल हुए थे, वे शिक्षण की पद्धति में कम-से-कम फेरफार करने के पक्ष में थे। उन्हें लगता था कि अभी तो हमें मुख्यतः यही ध्येय अपने सामने रखना चाहिए कि हम सरकार के नियन्त्रण को हटा दें। यदि हम शिक्षा में अधिक फेरफार करने लगेंगे, तो जो विद्यार्थी अभी हमारा साथ दे रहे हैं, वे सरकारी शालाओं में चले जायेंगे। इस कारण कई बार नियामक सभाओं में तथा उनकी समितियों में सरकारी शिक्षा-वाले और राष्ट्रीय शिक्षावाले इस तरह के दो पक्ष पड़ जाते और दोनों के बीच उग्र मतभेद पैदा हो जाता। नागपुर कांग्रेस से लौटने पर सन् १९२१ की जनवरी में गांधीजी ने एक और जोरदार धमाका कर दिया। महाविद्यालय के विद्यार्थियों की सभा में भाषण करते हुए उन्होंने कहा :

"जिस वस्तु को मैं पहिले से ही मानता आया हूँ, उसीको आपके सामने रखता हूँ। इस वस्तु में मेरा तो शुरु से ही अडिग विश्वास रहा है। परन्तु यह विश्वास क्यों था, यह अब जितनी अच्छी तरह मैं समझ सका हूँ, वैसा पहले कभी नहीं समझ पाया था। जितनी दृढ़ता और आत्मविश्वास के साथ आज मैं उसे आपके सामने रखने जा रहा हूँ, उतनी दृढ़ता और आत्मविश्वास के साथ मैंने उसे पहले कभी नहीं रक्खा था।......अब तक मैं आपके सामने कई पक्वान्न परोसता रहा। परन्तु आज तो मैं आपके सामने यह कहने के लिए

आया हूँ कि यदि असहयोग को आप सच्चा करना चाहते हों, तो अपना हर घण्टा सूत कातने में ही लगाइये । यह बात आपको नयी मालूम होगी । आपको आघात भी लगेगा। जिन्हें बी० ए० होना है और जिन्हें विश्वास दिलाया गया है कि यह विद्यापीठ उन्हें यह डिग्री देगा, उनसे मैं कहना चाहता हूँ कि आज तो चरखा चलाना ही बड़ी-से-बड़ी डिग्री है। मैं इस सीमा तक इसलिए जा रहा हूँ कि इस समय मेरे विचारों में जो आवेग है, वही आपमें भी उत्पन्न हो, यह मैं देखना चाहता हूँ। यदि नौ महीनों में हम स्वराज्य लेना चाहते हैं, तो विद्यार्थियों के लिए असली विद्या यही है कि वे भारत में कपड़े के अकाल को मिटा दें। यदि विद्यार्थी इस साल इस काम को उठा लें, तो कांग्रेस अपने प्रस्ताव के अनुसार एक वर्ष के अन्दर स्वराज्य प्राप्त कर सकती हैं। विद्यार्थी अपने देश के लिए अपनी पढ़ाई को अलग रखकर मजदूर बन जायँ। इस मजदूरी के लिए मुआवजा न माँगें, तो आपकी कृपा; परन्तु यदि लेना चाहें, तो खुशी से ले भी सकते हैं। आप पढ़ाई को पूरी तरह छोड़ दें, यह मेरा आग्रह नहीं है। परन्तु यदि छोड़ भी दें, तो उससे आपकी विचार-शक्ति कम हो जायगी—ऐसा मैं नहीं मानता। जिसका मन मलिन नहीं है, उसकी विचार-शक्ति कभी नहीं घटती। पढ़-पढ़-कर हमारे दिमाग सड़ गये हैं। इसीलिए मैंने आपसे कहा कि छह घण्टे सूत कातिये और शेष समय में पढ़िये। मैं तो आपसे यह भी कहता हूँ कि कातने की कला में पारंगत होकर गाँवों में ही जाकर बसिये । इतना आत्मविश्वास आप में न हो, तो आप कॉलेज में भी रह सकते हैं। परन्तु मुझे इतना तो विश्वास है कि सभी लोग यदि रोज चार-छह घण्टे नहीं कातेंगे, तो स्वराज्य नहीं मिल सकेगा।"

महाविद्यालय के कई विद्यार्थियों पर इस भाषण का बहुत अच्छा असर हुआ । उन्होंने निश्चय किया कि अक्षर-ज्ञानवाले विषयों में समय देने की अपेक्षा हमें वस्त्र-विद्या के पीछे लग जाना चाहिए। इनके लिए यह सुविधा कर देने की दृष्टि से नियामक-सभा ने नीचे लिखा निश्चय किया।

"कांग्रेस के असहयोग सम्बन्धी प्रस्ताव के प्रति सम्मान प्रकट करने तथा एक वर्ष के भीतर स्वराज्य प्राप्त करने के प्रयत्न में सहायक बनने के लिए गुजरात विद्यापीठ द्वारा मान्यताप्राप्त सभी शालाओं के प्रबन्धक तथा अध्यापक

विद्यार्थियों को कताई की शिक्षा दें और स्वदेशी का प्रचार पूरे वेग से करने के लिए तथा देश में सूत की जो जबरदस्त कमी है, उसे पूरा करने के लिए जो-जो विद्यार्थी तैयार हों, उनके द्वारा सूत कतवावें। ऐसा करने के लिए समय देना पड़े, तो वह देने के लिए भी विद्यार्थियों को समझाकर तैयार करें।"

महाविद्यालय के आचार्य श्री गिदवानीजी को लगा कि सभी विद्यार्थियों से इस तरह कताई का काम कराया जायगा, तो यह बहुत दिनों तक नहीं निभेगा। इसलिए जो विद्यार्थी पुस्तकी ज्ञान चाहते थे, उनके लिए वर्ग जारी रखें। जो विद्यार्थी परीक्षा की तैयारी करने के बदले कताई सीखना चाहते थे तथा उसे सीख लेने के बाद उसके प्रचार के लिए गाँवों में जाना चाहते थे, उनके लिए 'स्वराज्य-आश्रम' नाम की एक अलग संस्था की स्थापना कर दी गयी। इसके बाद तो गुजरात में तथा दूसरे प्रान्तों में भी अनेक स्वराज्य-आश्रमों की स्थापना होती गयी। परन्तु यहाँ यह बता देना जरूरी है कि इन संस्थाओं को स्वराज्य-आश्रम का नाम देने की सूझ आचार्य गिदवानीजी की है।

इस सारी अवधि में किशोरलाल भाई बहुत बड़े धार्मिक मनोमंथन में से गुजर रहे थे। अपनी प्रवृत्तियों से उनके मन को पूरा समाधान नहीं हो रहा था। जीवन का ध्येय क्या हो, इस विषय में वे अत्यधिक मानसिक व्यथा महसूस कर रहे थे। इस सम्बन्ध में एक स्वतंत्र प्रकरण आगे दिया जा रहा है। परन्तु राष्ट्रीय शिक्षा और असहयोगी शिक्षा के पारस्परिक भेद के सम्बन्ध में नियामक सभाओं में जो चर्चा चलती, उसके बारे में उनके मन में बहुत भारी असन्तोष रहा करता। इसलिए सन् १९२१ की जनवरी में उन्होंने विद्यापीठ के महामात्र पद से त्यागपत्र दे दिया। इस विषय में स्वयं अपनी आलोचना करते हुए उन्होंने 'केलवणीना पाया' नामक पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा है:

"उस दिन तो मुझे केवल इतना ही भान था कि मेरे चित्त को शान्ति नहीं है। इसलिए विद्यापीठ के नवीन प्रयोग में बहुत रुचिपूर्वक कूद पड़ा। विद्यापीठ एक नवीन संस्था थी। परन्तु नयी संस्था में शामिल हो जाने मात्र से हृदय भी थोड़े ही नया बनता है। नयी संस्था में मैं पुराना—विविध प्रकार के रागद्वेषों-वाले आग्रह से भरा हुआ, हृदय लेकर गया और जिस प्रकार गाड़ी के नीचे-नीचे चलनेवाला कुत्ता समझता है कि मैं ही इस गाड़ी को खींच रहा हूँ, उसी

प्रकार मैं भी अपने को एक अपूर्व त्यागी, देशभक्ति से सराबोर विद्यापीठ का स्तंभरूप मानता और मुझसे सहमत न होनेवाले साथियों को स्वार्थबुद्धि में रँगे हुए समझता रहा। मैं सबसे झगड़ने लगा। ज्यों-ज्यों मेरी अपूर्णताएँ मेरी अयोग्यता को अधिकाधिक तीव्रता के साथ सामने लाने लगीं, त्यों-त्यों प्राथमिक शिक्षा और धार्मिक शिक्षाविषयक मेरा आग्रह बढ़ता ही गया। किन्तु जब मेरा आग्रह नहीं चला, तब अपनी अयोग्यता पर नाराज होने के बदले मैंने विद्यापीठ की ओर से विरक्ति धारण कर ली।"

इसके बाद किशोरलाल भाई ने आश्रम की राष्ट्रीय शाला में थोड़ा-बहुत काम किया। परन्तु वे अधिकतर समय धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन और मनन में बिताते। सन् १९२१ में श्री केदारनाथजी से उनका परिचय हुआ। उनके साथ चर्चाएँ करते हुए किशोरलाल भाई के मन में उन पर ऐसी श्रद्धा बैठ गयी कि उनको उन्होंने अपना गुरु मान लिया। उनकी सूचना से किशोरलाल भाई कुछ समय एकान्त में रहे। अन्त में उनके चित्त में समाधान हो गया। इसकी विस्तृत जानकारी अगले प्रकरण में दी गयी है। साधना पूरी होने पर जब वे फिर से प्रवृत्तियों में भाग लेने लगे, तब सन् १९२३ के मार्च में सरदार वल्लभ भाई तथा अन्य मित्रों के आग्रह से उन्होंने फिर विद्यापीठ के महामात्र का पद स्वीकार कर लिया।

इस समय तक देश का राजनैतिक वातावरण पूर्णतः बदल गया था। सन् १९२२ के मार्च में गांधीजी को छह वर्ष की सजा हो चुकी थी। समस्त कार्यकर्ता और नेताओं में यही वृत्ति काम कर रही थी कि गांधीजी जिन संस्थाओं को छोड़ गये हैं, उन्हें ठीक-ठीक चलाते रहें और लौटने पर वे उन्हें उसी प्रकार सौंप दें। परन्तु जनता में असहयोग के प्रति अब वह उत्साह नहीं रहा था। इसलिए असहयोगी शिक्षण-संस्थाओं में विद्यार्थियों की संख्या घटने लगी थी। दूसरी बार महामात्र के पद पर आने के बाद लगभग तीन महीने तक सारी परिस्थिति का निरीक्षण करने के बाद सन् १९२३ के मध्य में किशोरलाल भाई ने नियामक सभा को चेतावनी देते हुए कहा—"शालाओं और विद्यार्थियों की संख्या घटती जा रही है। इस बात पर नियामकों को और जनता को गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए।" उन्होंने यह भी कहा

कि "शिक्षा के विषय में जनता के विचार, विद्यापीठ का उद्देश्य तथा शिक्षा का ध्येय—इन तीनों पर जब तक अच्छी तरह विचार नहीं किया जायगा, तब तक मेहनत करते हुए भी मन को सन्तोष नहीं होगा।" अन्त में जनवरी १९२४ में नियामक सभा ने निम्नलिखित निश्चय किया।

"गुजरात-विद्यापीठ की देखरेख में राष्ट्रीय शिक्षा की जो शालाएँ चल रही हैं, उन्हें सुव्यवस्थित करने के लिए, राष्ट्रीय शिक्षा के विषय में जनता के मानस को ठीक तरह से शिक्षित करने के लिए तथा अच्छे शिक्षकों के लिए उचित अनुकूलताएँ निर्माण करने के लिए क्या-क्या करना जरूरी है, इन सब बातों का विचार करने के लिए गुजरात के राष्ट्रीय शिक्षा-मंडलों के शिक्षकों का तथा उनकी व्यवस्थापक समितियों के सदस्यों का एक सम्मेलन जल्दी-से-जल्दी किया जाय और इस सम्मेलन के निर्णय नियामक सत्ता के समक्ष सिफारिशों के रूप में पेश किये जायँ।"

यह निर्णय करते समय यह कल्पना थी कि गांधीजी तो अभी जेल में हैं, इसलिए यह सम्मेलन उनकी अनुपस्थिति में ही करना होगा। परन्तु मार्च १९२४ में सरकार ने उन्हें बीमारी के कारण छोड़ दिया। छूटने के बाद कुछ समय वे आरोग्य प्राप्त करने के लिए जुहू में रहे। इसलिए यह तय रहा कि गांधीजी के वहाँ से आने पर ही सम्मेलन किया जाय। अन्त में अगस्त मास में अहमदाबाद में सम्मेलन हुआ।

सम्मेलन का प्रारम्भ करते हुए किशोरलाल भाई ने कहा—"यह सम्मेलन हम ऐसे वातावरण में कर रहे हैं, जब कि राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में सर्वत्र अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ अनुभव की जा रही हैं और सबके मन में ऐसी शंकाएँ भरी हुई हैं, जिन्हें प्रकट करके कोई बाहर नहीं दिखा सकता। ये शंकाएँ चाहे राष्ट्रीय शिक्षा के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में हों या उन्हें व्यवहार में लाने की योजनाओं के सम्बन्ध में हों।' इस सम्मेलन में हम उन पर तो विचार करेंगे ही, परन्तु मेरी अपनी तो सबसे एक ही प्रार्थना और इच्छा है, वह यह कि यदि आपसे बन पड़े, तो आप सब हममें ऐसी शक्ति प्रेरित करें कि जिससे विद्यापीठ की प्रवृत्ति का विस्तार बढ़े या न बढ़े, इसमें काम करनेवाले हम सब अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कम त्याग कर सकें या अधिक, हममें जो भी

थोड़े या अधिक गुण-दोष हों, फिर भी हम सब जैसे भी हैं, एक दूसरे के साथ सखाभाव से रहना सीखें। मेरी आप सबसे यही याचना है कि आप ऐसी शक्ति हममें प्रेरित करें, क्योंकि मुझे लगता है कि अन्य सारी सफलताएँ इस शक्ति के पीछे-पीछे स्वतः आ जावेंगी।"

गांधीजी ने उत्तर में कहा :

"भाई किशोरलाल ने जिस शक्ति की याचना की है, वह मेरी शक्ति के बाहर की बात है। शिक्षक आपसमें सखाभाव से वर्ताव करने लगें, तो वह तो स्वराज्य ही कहा जायगा। यह देना मेरे हाथ में नहीं। यह भिक्षा तो ईश्वर से ही माँगी जा सकती है और वह हमें यह चीज दे दे, तब तो सभी कुछ मिल गया समझना चाहिए। यह शिक्षा आपको तो कुछ नहीं सी ही लगती होगी, परन्तु उसका देना मेरे लिए तो अशक्य ही है। मैं तो आपके सामने कुछ सूचनाएँ रखूंगा और कुछ ऐसी तकलीफ की बातें पेश करूँगा, जिनसे आपका तथा मेरा भी उत्साह बढ़े।"

फिर सूत के धागे से स्वराज्यवाली अपनी बात कहते हुए वे बोले :

"क्या मैं पागल हो गया हूँ ? अगर हम सचमुच मानते हैं कि सूत के धागे से हम स्वराज्य ला सकते हैं, तो हमें यह करके दिखा देना चाहिए। मेरे पास दो पत्र आये हैं। उनमें लिखा है—"तू मूर्ख हो गया है। पहले तो चरखे की बातें कुछ मर्यादा के साथ करता था, अब तो वह मर्यादा भी छोड़ दी।" दुनिया मुझे 'मूर्ख' कहे, 'पागल' कहे, गालियाँ दे, तो भी मैं तो यही बात कहूँगा। मुझे दूसरी बात सूझती ही नहीं, तब मैं क्या करूँ ? मैं तो महाविद्यालय के स्नातक को भी यदि वह चरखे की परीक्षा में पास न हो, तो फेल कर दूं। उसे प्रमाण-पत्र देने से इनकार कर दूं। लोग कहते हैं कि यह ज्यादती है। मैं पूछता हूँ कि ज्यादती का अर्थ क्या होता है ? अंग्रेजी, गुजराती, संस्कृत सीखनी होगी-ऐसे नियम बनाने में ज्यादती नहीं होती ? इसी प्रकार कहिये कि कताई सीखना अनिवार्य होगा। हाँ, खुद हमारा ही इसमें विश्वास न हो, तो बात दूसरी है। विद्यार्थियों से कहना चाहिए कि वे यदि कातेंगे नहीं, तो शाला में नहीं रह सकेंगे। इसमें बुरा क्या है ? ....जिस चीज को हम जरूरी समझते हैं, उसे निःसंकोच बच्चों से कहना ही चाहिए। जिन बच्चों या माता-पिता को

वह मंजूर न हो, वे भले ही न आवें। प्राथमिक शालाएँ, विनयमंदिर, महाविद्यालय यदि सचमुच स्वराज्यशालाएँ हैं, तो इनमें यह नियम होना ही चाहिए। दूसरा विचार हमारे लिए अप्रस्तुत है। (शिक्षकों में से) जिनके विचार बदल गये हों, वे त्यागपत्र दे दें।"

इसके बाद सर्वसाधारण की तथा गाँवों की शिक्षा के विषय में बापू ने जो कहा, वह आज भी उतना ही लागू है :

"यदि हम सर्वसाधारण को सुशिक्षित करना चाहते हैं, तो महाविद्यालय को भले ही महत्त्व दें, परन्तु अन्त में तो उसे गंगोत्री ही बना देना होगा। अन्त में उसके विद्यार्थी अपनी शिक्षा समाप्त करके गाँवों में ही जाकर बैठें। इसी विचार से उन्हें तैयार करें। भले ही उनकी संख्या थोड़ी हो। चिन्ता की कोई बात नहीं।

"परन्तु मैं तो प्राथमिक शाला पर ही जोर देना चाहता हूँ। विद्यापीठ प्राथमिक शालाओं पर अधिक ध्यान दे। उनके बारे में अपनी जिम्मेदारी अधिक समझे। प्राथमिक शाला किस प्रकार चलानी चाहिए, इसके बारे में विचार करें। मैं अपना विचार बता देता हूँ। सरकारी शालाओं का अनुकरण करते बैठना मूर्खता है। सात लाख गाँवों में भला सरकार पहुँच सकती है? सात में से तीन लाख में भी तो शालाएँ नहीं हैं। जहाँ इतनी दीन स्थिति है, वहाँ सरकारी ढंग की शालाएँ खड़ी करने में क्या सार है? हमारी शालाओं के लिए मकान न हों, तो भी हम अपना काम चला लें। हाँ, शिक्षक मात्र चरित्रवान् हों।"

इस परिषद् में प्रस्तावों द्वारा विद्यापीठ की नीति स्पष्ट की गयी। परन्तु निरुत्साह का जो वातावरण फैलाया था, उसमें इससे कोई बहुत फर्क नहीं पड़ा। अन्त में सन् १९२५ के अन्तिम दिनों में आचार्य श्री आनंदशंकर ध्रुव की अध्यक्षता में एक जाँच-समिति नियुक्त की गयी और उसे सारी परिस्थिति का व्यवस्थित परीक्षण करने एवं विद्यापीठ तथा उसकी मातहत संस्थाओं के विधान, पाठ्यक्रम और कार्य की दिशा पर विचार करके अपने सुझाव पेश करने का काम सौंप दिया गया।

दूसरी बार महामात्र बनने के बाद किशोरलाल भाई चित्त की इतनी

स्थिरता तथा शान्ति से काम करते थे कि पहली वार जिनके साथ उनके मतभेद हो गये थे, उनके मन को भी उन्होंने जीत लिया। इसके अलावा विद्यापीठ के दफ्तर का सारा काम इतनी अच्छी तरह से व्यवस्थित कर दिया कि आज भी उनके द्वारा डाली गयी पद्धति पर ही वहाँ सारा काम चल रहा है। फिर भी प्राथमिक शिक्षण के वारे में उनका उत्साह कम नहीं हुआ। गांधीजी ने भी प्राथमिक शिक्षण पर तथा विद्यापीठ को गाँवों में ही अपने काम का अधिक विस्तार करने पर जोर दिया था। विद्यापीठ के नियामक मण्डल का उद्देश्य भी इसे कम महत्त्व देने का नहीं था। परन्तु उसे उन दिनों ऐसा लग रहा था कि उन परिस्थितियों में उसे महाविद्यालय को ही अधिक महत्त्व देना चाहिए। इसलिए अन्त में किशोरलाल भाई ने सन् १९२५ के नवम्वर महीने में विद्यापीठ से त्यागपत्र दे दिया। उस समय उन्होंने नियामक सभा के सदस्यों को संवोधित करते हुए एक पत्र लिखा, जिसमें कुलनायक तथा महामात्र के कार्य के वारे में कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये थे। कुलनायक के कार्य के विषय में उन्होंने लिखा था :

"(१) विद्यापीठ का मार्गदर्शन करने के लिए कुलनायक के पास एक स्पष्ट कार्यक्रम हो, जिसे नियामकों तथा कार्यवाहकों की तत्त्वतः सम्मति मिली हो।

"(२) वह शिक्षा के विषय में अपने सिद्धान्त स्पष्ट रूप से सवके सामने रख दे और नियामक तथा कार्यवाहक इन्हें प्रयोग के लिए ठीक समझें।

"(३) नियामकों तथा कार्यवाहकों को इसके चरित्र, व्यक्तिगत निःस्वार्थता, वुद्धि, विद्वत्ता और प्रामाणिकता के विषय में पूर्ण विश्वास हो और उसकी योजनाओं को सफल वनाने में इनका पूरा-पूरा सहयोग मिलेगा, ऐसा उसे विश्वास हो। इसी प्रकार जिन उच्च आशयों अथवा आदर्शों में वह विद्यापीठ को रँगना चाहे, उन आशयों और आदर्शों में इनकी निष्ठा हो, यदि कुलनायक तथा नियामकों और कार्यवाहकों के वीच इस प्रकार का सम्वन्ध नहीं होगा, तो मुझे लगता है कि कुलनायक चाहे कितना ही वड़ा आदमी हो, वह विद्यापीठ को आगे नहीं वढ़ा सकेगा।"

महामात्र के विषय में उन्होंने लिखा था : "सवसे अधिक महत्त्व की

बात तो यही है कि उसमें इस कार्य को सँभालने की शक्ति होनी चाहिए। श्री गिदवाणी ने एक बार सुझाया था कि महामात्र की पसंदगी कुलनायक किया करे। मेरा खयाल है कि विद्यापीठ की आज की स्थिति में यह सूचना अच्छी है।......

"ऊपर के दो प्रश्नों को सन्तोषजनक रीति से हल करने से ही विद्यापीठ में नवीन चेतना लायी जा सकती है और विद्यार्थियों तथा जनता में पुनः श्रद्धा जाग्रत की जा सकती है। विद्यापीठ अपने स्नातकों को किस प्रकार की शिक्षा देना चाहता है, अपनी तरफ आशाभरी नजर से देखनेवाली जनता में वह किस प्रकार के संस्कार फैलाना चाहता है और इस सबके लिए किस प्रकार के साधनों का वह उपयोग करना चाहता है, इन बातों का ठीक-ठीक निश्चय किये बिना काम नहीं चलेगा।

"इन प्रश्नों पर आप निष्पक्षभाव से गंभीरतापूर्वक और स्पष्ट रूप से विचार नहीं करेंगे, तो मुझे लगता है कि आप भूल करेंगे। यदि मैं अपने मन के ये भाव आपको न बताऊँ, तो मैं कर्तव्य-भ्रष्ट होऊँगा। इसीलिए महामात्र-पद छोड़ने से पूर्व ऊपर लिखी सूचनाएँ देने की इच्छा को मैं रोक नहीं सका। इसमें आपको धृष्टता मालूम हो, तो क्षमा करेंगे।"

◆◆◆

साधना

[किशोरलाल भाई की साधना विषयक यह प्रकरण श्री केदारनाथजी ने स्व० श्री नरहरि भाई परीख की प्रार्थना पर लिखा था। इस हिन्दी संस्करण के लिए पू० नाथजी ने अपने इस प्रकरण को फिर से दोहरा दिया तथा काफी नये संशोधन किये हैं। इसके लिए पू० नाथजी के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं।]

मुझे लगता है कि सन् १९१७ ई० में कोचरव (अहमदावाद) में गांधीजी के आश्रम में स्थापित राष्ट्रीय शाला में किशोरलाल भाई जब वर्ग ले रहे थे, तब मैंने उन्हें पहले-पहल देखा। काकासाहब कालेलकर और स्वामी आनन्द के साथ मेरा सम्बन्ध होने के कारण मैं कभी-कभी आश्रम जाता रहता था। उस समय उनके विषय में केवल इतनी ही जानकारी मिली थी कि वे अकोला में वकालत करते थे। उसे छोड़कर वे चम्पारन गये और वहाँ से पूज्य बापू ने उन्हें यहाँ की शाला में काम करने के लिए भेजा।

सन् १९२० में मैं साबरमती-आश्रम में गया, तब वे काका के पड़ोस में रहते थे। आश्रम के बहुत-से शिक्षक काका के पास आते और अनेक विषयों पर चर्चा करते। इन चर्चाओं में किशोरलाल भाई मुख्य भाग लेते। काका के पड़ोस में ही वे रहते थे। इसलिए उनके भजन और रात का धार्मिक पठन-पाठन आदि मुझे सुनाई देता था। इस पर से मैंने यह समझा कि वे बड़ी धार्मिक वृत्तिवाले पुरुष हैं। फिर से जब मैं आश्रम में गया, तब सुना कि वे ईश्वर-प्राप्ति के लिए घर छोड़कर जानेवाले हैं। बापू उन्हें ऐसा न करने के लिए समझा रहे थे। परन्तु उनका निश्चय बदल नहीं रहा था। बहुत पूछ-ताछ न करने का मेरा स्वभाव होने के कारण मैंने अधिक पूछताछ नहीं की। फिर भी काका से इतना तो मालूम हुआ कि उनके गृहत्याग के विचार के

कारण आश्रम के प्रमुख लोगों में तथा खासकर उनके मित्रों में बड़ी चिन्ता उत्पन्न हो गयी है। एक बार काका ने उनसे कहा कि आप ईश्वर-ज्ञान-प्राप्ति के लिए सर्वस्व छोड़कर जा रहे हैं, तो इस विषय में नाथजी से तो कुछ पूछ देखिये । इस पर किशोरलाल भाई ने कहा कि "क्या नाथजी इस विषय में कुछ जानते हैं?" काका ने कहा: "एक बार पूछकर देखें।" जिससे एक दिन किशोरलाल भाई मेरे पास आये और उन्होंने अपनी मानसिक स्थिति का वर्णन किया। पहला ही प्रसंग था, इसलिए उस दिन उन्होंने पूरी तरह से अपना दिल खोलकर बात नहीं की । फिर भी उनके हृदय की व्याकुलता को मैं समझ गया। उनके धार्मिक वाचन तथा अभ्यास के विषय में मैंने उनसे पूछा। इसके उत्तर में उन्होंने बताया कि स्वामीनारायण-संप्रदाय के ग्रन्थों तथा इस विषय का अन्य कुछ वाचन हुआ है।

किशोरलाल भाई जिस विषय के लिए मेरे पास आये थे, उस विषय में मुझे समाधान हो गया था और मित्रों को मैं उस विषय में कभी-कभी सलाह भी देता था। फिर भी किसी बात में भाग न लेने का स्वभाव न होने से मैं यथासंभव अलग ही रहता। मैं अपने को इस विषय का कोई बड़ा ज्ञाता नहीं मानता था। जब कभी मैं आश्रम पर जाता, तब इस विषय की चर्चा में भाग लेने के बजाय बुनाई, बढ़ईगिरी आदि सीखने में अपना समय लगाता था। मैं चाहता था कि शरीर-श्रम से स्वावलम्बी बन जाने के बाद अपने विचार समाज के सामने रखूँ। इस विषय में मैं कुछ जानता हूँ अथवा इसका थोड़ा-बहुत अभ्यास करता हूँ—यह बात आश्रम में काका और स्वामी को छोड़कर और कोई नहीं जानता था और न मैं ही चाहता था कि कोई जाने। फिर भी किशोरलाल भाई जैसे श्रेयार्थी मेरे पास आये, इसलिए मैंने उनके साथ बात-चीत की। पहली मुलाकात में उनके-हमारे बीच इस प्रकार का संवाद हुआ, ऐसी याद है।

किशोरलाल—काका साहब ने आपके बारे में कुछ जानकारी दी । उसीसे मैं आपके पास आया हूँ। बापू ने एक वर्ष में स्वराज्य लेने का निश्चय किया है। परन्तु मुझे लगता है कि यदि हम अपना पारमार्थिक स्वराज्य इस जन्म में प्राप्त नहीं कर सके, तो यह जीवन व्यर्थ है। मुझे इस स्वराज्य के लिए

व्याकुलता हो रही है और इसके लिए घर, आश्रम आदि सब कुछ छोड़कर कहीं एकान्त में जाकर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहता हूँ।

मैं—कहीं अर्थात् कहाँ? इस विषय में तो आपने कुछ विचार किया ही होगा?

किशोरलाल—वैसा कोई निश्चित विचार नहीं किया है। परन्तु मुझे इतना तो विश्वास हो गया है कि घर पर अथवा आश्रम में रहकर मैं वह प्राप्त नहीं कर सकूंगा।

मैं—हमारा साध्य क्या है, उसका साधन क्या है और कहाँ जाना है—इसके विषय में कोई विचार निश्चित करने से पहले आश्रम छोड़कर कहीं बाहर चले जाना क्या उचित होगा?

किशोरलाल—नहीं, इसीलिए वह जानने के लिए ही मैं आपके पास आया हूँ।

मैं—आप जिस संप्रदाय की पद्धति के अनुसार चल रहे हैं, उसमें भी तो कोई ज्ञानी, अनुभवी पुरुष होगा न? और संप्रदाय के ग्रन्थों में भी कोई साधन-मार्ग बताया होगा न?

किशोरलाल—संप्रदाय में ऐसा कोई ज्ञानी और अनुभवी पुरुष हो, तो भी मुझे उसका पता नहीं है और ग्रन्थों में भक्ति के सिवा कोई साधन-मार्ग नहीं बताया है। इसीलिए मुझे लगा कि किसी अनुभवी पुरुष से सलाह लेनी चाहिए।

मैं—इस समय तो मैं आपको इतनी ही सलाह दूँगा कि जीवन का साध्य और उसके साधन को ठीक से समझे बिना और यह विश्वास होने से पहले कि वह गृहत्याग करने से ही प्राप्त होगा, आप घर छोड़कर न जायँ। यह मैं आपसे आग्रहपूर्वक कह रहा हूँ। यदि केवल व्याकुलता के कारण मनुष्य घर छोड़े, तो भी चौबीसों घंटे वह क्या करे, यह समय वह कैसे बिताये, इसका साधन न मिले, तो आगे चलकर साधक मुसीबत में पड़ जाता है। व्याकुलता सच्ची होने पर भी यदि उचित साधन न मिले, तो साधक ऊब जाता है और फिर बिना कुछ प्राप्त किये लौट आना उसके लिए कठिन हो जाता है। इस विषय की व्याकुल अवस्था अत्यन्त नाजुक और गंभीर होती है। उचित

उपाय और साधन-मार्ग न मिले, मन को समाधान न हो, तो आगे चलकर आज से भी अधिक कठिन स्थिति पैदा होना संभव है। इसलिए कहीं भी जाने से पहले इस विषय में पूरा-पूरा विचार कर लेना चाहिए।

किशोरलाल भाई का हेतु शायद यह रहा हो कि मैं उन्हें आध्यात्मिक विषय में कुछ सलाह दूँ। परन्तु मेरी ऐसी इच्छा नहीं थी। इस कारण पहली मुलाकात में मैं अपने और दूसरों के अनुभव के आधार पर कुछ सूचनाएँ देने के सिवा अधिक कुछ नहीं कर सका। इसके बाद मेरी सूचना पर विचार करके साध्य और साधन के विषय में बातचीत करने के लिए वे मेरे पास बार-बार आने लगे। उनकी व्याकुलता, विद्वत्ता, चित्त की निर्मलता आदि के विषय में मैं ठीक-ठीक समझ सका। उस समय मैं यह भी जान गया कि सहजानन्द स्वामी तथा उनके सम्प्रदाय पर उनकी अनन्य श्रद्धा है। इसके साथ-साथ मैंने यह भी देखा कि साध्य और साधन के विषय में परम्परागत मान्यता और श्रद्धा से अधिक उन्होंने कोई विचार नहीं किया था और मुझे निश्चय हो गया कि आज की व्याकुल अवस्था में कुटुम्ब के लोग, मित्रजन अथवा स्वयं बापू भी चाहे कितना ही आग्रह करें, तो भी घर छोड़कर जाने के अपने निश्चय को वे नहीं बदलेंगे। क्योंकि यह अवस्था ही ऐसी होती है कि अपने मन के विरुद्ध मनुष्य किसीकी भी बात नहीं सुनता। वह समझता है कि विरुद्ध बात कहनेवाले को उसके (साधक के) मन की स्थिति की कल्पना नहीं होती। बुद्धि से यदि उसके मुद्दों का खण्डन किया जाय, तो उससे उसकी भक्ति, भावना और श्रद्धा को पहुँचनेवाले आघात के कारण वह और भी अधिक आग्रही बनता है। यह सब मैं जानता था। इसलिए उस समय उनके मन की जो स्थिति थी, उसकी ठीक-ठीक कल्पना मैं कर सका था। इसलिए मैंने ऊपर लिखी सूचनाएँ कीं।

ज्यों-ज्यों मेरे पास वे आते गये, त्यों-त्यों आध्यात्मिक विषय में अपनी दृष्टि मैं उन्हें समझाने लगा। मैंने उन्हें बताया कि चित्त की निर्मलता और दृढ़ता तथा सद्गुणों का विकास करके कर्तव्य कर्म करते-करते अपने उत्साह को कायम रखना और ऐसी स्थिति प्राप्त करना कि जिसमें हमारा मन तमाम विषयों से अलिप्त रहे—यही मानव-जीवन का उद्देश्य है। असल में मानवता

ही सच्ची साध्य वस्तु है। ईश्वर, आत्मा और ब्रह्म के साक्षात्कार के विषय में बहुत-सी कल्पनाएँ और भ्रम परम्परा से चले आये हैं। उनमें हम न पड़ें। परन्तु शुद्ध बुद्धि से हमें विचार करना चाहिए कि ये तत्त्व क्या हैं? तत्त्वज्ञान के विषय में भी अनेक और भिन्न-भिन्न वाद हैं। इन सबका आधार बहुत कुछ तर्क पर ही है। अवतारवाद के कारण ईश्वर के विषय में हमारे समाज में अनेक कल्पनाएँ रूढ़ हैं। इनके कारण ईश्वर का दर्शन करने की इच्छा और उत्कण्ठा साधक को बहुत व्याकुल कर डालती है। परन्तु हमें ऐसी किसी कल्पना के पीछे नहीं पड़ना चाहिए। केवल चित्त की स्वाधीनता साधनी चाहिए। ईश्वर-निष्ठा को हृदय में दृढ़ कर लेना चाहिए। मानव-जीवन के लिए आवश्यक सद्गुणों का अनुशीलन और संवर्धन करना चाहिए। अपने प्राप्त कर्तव्यों को करते-करते ही ये सारी बातें हम साध सकते हैं। विवेक, संयम, निग्रह और सतत जाग्रति अर्थात् सावधानी—इन सबके द्वारा हम कर्ममार्ग में ही अलिप्तता प्राप्त कर सके, तो जीवन में दूसरा कुछ भी साध्य करने जैसा नहीं रह जाता। इसके लिए मनुष्य को अपनी शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक पात्रता बढ़ाते रहना चाहिए और यह सब अपने दैनिक कर्तव्यों के करते हुए ही हम बढ़ा सकते हैं।

इस आशय की कुछ-न-कुछ बातें मैं उनसे रोज करता रहता। परन्तु किशोरलाल भाई अनेक पुश्तों के भक्ति-मार्ग के संस्कारों में छोटे से बड़े हुए थे और ये संस्कार उनकी रग-रग में भिद गये थे। इसलिए मैं जानता था कि ये बातें एकाएक उनके गले नहीं उतरेंगी। किशोरलाल भाई के मन पर मेरे कहने का कोई विशेष परिणाम हुआ हो, ऐसा मुझे नहीं दिखाई दिया। परन्तु इससे मुझे कोई आश्चर्य अथवा दुःख नहीं हुआ। इसीलिए एकान्त में जाने के उनके विचार का मैंने विरोध नहीं किया। उल्टे मैं उन्हें कहता रहता कि "मेरी बात आपको नहीं जँचेगी। उस पर आपको विश्वास नहीं होगा, क्योंकि जिन पर आपको दृढ़ श्रद्धा है और जिनके ग्रन्थ पढ़कर आपके मन की यह स्थिति हुई है, उन्होंने दूसरी ही वस्तु को जीवन की सार्थकता बताया है। उसीमें आपको दिव्यता, अद्भुतता और महत्ता प्रतीत होगी। उनके ग्रन्थों में आपको ऐसी कई बातें मिलेंगी, जहाँ बुद्धि काम नहीं करती। मैं जो कुछ कहता हूँ,

उसमें केवल मानवता पर जोर है, मानवता और सद्‌गुणों का आग्रह है। इसमें कोई दिव्यता न दिखाई दे, तो यह स्वाभाविक है। मेरी बात मानने का अर्थ यह होगा कि जिन पर आपकी श्रद्धा है, जिन्हें आप अवतारी पुरुष—प्रत्यक्ष भगवान् मानते हैं, वे भी भूले, ऐसा मानना और स्वीकार करना होगा। परन्तु ऐसा विचार मन में आना, उसे सही समझना और उनके विषय में मन में शंका होना महापाप है—ऐसा पाप कि जिसके लिए कोई प्रायश्चित्त ही नहीं—ऐसा आपको लगना स्वाभाविक है। इसलिए इस विषय में मैं आपसे कोई आग्रह नहीं करूँगा। बल्कि यही कहूँगा कि उनके बताये मार्ग पर ही चलें। भक्ति, उपासना अथवा साधना का जो भी मार्ग उन्होंने बताया हो, उसीका आचरण कर आपको स्वयं उस विषय का निश्चित ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। केवल श्रद्धा से मानी हुई चीज को अनुभव अथवा सिद्धान्त न समझ लें। इस बात को न भूलें कि सिद्धान्त प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ही कायम किये जाते हैं।"

मैं स्पष्ट देख रहा था कि प्रारम्भ में तो मेरा कहना उनके गले नहीं उतरता था। वे अनेक प्रकार के प्रश्न करते। परन्तु धीरे-धीरे मेरे साथ होने-वाली बातचीत का असर उन पर पड़ने लगा। वे विचार में पड़ते गये। वे श्रद्धावान् थे, पर साथ ही बुद्धिमान् भी थे। कितनी ही बातें उनकी बुद्धि ने मान ली होंगी। इसीलिए मेरे पास आना उन्होंने जारी रखा। इतना ही नहीं, पर जैसे-जैसे मेरे साथ बातचीत करने के प्रसंग बढ़ते गये, वैसे-वैसे केवल श्रद्धा के विषयों को छोड़कर तत्त्वज्ञान के विषय में भी वे सूक्ष्मता से अनेक प्रश्न पूछने लगे। इससे मुझे लगा कि उनके मन में श्रद्धा और बुद्धि अर्थात् केवल श्रद्धा से मानी हुई बातों और बुद्धि द्वारा समझने लायक बातों के विषय में जोरदार मन्थन शुरू हुआ होगा।

अभ्यास द्वारा अनुभव से निश्चित ज्ञान करने के लिए वे एकान्त में जाकर रहें, यह भी मैंने उनसे कहा। इससे उन्होंने जल्दी ही एकान्त में जाने का निश्चय किया। परन्तु उनकी समझ में यह नहीं आ रहा था कि कहाँ जायँ! साम्प्रदायिक मठ, मन्दिर—सब भरे हुए थे। कहीं भी जाने लायक स्थान उन्हें सूझ नहीं रहा था। तब मैंने उनसे कहा कि "जगह का प्रबन्ध मैं कर देता हूँ।

परन्तु वैराग्य के आवेश में आप इधर-उधर भ्रमण न करें। एक जगह रहकर स्थिरता से साधना करो, वाचन-मनन करो, तत्त्वज्ञान का अध्ययन करो—यही आपसे मेरा आग्रहपूर्वक कहना है।" इसके बाद कुछ ही दिनों में उन्होंने घर छोड़ने का निश्चय किया और मैं भी सोचने लगा कि कौनसा स्थान उनके लिए सुविधाजनक होगा।

किशोरलाल भाई को घर छोड़ने की अनुमति मैंने दी, यह बात बापू को जब मालूम हुई, तब उन्हें आश्चर्य हुआ। इसके अलावा बापू से बगैर पूछे मैंने स्पष्ट मत दिया, इससे अनेक आश्रमवासियों को विलक्षणता लगी। सबके मन को आघात भी लगा होगा। फिर बापू ने मुझे बुलाया और कहा : "किशोरलाल को एकान्तवास कैसे अनुकूल होगा? दमे के कारण उनकी तबीयत हमेशा ख़राब रहती है। ऐसी स्थिति में वे किसी भी जगह अकेले कैसे रह सकेंगे? उनके स्वास्थ्य के अनुकूल खाने-पीने की व्यवस्था कैसे हो सकेगी? और कहीं बीच में ही उनकी तबीयत बिगड़ गयी, तो उन्हें कौन सँभालेगा?" ये सब प्रश्न उन्होंने मुझसे पूछे और बोले : "आपने उन्हें एकान्त में रहने की सलाह दी, यह मुझे साहस लगता है। आप महाराष्ट्रीय हैं। कष्टसहिष्णुता आपको विरासत में मिली है। गुजराती को यह विरासत मिली हुई नहीं है। तिस पर किशोरलाल को तो जरा भी नहीं मिली है। ऐसी स्थिति में वे अकेले कैसे दिन बितायेंगे?" इसके उत्तर में मैंने कहा : "हम सब उन्हें रोकने का चाहे जितना प्रयत्न करें, परन्तु आज उनके मन की स्थिति ऐसी नहीं है कि वे रुक जायँ। उल्टे, हमारे विरोध और आग्रह के कारण उनका यह विचार और भी दृढ़ होता जायगा। ऐसी स्थिति में मन की अनिश्चित अवस्था में घर में से निकलकर कहीं वे चले जायँ, इसकी अपेक्षा उनके हेतु की दृष्टि से मुझे यही लाभदायक लगा कि वे किसी एक स्थान पर रहें और स्थिरतापूर्वक कुछ अभ्यास करें। इसलिए मैंने उन्हें यह सलाह दी। उनकी बात छोड़ दें, तो भी स्वतन्त्र रूप से भी मेरी राय यही है कि मन की ऐसी अवस्था में किसीको भी कुटुम्ब के साथ नहीं, किन्तु अकेले रहना चाहिए और अपनी कल्पना, भावना और श्रद्धा के अनुसार अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य को अपने मन की सही स्थिति को पहचानकर कुछ अनुभव लेना

चाहिए। इससे उसकी उत्कण्ठा और व्याकुलता को खुला रास्ता मिलकर उसका शमन होता है। विशेषत: जब मनुष्य को प्रतिकूल परिस्थिति में मन के विरुद्ध रहना पड़े, तो उसकी दम घुटने जैसी स्थिति हो जाती है। अनुकूल स्थिति मिलते ही वह स्थिति दूर हो जाती है। उत्कण्ठा और व्याकुलता इन्हीं कारणों से बढ़ती है। एकान्त मिलते ही इनका कुछ अंशों में शमन होता है। एकान्त में ही उसे इस बात का ज्ञान होता है कि वास्तव में उसे व्याकुलता किस चीज के लिए है और वह कितनी है। उसे अपनी असली वृत्तियों तथा पात्रता-अपात्रता का ज्ञान भी वहीं होता है। इस स्थिति में यदि उपयुक्त साधन मिल जाता है, तो उसके मन को समाधान होता है और वह शान्त हो जाता है। इन सब बातों का विचार करके मैंने किशोरलाल भाई को अनुमति दी है। अब सिर्फ यह प्रश्न रह जाता है कि वे कहाँ रहें।"

इस पर बापू ने पूछा : "कहीं दूर न जाकर यहीं आश्रम से एकाध मील पर कोई झोपड़ी बनवाकर उसमें रहें, तो काम चल सकता है?"

मैंने कहा : "मुझे तो कोई हर्ज नहीं है। किशोरलाल भाई को यह बात मंजूर होनी चाहिए। वहाँ उन्हें निरुपाधिकता लगनी चाहिए। खाने-पीने की व्यवस्था के बारे में आप और वे मिलकर कोई ऐसी व्यवस्था सोच लें, जिसमें उन्हें कोई उपाधि न लगे। इस विषय में मुझे कुछ नहीं कहना है।"

फिर बापू ने किशोरलाल भाई से इस विषय में बातचीत की। उन्होंने इस पर स्वीकृति दे दी। तब आश्रम से एक मील पर झोपड़ी बनवा देने का काम मगनलाल भाई गांधी ने अपने जिम्मे लिया। कुछ ही दिनों में झोपड़ी तैयार हो गयी और वहाँ जाकर रहने का दिन भी निश्चित हो गया।

वे असहयोग-आन्दोलन के दिन थे। शीघ्र ही अहमदाबाद में कांग्रेस का अधिवेशन होनेवाला था। बापू उन दिनों बहुत व्यस्त रहते थे। मुझे लगता था कि किशोरलाल भाई के एकान्त में जाने के विषय में अभी तक सबका ऐसा खयाल बन गया था कि अब मैं जो कुछ कहूँगा, वही किशोरलाल भाई करेंगे। इसलिए उनके बारे में जो कुछ पूछना हो, मुझे पूछना चाहिए, इस दृष्टि से बापू ने मुझसे पूछा : "किशोरलाल रोज चरखा चलायें, तो इसमें कोई हर्ज है?" मैंने कहा : "यदि वे चाहें, तो कातें। दूसरे, अथवा वे पहले से यह

तय न कर लें कि कातना ही चाहिए।" इसके वाद वापू ने जो प्रश्न पूछा, उसमें उनका अपार वात्सल्य भरा हुआ था। असहयोग आन्दोलन का वह गड़वड़ी का समय था। राष्ट्र के भविष्य की सारी जिम्मेवारी उन दिनों उन पर थी। राष्ट्र-कार्य की चिन्ता और भार से व्याप्त किशोरलाल भाई पर उनका कितना प्रेम था, इसकी प्रतीति मुझे हुई। उन्होंने मुझसे पूछा : "दिन में एकाध वार उन्हें देख आने की मुझे इजाजत है ?" उन्होंने जव मुझसे यह माँग की, तो मुझे दुःख हुआ। दोनों में परस्पर जो प्रेम था, उसे मैं ठीक से जानता था। फिर भी किशोरलाल भाई के लक्ष्य को ध्यान में रखकर मुझे उनसे कहना पड़ा : "आप जितना कम मिलने के लिए जायँ, उतना ही अच्छा।" इन शव्दों में कितनी कठोरता थी, सो मैं जानता था। परन्तु वहुत लाचारी के साथ मुझे ये शव्द कहने पड़े। वापू ने मान लिया कि मेरी सम्मति है और रोज एक वार उनकी कुटिया पर जाकर उन्हें देख आने का नियम उन्होंने वना लिया।

आश्रम-त्याग और कुटिया-वास

ऊपर की वातचीत के वाद दूसरे या तीसरे ही दिन शाम को किशोरलाल भाई अपने लिए तैयार की गयी कुटिया में जाकर रहने लगे। मैंने सुना कि उस दिन शाम की प्रार्थना में वापू ने उनके वारे में कुछ कहा था। यह भी ज्ञात हुआ कि उस दिन सवके मन में वड़ा विषाद रहा।

मेरा और किशोरलाल भाई का सम्वन्ध केवल उनके जाने के विषय में सलाह देनेभर का ही था। इसलिए उनके वहाँ जाने के वाद मेरा काम पूरा हो गया, ऐसा मैंने समझ लिया। परन्तु आगे जो अनुभव हुआ, उस पर से मुझे पता लगा कि उस दिन से तो उनके सम्वन्ध की मेरी सच्ची जिम्मेवारी का प्रारम्भ हुआ था; यद्यपि उस समय तो मुझे इसकी कल्पना भी नहीं थी। झोपड़ी में जाने के वाद पत्र लिखकर उन्होंने साधन मार्ग के विषय में मुझसे पूछना शुरू किया। उससे मुझे शंका होने लगी कि जाने से पहले उन्होंने साध्य-साधन का विचार पूरी तरह से कर लिया था या नहीं। कदाचित् उनसे मेरी इस विषय में वातचीत हुई थी। उससे साधन सम्वन्धी उनकी

पहली कल्पना में परिवर्तन हुआ हो, यह भी शंका मुझे हुई। साधन के बारे में वे मुझे पूछने लगे, तो मैं उलझन में पड़ गया। मैंने उन्हें इस विषय में आशा दिला दी होती, तो जाने से पहले ही यह सब उन्होंने मुझसे पूछ लिया होता। परन्तु मेरे जीवन का तरीका कुछ दूसरा ही था। फिर इस विषय में मैंने अपने मन का समाधान अनेक प्रकार के साधनों तथा चिन्तन-मनन आदि से स्वयं ही कर लिया था। परन्तु किसी साधक को मुझे साधन-मार्ग दिखाना होगा, इस दृष्टि से मैंने इस विषय में विचार ही नहीं किया था। इसलिए उन्होंने जब मुझसे पूछा, तब भी मैंने उस ओर ध्यान नहीं दिया। पर इसके कारण उनका असमाधान बढ़ता देख मैंने उन्हें ध्यान का मार्ग सुझाया और कहा कि इसके अभ्यास द्वारा वे एक निश्चित भूमिका प्राप्त कर लें। फिर इस (अभ्यास) के लिए पोषक वाचन भी रखें और मुलाकातें, वाद-विवाद, चर्चा आदि सब बन्द कर रात-दिन केवल इसी अनुसन्धान में रहने का प्रयत्न करें इत्यादि—सूचनाएँ मैंने उन्हें दीं। झोपड़ी पर मैं बहुत कम जाता था। केवल बापू जाते थे। उन्हें कितना ही काम हो, फिर भी कुछ-न-कुछ समय निकालकर वे दिन में एक बार तो उनसे अवश्य मिल आते। कभी-कभी उन्हें दोपहर को वहाँ जाने का समय मिलता, तो कभी रात को ही वे जा पाते। परन्तु उन्हें बगैर देखे और उनकी तबीयत के समाचार बिना पूछे उन्हें चैन नहीं पड़ती थी। उनके खाने के लिए भोजन घर से जाता था।

किशोरलाल भाई झोपड़ी में रहने के लिए गये, यह बहुत से लोगों के लिए एक बड़े कुतूहल का विषय बन गया था। उनके अभ्यास की दृष्टि से मुझे आवश्यक लगता था कि कोई वहाँ जाकर उनसे न मिले। फिर भी अत्यन्त निकट के लोग यदि भेंट की माँग करते, तो उन्हें 'ना' कहना कठिन हो जाता। इस कारण किसी न किसीसे उनके मिलने के प्रसंग आते ही रहते थे। कोई साधु, कोई सज्जन उन्हें मिल आते। पोल रिशार नाम के एक फ्रेंच सज्जन उन्हीं दिनों में उनसे मिल आये। परन्तु हाँ, किसीने भी बार-बार वहाँ जाकर उनके अभ्यास में विक्षेप नहीं किया। बापू तथा मगनलाल भाई ने उन्हें वहाँ किसी प्रकार की असुविधा न होने दी। एक बार उनकी तबीयत खराब हो गयी। तब गोमती बहन और नरहरि भाई रात को उनकी झोपड़ी पर गये

थे। नरहरि भाई कुछ देर वहाँ ठहरकर लौट आये थे। परन्तु गोमती बहन रात में वहीं रहीं। फिर भी उनका अभ्यास निर्विघ्न जारी रहा। उसमें वे प्रगति भी करने लगे थे; यद्यपि प्राकृतिक और मानसिक विक्षेप बीच-बीच में आते रहे। साधक के लिए तो उसका अपना मन ही कभी सहायक और कभी बाधक बन जाता है। इस नियम के अनुसार उनका मन भी कभी साधक और कभी बाधक बन जाया करता। मैं अपने तथा दूसरों के अनुभव से जानता था कि जहाँ मनुष्य को अपना रास्ता खुद ही खोजना होता है, वहाँ ऐसे प्रसंग आते ही रहते हैं। इसे सहकर ही साधक को आगे बढ़ना पड़ता है। इस प्रकार के मेरे विचार थे। इस कारण और इस कारण भी कि मैं यह नहीं जानता था कि किशोर-लाल भाई के अभ्यास की जिम्मेवारी मुझ पर ही है, उनके बारे में मैं निश्चिन्त रहता था। इन्हीं दिनों किसी मित्र की बीमारी के कारण मुझे दूसरे गाँव जाना पड़ा। वहाँ जाने पर किशोरलाल भाई के पत्रों से मुझे पता चला कि उनके लिए मेरा आश्रम में रहना कितना जरूरी था। उनका अभ्यास जारी था। परन्तु उनकी व्याकुलता घटी नहीं थी। इस समय किसी अनुभवी मनुष्य के सहवास की, अभ्यास में सलाह-सूचना की और व्याकुलता को कम करने के लिए कुछ आश्वासन की बड़ी आवश्यकता थी। अभ्यास के बीच जो-जो तात्त्विक प्रश्न उनके मन में उठते, उनके समाधानकारक उत्तर उन्हें तत्काल मिलने चाहिए थे। ये उत्तर समय पर न मिलने के कारण कई बार वे बहुत व्याकुल हो जाते।* कितने ही प्रश्न अपने-आप हल हो जाते, तब वे प्रसन्नता भी महसूस करते। उनके प्रश्नों के उत्तर और उनसे सम्बद्ध सलाह-सूचनाएँ मैं पत्रों के द्वारा उनके

---

* भाई नीलकण्ठ की मुझे लिखी एक बात यहाँ देने लायक है :

अहमदाबाद-कांग्रेस के समय पू० गोमती काकी से मिलने के लिए मैं साबरमती-आश्रम गया था। मुझे काकाजी की झोपड़ी दूर से दिखाई गयी। उसे देखकर जब बम्बई लौटा, तब मैंने 'किशोर आश्रम को देखकर' इस शीर्षक का एक छोटा-सा गद्यलेख लिखा था। वह जब बाद में मैंने उन्हें दिखाया, तब उन्होंने कहा कि "तुम तो काव्य में मस्त थे और मैं अपनी व्यग्रता के कारण इतना परेशान था कि अब यह पढ़कर मुझे अपने ऊपर हँसी आती है!"

पास भेज दिया करता। परन्तु मेरे पत्र उन्हें मिलते, तब तक उनकी पहली उलझनें दूर हो जातीं और दूसरी नयी समस्याएँ उनके सामने आ खड़ी होतीं।

मेरी बड़ी इच्छा थी कि किशोरलाल भाई के लिए मैं आश्रम में जल्दी पहुँच जाऊँ। परन्तु अनेक कारणों से वहाँ मेरा लौटना जल्दी नहीं हो सका। आगे ही आगे बढ़ता गया। इन दिनों किशोरलाल भाई को बहुत-सी अड़चनें सहनी पड़ीं और तकलीफ उठानी पड़ी। उन्होंने मुझे बहुत-सी चिट्ठियाँ लिखीं। मुझे भी बाहर इतनी स्वस्थता नहीं थी कि उनके पत्रों का उत्तर दे सकूँ। जिस उद्देश्य से वे एकान्तवास कर रहे थे, उसके सम्बन्ध में शान्तिपूर्वक विचार करने के लिए मुझे अवकाश ही नहीं मिल पाता था। उन्हें मेरे पत्रों की राह देखनी पड़ती। अपने प्रश्नों के उत्तर न मिलने के कारण और इस बीच अन्य नये प्रश्न उत्पन्न हो जाने के कारण उनके मन में बड़ी उलझन हो जाया करती। उसे दूर करना उनके तथा मेरे लिए भी बहुत कठिन हो जाता था। कभी-कभी तो वह सर्वथा अशक्य हो जाता था। ऐसी स्थिति में भी उन्होंने अपना अभ्यास जारी रखा। अभ्यास में प्रगति हो रही थी। फिर भी उनके मन को विशेष शान्ति नहीं मालूम हो रही थी। ध्यान का अभ्यास जारी था। उस समय तत्त्वज्ञान के अनेक प्रश्न उनके मन में उत्पन्न होते थे। उनका हल न मिलने से उनका मन अस्वस्थ हो जाता। मेरा खयाल है, चार-पाँच महीने के बाद में मैं आश्रम वापस लौट सका। मैं तब उनकी यथार्थ स्थिति जान सका। उस समय उन्हें ऐसा लगने लगता था कि अब इस कुटिया को भी छोड़कर कहीं दूर ऐसी जगह एकान्त में चले जाना चाहिए, जहाँ कोई जान-पहचानवाला आदमी भी मिलने न आ सके और किसीको पता भी न लगे कि वे कहाँ हैं। वहाँ की साधना इस प्रकार जारी रखी जाय। जब तक मन को पूरी शान्ति न हो, तब तक वापस नहीं लौटना चाहिए। इस प्रकार कभी कुटिया छोड़कर चले जाने की सोचते, तो कभी वहीं रहकर स्थिरतापूर्वक अपनी साधना को जारी रखने का विचार करते।*

---

* इसी अर्से में बापू गिरफ्तार कर लिये गये। तब किशोरलाल भाई ने उनको जो पत्र दिया और बापूजी ने उसका जो उत्तर भेजा, वह इस प्रकार है :

ऐसी अनिश्चित स्थिति में कुछ दिन बीते और अन्त में उन्होंने अकेले ही कहीं चले जाने का निश्चय किया।

मैं बड़ी चिन्ता में पड़ गया। जो जिम्मेवारी मैंने अपने ऊपर नहीं ली थी, वही आहिस्ता-आहिस्ता सिर पर आ गयी। मन की इस अवस्था में वे कहीं चले जायँ, यह बात मुझे अत्यन्त चिन्ताजनक लगी। मुझे यह भी लगा कि उनका मन अब साधारण उपाय से शान्त नहीं होगा। साधक की व्याकुलता के अनेक

गुरुवार
१६-३-'२२

परम पूज्य बापू की सेवा में,

वि० वि० आपसे भेंट हो सकती है, यह ज्ञात हुआ। परन्तु इस प्रसंग पर नहीं आऊँगा। इतनी उदासीनता मेरे मन में सचमुच उत्पन्न हो गयी है, ऐसा खयाल किसीके मन में उत्पन्न करूँ, तो भगवान् का अपराधी हो जाऊँगा और यह अपने-आपको भी धोखा देना होगा। परन्तु मिलने के लिए आने की हिम्मत ही नहीं है। अभी-अभी कहीं मेरी वृत्तियाँ स्थिर होने लगी हैं। परन्तु जरा-से विक्षेप से फिर बिगड़ जाती हैं। वर्तमान की घटनाओं से मैं सर्वथा अनभिज्ञ हूँ। वहाँ आने पर इनकी जानकारी हुए बिना नहीं रहेगी। उसमें से मैं कुछ ग्रहण कर सकता, तो दूसरी बात थी। परन्तु मेरी वर्तमान स्थिति में इनसे अनभिज्ञ रहने में ही मेरी खैरियत है। प्रभु की महान् विभूति के रूप में आपके चरण छू सका होता, तो बहुत अच्छा होता। आपको कितनी सजा हुई है, इसका भी मुझे पता नहीं है। इसलिए हम कब मिल सकेंगे, भगवान् ही जानते हैं। सम्भव है कि आप लौटें, तब मैं आश्रम से दूर कहीं चला गया होऊँ। इसलिए यह वियोग कितना लम्बा है, यह अनिश्चित है, फिर भी दिल को थामकर इस प्रत्यक्ष अविनय को सहकर भी यहाँ बैठा हूँ। आपको यह पसन्द ही होगा, इसलिए आपसे क्षमा-याचना क्या करूँ? केवल यही प्रार्थना करता हूँ कि इतनी दूर से मेरे प्रणामों को स्वीकार करें और अपने आशीर्वाद दें। आप तो कर्मयोग करके निश्चिन्त हो गये हैं। यही निश्चिन्तता मुझे भी प्राप्त हो, ऐसे आशीर्वाद कृपया दें।

प्रकार मैंने देखे थे। कितनों ही का तो स्वयं मुझे भी अनुभव था। इसलिए मैं जानता था कि ऐसी स्थिति में उचित उपाय अथवा ज्ञान का साधन न मिलने से साधक की कैसी उल्टी स्थिति हो जाती है। इसलिए मैंने उनसे कहा कि "आप जहाँ जायेंगे, वहाँ मैं आपके साथ रहूँगा।" परन्तु वे नहीं चाहते थे कि मैं उनके साथ जाऊँ। वे सर्वथा मुक्त रहना चाहते थे। परन्तु मैं जानता था कि जब मन में शान्ति नहीं होगी, तब इस तरह मुक्त होकर रहने और घूमने में कल्याण नहीं होगा। इसलिए मैंने उनसे कहा कि "आप साथ में न लेना चाहें, तो न

मेरे कर्तव्य कर्म के विषय में जो भी आज्ञारूप सन्देश हो, सूचित करवाने की कृपा करेंगे।

आज्ञांकित बालक
किशोरलाल के सविनय दण्डवत् प्रणाम

साबरमती जेल
१७-३-'२२

भाई श्री ५ किशोरलाल,

आपकी याद मैं हमेशा करता रहा हूँ। आपसे मिल सका होता, तो अच्छा होता। परन्तु अब आपकी चिट्ठी ही काफी है। मुझसे मिलने के लिए आने के अपने विचार को आपने छोड़ दिया, यही उचित है। आने में कोई विशेष लाभ नहीं था। उल्टे यह तो प्रत्यक्ष ही है कि आपके अभ्यास में खलल पड़ता।

आपका प्रयत्न शुद्ध है, इसलिए सफल तो होंगे ही। एक भी शुभ प्रयत्न कभी व्यर्थ नहीं होगा।

मुझे अभी सजा नहीं हुई है। वह तो शायद कल ही मालूम होगा। अभी तो कच्ची जेल में हूँ। मुझे पूर्ण शान्ति है। साथ में शंकरलाल बैंकर भी हैं।

मेरे आशीर्वाद तो आपके साथ हैं ही। वहाँ से हटने की जल्दी न करें। किन्तु जब अन्तरात्मा कहे कि जाना ही चाहिए, तब अवश्य जायें।

बापू के आशीर्वाद

सही। आप जहाँ-जहाँ जायेंगे, वहाँ-वहाँ मैं स्वतन्त्र रूप से आऊँगा। इस पर आप प्रतिवन्ध, कैसे लगा सकते हैं? जव आप मानते हैं कि आप जहाँ चाहें, वहाँ जाने के लिए स्वतंत्र हैं। तव आप मुझे क्यों रोकते हैं?" मेरे इस जवाव से वे निरुत्तर हो गये और लाचार होकर अपने साथ मुझे लेना स्वीकार कर लिया। हमने पैदल ही आवू जाने का निश्चय किया।

आबू में

श्री किशोरलाल भाई और मैं रात को झोपड़ी से आश्रम पर आये। रात में वहीं रहे। दूसरे दिन सुवह हम आवू के लिए रवाना हो गये। अपना सामान हमने खुद ही उठा लिया। इस समय वापू आश्रम में नहीं, जेल में थे। किशोरलाल भाई जव आश्रम से झोपड़ी पर गये, तव की अपेक्षा उनकी आज की मानसिक स्थिति वहुत गंभीर, अत्यन्त नाजुक और वड़ी उलझनभरी थी।

वैशाख सुदी ५, १९७८
ता० २-५-'२२

सौ० गोमती,

पैदल प्रवास पर जाने का विचार कर रहा हूँ। साथ में एक लोटा, दो गमछे तथा एक तौलिया के सिवा और कुछ भी रखने की इच्छा नहीं है। एक अँगोछा, जूते और एक लकड़ी भेज देना। कहाँ जाना है, अभी निश्चित नहीं।

तुम दुःख मत मानना। प्रभु की कृपा से शान्ति मिलते ही जल्दी लौट आऊँगा। तव तक गुरुजी की सेवा करना। जव तक वुद्धि जाग्रत रहेगी, तव तक आत्महत्या आदि द्वारा शरीर का नाश नहीं करूँगा। यदि उदर-निर्वाह के लिए कहीं नौकरी कर ली, तो तुम्हें वुलवा लूँगा। तव तक धीरज रखना। मेरा मोह नहीं करना। मुझे भुलाने का प्रयत्न करना। वुलाने के लिए जो लिखा है, सो मेरे मोह के कारण ही। इस मोह में से तुम छूटने का यत्न करना। परमात्मा की भक्ति से वह चीज प्राप्त कर लेना, जिसे मैं प्राप्त नहीं कर सका।

तुम्हारा अनधिकारी पति
किशोरलाल

रवाना होते समय उनके मन में बड़ा विषाद था। स्वयं मेरे मन में भी बड़ी चिन्ता थी। रास्ते में चलते हुए हमारे बीच कोई बातचीत नहीं होती थी। ऐन गरमी के—वैशाख के—दिन थे। दोपहर में और रात में हम कहाँ रहे, कुछ याद नहीं। परन्तु दूसरे दिन पैदल चलने का विचार छोड़कर हमने रेलगाड़ी का सहारा लिया। आबू पहुँचने पर दिगम्बर जैन-मंदिर की धर्मशाला में ठहरे। अब हमारी बातचीत शुरू हुई। उनके मन में जो प्रश्न उलझनें खड़ी कर रहे थे, उन्हें हल करने का प्रयत्न मैंने शुरू किया। अब मैं समझ गया था कि उनके मन का समाधान कर देने की जिम्मेवारी मेरे ही सिर पर है। इसलिए अत्यन्त सावधानी के साथ विवेकपूर्वक और गहरे प्रेम के साथ मैंने उनके प्रश्नों को सुलझाना शुरू किया। साबरमती से जिस समय उनके साथ रवाना हुआ, उस समय अन्य कई चिन्तायुक्त जिम्मेवारियों को छोड़कर केवल उनकी कुशल और शान्ति के विचार को ही मैंने मुख्यतया अपने सामने रखा था। इसलिए पूरे निश्चय से उनके प्रश्नों को सुलझाने में लगा। ~~साधक के सामने~~ ईश्वर-साक्षात्कार, आत्मा, ब्रह्म, परब्रह्म, जीव, शिव, इहलोक, परलोक, जन्म, पुनर्जन्म, परमधाम, अक्षरधाम, मोक्ष आदि अनेक प्रश्नों से साधक बेचैन हो जाता है। ग्रन्थप्रामाण्य और महापुरुषों के परस्पर-विरोधी वचनों पर श्रद्धा के कारण ही साधक उलझन में पड़ जाता है। कल्पना, भावना और श्रद्धा के बीच क्या भेद है, वह नहीं जानता। अनुमान, तर्क और अनुभव के बीच क्या अन्तर है, वह समझ नहीं पाता और सबसे बड़ी बात तो यह है कि ग्रन्थों में श्रद्धेय के रूप में जो कुछ पाया जाता है, जब तक उसका साक्षात्कार या ज्ञान नहीं होता, तब तक पुनर्जन्म से छुटकारा नहीं मिलता, मोक्ष नहीं प्राप्त होता, ऐसा उसे भय होता है। इसके कारण उसके मन की परेशानी बढ़ती जाती है और मोक्ष के विषय में वह निराश होकर उसकी व्याकुलता पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। यह सब मैं अपने अनुभव से जानता था, इस कारण किशोरलाल भाई की आज की स्थिति और व्याकुलता को मैं समझता था। इसलिए उनके चित्त को भ्रम में डालनेवाले प्रश्नों को मैंने एक-एक करके हाथ में लेना शुरू किया। उनकी समझ, उनकी श्रद्धा, ~~उन्होंने~~ उनकी मानी हुई कल्पनाएँ, इन सबमें जो भ्रम था, उसका मैंने खण्डन करना शुरू किया।

महापुरुषों के जिन-जिन वचनों का आधार लेकर उन्होंने अपने मन को व्याकुल कर डाला था, उनका मानव-जीवन की दृष्टि से कितना मूल्य है, यह मैं स्पष्टता के साथ उन्हें समझाने लगा। मैं यह भी जानता था कि मेरे इस तरह से समझाने से उनके मन को तथा आज तक की पोषित उनकी श्रद्धा को कितना आघात पहुँच रहा है। परन्तु इसके सिवा दूसरा कोई चारा ही नहीं है, यह समझकर ही मैंने अपना प्रयत्न जारी रखा था। उनके प्रश्नों और शंकाओं से मैंने यह भी देखा कि उनके मन में तीव्र मन्थन शुरू हो गया है। मेरे मन में उनके प्रति अतिशय प्रेम, सहानुभूति और श्रद्धा थी, फिर भी अत्यन्त कठोरता के साथ मुझे उनके भ्रमों का खण्डन करना पड़ा। इस कारण कभी उनका विषाद बढ़ जाता, तो कभी शान्ति की आशा पैदा हो जाती। ऐसा लगता था, मानो उनकी नाव बीच नदी में गोते खा रही है। मुझे स्पष्ट दीखता था कि मेरी खण्डनात्मक दलीलों से वे घोर सन्देह में पड़ गये हैं। जीवन में अब किसीका आधार नहीं रहा। अब किस पर श्रद्धा रखकर, किसके आधार से और किसके वचनों को प्रमाण मानकर जीवन-नौका चलानी चाहिए और उसे किस किनारे लगायें, साध्य-प्राप्ति के लिए किसका आधार लें, इस दुविधा में वे पड़ गये थे। तथापि मैं अपने ढंग से उनसे रोज बातचीत करता रहता था, जिससे वे दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक गम्भीर होते जा रहे थे। आबू के लिए हम दोनों जब रवाना हुए, तभी मैंने यह निश्चय कर लिया था कि इस बार मैं वह भूल नहीं होने दूँगा, जो पहली बार आश्रम में मेरे साथ बातचीत करने के लिए आये थे, तब मैंने की थी। उस समय मैं उनसे इस प्रकार बातचीत करता कि जिससे उनकी किसी कल्पना, मान्यता अथवा श्रद्धा को विशेष आघात न पहुँचे। मैंने समझा था कि साध्य-साधन के विषय में वे ठीक-ठीक विचार कर ठीक तरह से अभ्यास भी कर लेंगे। मैंने यह भी सोचा कि जब मुझ पर उनकी सीधी जिम्मेवारी नहीं है, तब मैं क्यों नाहक उनके मन में बुद्धिभेद पैदा करूँ। इस दृष्टि से उनकी ओर अधिक ध्यान न देकर उन्हें मैंने एकान्त में जाने दिया। उसका जो परिणाम हुआ, उसे देखकर मैंने निश्चय कर लिया कि अब की बार वह भूल नहीं होने देनी है, बल्कि उसकी क्षति-पूर्ति भी कर देनी है।

इस तरह बातचीत करते-करते तीन-चार दिन बीत गये। एक दिन शाम के कोई चार-पाँच बजे के समय हम दोनों एक टेकरी पर बैठे थे। किसी तात्त्विक विषय पर वार्ता चल रही थी। बोलते-बोलते 'विश्व और हमारे बीच की एकता और भिन्नता' पर बोलने का प्रसंग आया। उस समय मैं क्या कह गया, यह तो मुझे इस समय ठीक से याद नहीं है। 'विवेक और साधना' नामक पुस्तक में 'व्यक्त-अव्यक्त विचार' वाले प्रकरण में मैंने जो विचार प्रकट किये हैं, शायद कुछ वैसी ही बातें मैंने उस समय कही होंगी, ऐसा लगता है। उस समय के भाव, तीव्रता और तन्मयता की मुझे अच्छी तरह याद है। उस समय हम दोनों ही थे और हमारे सामने खड़े वृक्ष, पत्थर, टेकरियाँ, पर्वत—इन सबका दर्शन मुझे किस रूप में हो रहा था, यह मुझे अच्छी तरह याद है। मैं अत्यन्त भावमग्न होकर बोल रहा था। मेरा वाक्प्रवाह चल रहा था, तब उन्होंने अत्यन्त कृतज्ञता और नम्रतापूर्ण भाव से मुझे कहा कि उनकी व्याकुलता का पूर्णतः शमन हो गया है। उस समय उनका अन्तःकरण सद्भावना से पूरी तरह भर गया था। उसके वेग को वे सँभाल नहीं पा रहे थे। यह मैं देख रहा था। उस समय हमारी ऐसी स्थिति हो गयी थी कि क्यों, क्या, और किस तरह यह हुआ, इसका विचार कर सकें, इस मनःस्थिति में हम दोनों ही नहीं थे। उनके एक ही वाक्य से मेरी तन्मयता टूट गयी। मेरा बोलना बंद हो गया। दोनों में से किसीको भी बोलने की इच्छा न रही। दोनों को लगा कि बोलने के लिए कुछ रहा ही नहीं। इस निःशब्द अवस्था में हमारा बहुत-सा समय बीता। संध्या बीतकर कभी का अँधेरा हो गया था। ऐसी ही अवस्था में हम दोनों उठे और चलने लगे और धर्मशाला में पहुँचे। उस रात हमने कुछ खाया या नहीं, मुझे याद नहीं। परन्तु नींद के समय तक हम दोनों शामवाली स्थिति में ही थे।

किशोरलाल भाई को तो नींद जल्दी आ गयी। महीनों बाद निश्चिन्त अवस्था में आयी हुई यह उनकी पहली ही नींद होगी, ऐसा मुझे लगा। मुझे भी लगा कि बहुत दिन की उनके सम्बन्ध की चिन्ता और जिम्मेवारी से मैं भी मुक्त हुआ, फिर भी मुझे इस बात का खास स्मरण है कि उस रात मुझे नींद नहीं आयी। परन्तु नींद न आने पर भी मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ।

अध्यात्म एक ऐसा विषय है, जो केवल शब्दों से नहीं समझाया जा सकता। प्रत्यक्ष भाव, ज्ञान, अनुभव, प्रसंग, दोनों की अंतर्बाह्य स्थिति, इन सबका उसमें अत्यन्त गहरा सम्बन्ध होता है। परमात्मा की कृपा, हम दोनों का कुछ भाग्य, इससे मेरे प्रयत्न को यश मिला और किशोरलाल भाई की व्याकुलता का शमन हुआ। उन्होंने अभ्यास में जो समय बिताया, वह भी सार्थक हुआ। तात्पर्य यह कि उनकी पहले की दृष्टि बदल गयी और अँधेरे में से प्रकाश में आनेवाले आदमी को जैसा लगता है, वैसा उन्हें लगा। उनके चित्त को समाधान हो गया*। यद्यपि इसमें दिव्यता अथवा अद्‌भुतता जैसी कोई वस्तु नहीं है।

दिगम्बर जैन-धर्मशाला
देलवाड़ा, आबू
वैशाख वदी २, १९७८

* अ० सौ० गोमती,

वि० श्री सद्‌गुरु की पूर्ण कृपा से, गुरुजनों के पुण्य से, सत्पुरुषों के आशीर्वाद से और तुम्हारी मदद से मुझे कल शाम को गुरुदेव ने ज्ञान देकर कृतार्थ कर दिया है। मेरी शंकाओं का समाधान कर दिया है और शान्त कर दिया है। अब जानने योग्य कुछ भी नहीं रहा है। तुमने मेरी जो मदद की है, उसके लिए किन शब्दों में कृतज्ञता प्रकट करूँ। इसका बदला क्या करने से दिया जा सकता है? अब कुछ ही दिनों में नीचे जाऊँगा। श्री गुरुदेव की और गुरुजनों की जैसी आज्ञा होगी, उसके अनुसार आगे का जीवन बिताऊँगा। यह जानकर तुम्हें सन्तोष होगा।

तुम्हें यहाँ बुलाने का सोचा था। परन्तु नीचे स्टेशन पर गाड़ी आदि का प्रबन्ध करना कष्टदायक है। वह तुम अकेली से नहीं बनेगा। यह सोचकर वह विचार छोड़ दिया और यही निश्चय किया कि हम ही थोड़े दिनों में वहाँ पहुँच जायँ।

बस, श्रीनाथ के आशीर्वाद।

तुम्हारे ऋणी
किशोरलाल के आशीर्वाद

पुनः आश्रम में

उन्हें लगा कि अब आबू पर रहने की कोई जरूरत नहीं। दूसरे या तीसरे दिन हम रेल से रवाना होकर साबरमती आ गये। आश्रम में जब पहुँचे, तब रात अधिक हो गयी थी। पहले से आने की सूचना हमने नहीं भेजी थी। इसलिए सबको आनन्दमिश्रित आश्चर्य हुआ। किशोरलाल भाई के आने की खबर आश्रम में बिजली की तरह फैल गयी। सवेरे की प्रार्थना में उन्हें लोग ले गये थे और उन्हें कुछ बोलना भी पड़ा था। आश्रम से जाने के करीब छह-सात महीने के बाद वे लौटे थे। (उन्हें समाधान प्राप्त होने की तिथि १९७८ के वैशाख की प्रतिपदा अर्थात् ता० १२-५-१९२२ थी।)

लौटने के बाद सबकी इच्छा थी कि वे विद्यापीठ के महामात्र का काम सँभाल लें। उस समय बापू जेल में थे। मैंने यह भी सुना कि सरदार वल्लभभाई उन्हें महामात्र का काम सँभालने के लिए आग्रह कर रहे हैं। परन्तु मेरी सलाह यह थी कि अभी वे पाँच-छह महीने और अभ्यास में लगे रहें और अपनी भूमिका को स्थिर कर लें। उसके बाद काम में लगें। इस सूचना के अनुसार उन्होंने एक-दो महीने आश्रम में ही एकान्त में बिताये। उसके बाद खुद उन्हींको लगा कि अब उनकी भूमिका स्थिर हो गयी है और अब काम शुरू करने में देर नहीं करनी चाहिए और वे काम में लग गये। किशोरलाल भाई को एकान्तवास में अकारण बहुत-सा कष्ट उठाना पड़ा। समाज में भक्ति तथा ज्ञान आदि के विषय में रूढ़ कल्पनाओं और मान्यताओं के कारण प्रामाणिक साधक को अपनी पूर्व श्रद्धा और विवेक के बीच काफी संघर्ष सहना पड़ता है। तदनुसार उन्हें भी सहना पड़ा। उसी समय यदि मेरे ध्यान में यह बात आ जाती और मैं उसी समय वह अपना काम समझकर उसकी जिम्मेवारी सन्तोषपूर्वक लेता और निष्ठापूर्वक उनकी ओर ध्यान न देता। आबू जाने के बाद उनके प्रश्नों की ओर मैंने जितना ध्यान दिया, वह जिम्मेवारी यदि पहले से ही स्वीकार कर लेता, तो शरीर की व्याधिग्रस्त अवस्था में जाड़े की सर्दी में और ग्रीष्म की असह्य गरमी में, कुटी-जैसी असुविधाभरी जगह में रहकर बिना किसीकी प्रत्यक्ष सहायता के एकाकी अवस्था में उन्हें जो मानसिक व्यग्रता सहनी पड़ी, शायद वह न सहनी पड़ती। मेरा पहले से उनकी जिम्मे-

वारी न लेना, यह उनके कष्ट का दूसरा कारण था। इतनी प्रतिकूल परिस्थिति में भी वे अपनी साधना में दृढ़ रहे, इससे प्रकट होता है कि उनके भीतर सत्य की जिज्ञासा, सहनशीलता, दृढ़ निश्चय, स्वीकृत ध्येय के लिए सर्वस्व तक अर्पण कर देने की तैयारी आदि सद्‌गुण दिखाई देते हैं।

साक्षात्कार सम्बन्धी भ्रम-निवारण

इसमें कोई शक नहीं कि किशोरलाल भाई आबू से कुछ ज्ञान लेकर आये। परन्तु उनके वारे में लोगों में अनेक प्रकार की भिन्न-भिन्न धारणाएँ फैली हुई हैं। उसमें जो गलतफहमी है, उसे यहाँ दूर करने का प्रयत्न करना मुझे उचित मालूम देता है। कई लोग समझते हैं कि वहाँ उन्हें ईश्वर के दर्शन हुए। ईश्वर का साक्षात्कार हुआ। कोई आत्म-साक्षात्कार, तो कोई ब्रह्म-साक्षात्कार हुआ, ऐसा मानते हैं। कई लोगों का खयाल है कि वहाँ उन्हें समाधि लग गयी थी और उसमें उन्हें पूर्ण ज्ञान हो गया। ऐसा कोई दर्शन, साक्षात्कार या ज्ञान हो गया है, ऐसा किशोरलाल भाई ने कहीं लिखा हो, ऐसा मैं तो नहीं जानता। उनके वारे में ऐसी मान्यताएँ होने का कारण यही है कि हमारे समाज में जो व्यक्ति ईश्वर का भक्त या साधक माना जाता है, उसमें ये वातें होती हैं, ऐसी कल्पना रूढ़ है। हिमालय, आवू, गंगा या नर्मदा के तट पर, किसी तीर्थ में, किसी पर्वत, वन या एकान्त में किसी भी प्रकार की साधना का सम्वन्ध ईश्वर-साक्षात्कार के साथ मान लिया जाता है। स्त्री-पुत्रों से युक्त परिवार में, रोगी और यातनाग्रस्त की सेवा में, संसार की विडंवनाओं में अथवा व्यवहार की कठिनाइयों में मनुष्य चाहे कितनी ही पवित्रता, संयम, सत्य और ईश्वरनिष्ठा के साथ रहता हो, तो भी उसे लोग नहीं कहेंगे कि इसे साक्षात्कार हुआ है। किशोरलाल भाई के विपय में भी यह जो माना जाता है, इसका कारण हमारी प्रचलित मान्यताएँ ही हैं। परन्तु सत्य की दृष्टि से यह सही नहीं है।

ज्ञान की पूर्णता कभी विजली की चमक के समान एक क्षण में होनेवाली वस्तु नहीं है। जीवनभर ज्ञान का संग्रह करते-करते आदमी ज्ञान-समृद्ध होता रहता है। जैसे-जैसे मनुष्य की उम्र वढ़ती जाती है, वैसे-वैसे—यदि

उसके मस्तिष्क में कोई खास विकृति नहीं हुई तो—उसका ज्ञान जब तक वह जीवित रहता है, कुछ-न-कुछ बढ़ता ही रहता है। इस नियम के अनुसार देखें, तो किसी निश्चित क्षण अथवा किसी दिन उसका ज्ञान एकाएक पूर्णता को पहुँच गया, इस मान्यता में सत्य का आधार नहीं है। क्योंकि ज्ञानोन्मुख होने के कारण वह तो अपने ज्ञान में प्रत्येक क्षण प्रयत्नपूर्वक लगातार वृद्धि करता ही रहता है। फिर ज्ञान हमेशा वर्धिष्णु रहता है। इसलिए किसी भी क्षण को संपूर्ण ज्ञान-प्राप्ति का क्षण मान लेना भूल है। यह मान लेने का अर्थ इतना ही हो सकता है कि उसके बाद प्राप्त ज्ञान का कोई विशेष महत्त्व नहीं। ज्ञान का उपासक और ज्ञानोन्मुख मनुष्य प्राप्त ज्ञान को कभी पूर्ण नहीं समझ सकता।

यह होते हुए भी कभी-कभी अत्यल्प समय में मनुष्य को कोई विशेष ज्ञान होने पर अथवा जीवन का रहस्य समझ में आने पर उसकी अब तक की कल्पना, मान्यता और श्रद्धा में एकदम बहुत बड़ा फर्क पड़ जाता है। जिस चीज को वह अब तक ज्ञान समझ रहा था, उसका अधूरापन, दोष, भ्रम अथवा उसके भीतर छिपा हुआ अज्ञान उसकी दृष्टि में आ जाता है। ऐसा भी हो सकता है कि सत्यासत्य को परखने की दृष्टि उसे एकाएक प्राप्त हो जाती है। अंधकार से प्रकाश में आने पर वहाँ के मार्ग आदि के सम्बन्ध में हमारी पूर्वकल्पना और अनुमान जिस प्रकार गलत साबित हो जाते हैं, कुछ उसी प्रकार की चीज यह है। परन्तु इस पर से यह नहीं मान लेना चाहिए कि उसे संपूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो गयी अथवा उसके लिए अब कुछ प्राप्त करने की वस्तु ही नहीं रही। केवल यही कहा जा सकता है कि ज्ञान की दिशा उसने जान ली और किसी भी गंभीर, महान् और महत्त्व के विषय में सूक्ष्मता, गहराई और व्यापक दृष्टि से विचार करने की दृष्टि उसे प्राप्त हो गयी है। बहुत हो तो हम यह कह सकते हैं कि जीवन के विषय में, जगत् के विषय में, कल्याण के विषय में तथा सार्थकता के विषय में परम्परा से चली आयी दृष्टि से विचार करने के बदले इन विषयों पर समतोलता के साथ सत्यान्वेषण की दृष्टि से विचार करने की कला उसे अवगत हो गयी है। एक शब्द में कह सकते हैं कि उसे 'शुद्ध विवेक-दृष्टि' प्राप्त हो गयी है। इस 'शुद्ध विवेक दृष्टि' का मिल जाना

मानव-जीवन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व की वात है। इस विवेक-दृष्टि से मनुष्य को एकाएक संपूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त होता। परन्तु ज्यों-ज्यों इस दृष्टि का मनुष्य उपयोग करने लगता है, त्यों-त्यों यह अधिकाधिक सूक्ष्म, तेजस्वी और तीव्र होती जाती है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में और प्रत्येक क्षण में वह उसे काम दे सकती है। इसी प्रकार प्रत्येक विषय में उसकी अवलोकन, निरीक्षण, परीक्षण और पृथक्करण की शक्ति भी बढ़ जाती है। इन सव शक्तियों की सहायता से उसकी विवेक-वुद्धि उसे सही निर्णय देने लगती है। ऐसी वुद्धि और दृष्टि जिसने प्राप्त कर ली है, वह साधक ईश्वर-परमेश्वर, सगुण-निर्गुण, साक़ार-निराकार, आत्मा-परमात्मा, प्रकृति-पुरुष आदि के सम्बन्ध में ठीक विचार कर सकता है। जिसे चित्त की शुद्धि और इस प्रकार की विवेक-वुद्धि प्राप्त हुई है, वह इनकी सहायता से आचरण करता हुआ अपना जीवन सार्थक कर सकता है। विवेक-वुद्धि के कारण होनेवाले, नित्य नवीन अनुभव की प्राप्ति के साथ-साथ नित्य बढ़नेवाले ज्ञान को किसी विशिष्ट प्रसंग पर भी 'संपूर्ण' यह विशेषण नहीं दिया जा सकता।

इस दृष्टि से विचार करते हैं, तो किशोरलाल भाई को जो समाधान मिला, वह सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति से होनेवाला समाधान था, ऐसा मानने के लिए कोई कारण नहीं है। अनेक प्रश्न मनुष्य को तंग करते रहते हैं। उसकी अपनी मनोवृत्तियाँ, कल्पनाएँ, धारणाएँ और श्रद्धा भी उसे भ्रम में डालती रहती हैं। इनसे छूटने का ज्ञानयुक्त उचित मार्ग जव मनुष्य को मिल जाता है, तो इन सवसे उसकी मुक्ति हो जाती है। दिमाग पर से वोझ हट जाता है, और उसकी व्याकुलता का शमन हो जाता है। परन्तु उसका शमन हो गया, उसे कुछ शान्ति मिल गयी, इससे यह हरगिज न मान लेना चाहिए कि उसे जीवन-सिद्धि अथवा संपूर्णता प्राप्त हो गयी। जीवन में मनुष्य को हमेशा एक ही प्रकार के प्रश्न नहीं तंग किया करते। आज एक प्रकार का प्रश्न उठता है, तो कल दूसरे प्रकार का। उसका हल पाने के लिए वह उत्कण्ठित और व्याकुल हो उठता है और जीवन की दृष्टि से कितने ही प्रश्न इतने महत्त्वपूर्ण होते हैं कि कम-अधिक परिमाण में उनका महत्त्व जीवनव्यापी होता है। आध्यात्मिक और नैतिक प्रश्न इसी प्रकार के होते हैं। ऐसे प्रश्न जिस समय मनुष्य के मन

में अत्यन्त उत्कटता और तीव्रता के साथ उठते हैं और उसे बेचैन कर डालते हैं, तव उनके निराकरण का मार्ग मिलकर उसे शान्ति प्राप्त होना अत्यन्त आवश्यक है। उसकी व्याकुलता यदि उचित मार्ग से शान्त हो जाय और उसमें से यदि उसे चित्त की एक स्थिर भूमिका तथा दृष्टि प्राप्त हो जाय, तो इस भूमिका पर से और प्राप्त दृष्टि की सहायता से वह जीवन के अन्य विकट प्रश्नों को भी हल कर सकता है। नित्य वर्द्धमान विवेक-दृष्टि और ज्ञान के कारण उसके आचार-विचार में और छोटे-वड़े सव कर्मों में एक निश्चित पद्धति और सुसंगति आने लगती है और उसका जीवन शान्त तथा सरल वन जाता है। उसमें वौद्धिक तेजस्विता के साथ-साथ भावनाओं की शुद्धि, हृदय की निर्मलता, निर्भयता, सत्यनिष्ठा, दृढ़ता, मनुष्यमात्र के प्रति प्रेम, न्यायपरायणता और निश्चय के साथ-साथ समतोलता आदि सद्गुणों की स्वतः वृद्धि होती जाती है।

किशोरलाल भाई की व्याकुलता का शमन हो जाने के वाद ऊपर वतायी स्थिर भूमिका पर रहकर उनका कर्म-मार्ग अन्त तक ठीक-ठीक चलता रहा। सभी जानते हैं कि वे तत्त्वचिन्तक और तत्त्वनिष्ठ भी थे। आवू से लौटने के वाद भी मेरे साथ अनेक वार उनकी वातचीत हुई। उसमें से उन्होंने जो कुछ आत्मसात् किया और उस पर चिन्तन करके विकसित किया, वह सव 'केल-वणीना पाया', 'जीवन-शोधन', 'जड़मूल से क्रान्ति' आदि पुस्तकों द्वारा उन्होंने जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है।

कर्तव्य-निष्ठा से सत्कर्म करते-करते किशोरलाल भाई चले गये। परन्तु मेरी पात्रता से कहीं अधिक विश्वास और पूज्य भाव उन्होंने मुझ पर रखा। मुझ पर उन्होंने जो अत्यधिक प्रेम और कृतज्ञ भाव प्रकट किया है, उसका वहुत वड़ा ऋण उनका मुझ पर अव भी उसी प्रकार वना हुआ है। मैं चाहता था कि वे मुझसे मित्र की तरह वर्ताव करें। परन्तु प्रारंभ की मेरे स्वभाव की अलिप्तता तथा मुझसे वर्दाश्त न हो सके, ऐसी उनकी मेरे प्रति अन्त तक की विनयशीलता और नम्रता के कारण मेरी वह इच्छा अन्त तक पूरी नहीं हो सकी, यह मुझे स्वीकार करना पड़ता है।

किशोरलाल भाई ने अपने कुटुम्ब के सम्वन्ध में श्रुति-स्मृति नाम से जो

लिखा है, उसमें श्री नाथजी से परिचय तथा उनसे प्राप्त मार्गदर्शन के बारे में यह लिखा है :

"आश्रम में काका साहब की मार्फत मेरा पू० नाथजी से परिचय हुआ। उनकी योग्यता के विषय में काका साहब ने मुझे कुछ कल्पना दी। इससे पहले उन्हें मैं आश्रम पर आते-जाते देखता रहता था। परन्तु उनके साथ मैंने अधिक परिचय नहीं किया। मैं समझ रहा था कि वे मराठी-साहित्य के अच्छे अभ्यासी हैं और कुछ मंत्रादिक भी जानते हैं। एक बार मुझे आधे सिर का दर्द हो गया, तब उन्होंने पूछा था कि क्या वे उसे उतार दें ? परन्तु मैंने स्वीकार नहीं किया।

"मैं आश्रम में आ गया था। फिर भी स्वामीनारायण-सम्प्रदाय से मेरा सम्बन्ध और उसके प्रति मेरा आकर्षण कम नहीं हुआ था। आत्मा-परमात्मा के विषय में यथार्थ ज्ञान पुस्तकों से नहीं मिल सकता—उसमें सद्‌गुरु के बिना मार्ग नहीं मिलता और इसके लिए एकान्त-सेवन की आवश्यकता है, इन विचारों की ओर मैं झुकता जाता था। सम्प्रदाय में अच्छे-से-अच्छे माने जानेवाले भक्तों और साधुओं से परिचय पाने के यत्न में मैं था। स्वामी श्री रघुवीरचरण-दासजी के शिष्य स्वर्गीय श्री भक्तिनंदनदासजी मेरे ही समान जिज्ञासु थे। उनके सहवास में मेरी वृत्ति अधिक तीव्र हो गयी थी। परन्तु सम्प्रदाय में मुझे कोई ऐसा व्यक्ति नजर नहीं आ रहा था, जो ठीक-ठीक मार्ग-दर्शन कर सके।

"अहमदाबाद में जो गुजरात-साहित्य-परिषद् हुई थी, उसके लिए स्वामी-नारायण-संप्रदाय के बारे में मैंने एक निबन्ध लिखा था। 'सहजानंद स्वामी' नाम की पुस्तक इसी निबन्ध का संशोधित संस्करण है। इस निबन्ध के प्रूफ मैं देख रहा था। वे श्री नाथजी के पढ़ने में आ गये। उसका 'सांप्रदायिक तत्त्व-ज्ञान' शीर्षक भाग पढ़ने पर उन्होंने मुझसे कहा: "मेरे विचार इससे कुछ अलग हैं। आपकी इच्छा होगी, तो किसी समय बताऊँगा।" मैंने कहा : "अच्छा।" परन्तु उन्हें जानने की मुझे उत्कण्ठा नहीं हुई। मैंने सोचा कि प्रायः पंडित लोग—और मेरा खयाल था कि पू० नाथ पंडित होंगे—अद्वैतवेदान्ती होते हैं, इसलिए वे अद्वैत का निरूपण करेंगे और मुझे उससे कोई मतलब नहीं है। क्योंकि यह सहजानंद स्वामी के मत से विरुद्ध था। संप्रदाय की धार्मिक पुस्तकों के अलावा अन्य पुस्तकें पढ़ने की रुचि अभी मुझे नहीं हुई थी। मैं सोचता था कि सहजानंद

स्वामी पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। उनके वचनामृत में सारा तत्त्वज्ञान आ ही गया है। इससे विरोधी वस्तु अवश्य ही खोटी होनी चाहिए और यदि इसके अनुकूल भी हो, तो वचनामृत में जितनी सरलता के साथ कहा गया है, उससे अधिक सरल वह हो ही कैसे सकती है? इसलिए उसे सुनने की कोई जरूरत नहीं।

"एक रात काका साहब और मैं गाड़ी में बैठकर आश्रम आ रहे थे। रास्ते में मैंने पू० नाथ के रोजगार-धंधे के विषय में उनसे पूछा। इस पर काका साहब ने उनके बारे में ऐसा मत प्रकट किया कि वे तो उन्हें जीवन्मुक्त मानते हैं। फिर उन्होंने पू० नाथ की योग्यता के बारे में मुझसे कहा। तब तो मुझे लगा कि मुझे अवश्य ही और तुरन्त उनके विचार जान लेने चाहिए। दूसरे या तीसरे दिन वे साबरमती से जानेवाले थे। इसलिए देर हो जाने पर भी मैं उनके पास गया। वे तख्त पर सोने की तैयारी कर रहे थे। मैंने जाकर उनसे प्रार्थना की कि आपने मुझे जो आशा दिलायी है, उसे पूरी करें। तब उन्होंने मुझे सबसे पहले कल्पना और अनुभव के बीच का भेद समझाया, केवल एक ही वाक्य में उन्होंने मेरे लिए एक नया क्षेत्र खड़ा कर दिया और मेरी सम्पूर्ण दृष्टि को पलट दिया। मेरे लिए तो वह एक क्षण आध्यात्मिक दिशा में हृदय-परिवर्तन का क्षण बन गया। दूसरे दिन उन्होंने जाना स्थगित कर दिया और उसे पंद्रह दिन के लिए आगे बढ़ा दिया। इन पंद्रह दिनों में मुझसे जितना बन पड़ा, मैंने उनका सहवास किया। मेरा हृदय-परिवर्तन जारी ही रहा। जिनकी इतने दिनों से मुझे खोज थी, वे मिल गये, ऐसा मुझे निश्चय हो गया और मैंने उनके चरणों में अपना मस्तक रख दिया।

"इसके बाद उनके बताये मार्ग से मैंने अपने आध्यात्मिक विकास का प्रयत्न शुरू कर दिया। उनकी सम्मति से एकान्तवास ग्रहण किया और उन्हींके शब्द से समाधान प्राप्त किया।"

◆◆◆

'आश्रमी' होने पर आपत्ति : १६ :

विद्यापीठ से किशोरलाल भाई जब मुक्त हुए, तब गोमती बहन बीमार थीं। बापू की सलाह से उन्होंने पंद्रह दिन के उपवास किये। इसके कारण वे बहुत अशक्त हो गयीं। उनकी तबीयत कुछ ठीक होते ही दोनों—गोमती बहन और किशोरलाल भाई—हवा बदलने के लिए देवलाली गये। परन्तु वहाँ वे अधिक नहीं रह सके। पंद्रह-बीस दिन में ही जीवकुँवर भाभी (बड़े भाई बालूभाई की पत्नी) की बीमारी के कारण उन्हें बम्बई जाना पड़ा। सन् १९२६ के मार्च में जीवकुँवर भाभी शान्त हो गयीं। इस कारण कुछ समय किशोरलाल भाई को बम्बई में ही रुक जाना पड़ा। इसके बाद शायद जून तथा जुलाई महीनों में उन्होंने बुनाई का काम किया होगा। परन्तु वे फिर बीमार हो गये। तब से १९२७ के मार्च-अप्रैल तक उन्हें अपनी तथा गोमती बहन की बीमारी के कारण बम्बई अथवा अकोला में रहना पड़ा, ऐसा लगता है। बम्बई में ही उन्होंने सोचा कि बीमारी तो अब सदा की संगिनी बन गयी है, इसलिए किसी अनुकूलतावाले गाँव में रहकर वहाँ जो कोई हलका-सा काम बने, वह करते रहना चाहिए। काका साहब का आग्रह था कि वे साबरमती-आश्रम में ही रहें, भले ही वे किसी काम की जिम्मेवारी न लें। वहाँ रहकर आश्रमवासियों को सलाह-सूचना देते रहें, तो भी बहुत है। १९२७ के मार्च में बापू दक्षिण के प्रवास में थे। वहाँ पहली बार उन पर रक्तचाप का आक्रमण हुआ। इसलिए आराम के लिए वे मैसूर में नन्दी-दुर्ग गये। आश्रम में आकर रहने का काका साहब जो आग्रह कर रहे थे, उसमें बापू की यह बीमारी भी शायद एक कारण रही हो। परन्तु आश्रम में केवल एक सलाहकार के रूप में आकर रहना किशोरलाल भाई के लिए बड़ा कठिन था। मुख्यतः धार्मिक और आध्यात्मिक विषय में बापू से उनकी दृष्टि कुछ भिन्न थी और इस कारण यह संभव था कि दूसरी भी कई बातों में उनके विचार बापू से अलग हों। ता० २८-३-१९२७ को किशोरलाल भाई ने काका साहब को

एक लम्बा पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने अपनी स्थिति बड़ी अच्छी तरह प्रकट की है :

"अपने विषय में आप सबकी इच्छाओं को मैं जानता हूँ। आपकी बात मैं किस हद तक मानता हूँ, यह तो आप जानते ही हैं। मैं हमेशा आपसे भिन्न राय रखता रहा हूँ। परन्तु उसके अनुसार वर्ताव करने की हिम्मत मुझमें नहीं है। इसलिए आपकी बात मानता नहीं, परन्तु उसके अनुसार कर जरूर डालता हूँ। ऐसा होता रहता है। गोमती इसे मेरी हमेशा की कमजोरी बताती है और जानती भी है। मुझ पर विजय प्राप्त करने की कला आपको और उसे भी सध गयी है। मैं हमेशा विवेक के विरुद्ध जाकर आग्रह के सामने झुक जाया करता हूँ।

"यह सच है कि केवल सहवास से भी एक प्रकार का आश्वासन मिल जाता है। यह भी सच है कि कई लोग उसके न मिलने के कारण ही दुःखी रहते हैं। परन्तु यदि अपने सहवास द्वारा मित्रों को आश्वासन देने के काम को मनुष्य अपना मुख्य व्यवसाय बना ले और इसका बोझ उन मित्रों पर अथवा खुद अपने ऊपर डालने की अपेक्षा सार्वजनिक संस्था पर डाले, तो क्या यह उचित होगा ?

"मनुष्य जहाँ कहीं रहेगा, वह किसीका सहवास लेगा और किसीको सहवास देगा। सामाजिक जीवन का अंग-स्वरूप यह एक आवश्यक सहचारी धर्म है। परन्तु यह कोई व्यवसाय तो नहीं बन सकता। व्यवसाय तो किसी कर्म-योग का ही हो सकता है। इसको समाज में लेकर यदि मनुष्य समाज में घुले-मिले, तो उसका सहवास समाज को अनायास मिल ही जायगा। हाँ, सबके सहवास का मूल्य एक-सा न भी हो। इसलिए कर्मयोग किस प्रकार का हो, इसका निर्णय करने से पहले मनुष्य सहवास का विचार कर ले। यही नहीं, सहवास की दृष्टि से ही वह कर्मयोग के प्रकार का निश्चय करे, यह भी हो सकता है। परन्तु यह तो निश्चय ही है कि असाधारण संयोगों की बात छोड़ दें, तो मनुष्य किसी-न-किसी कार्य के लिए ही तो एकत्र होते हैं।

"यदि ऐसे कार्य की दृष्टि से मैं आश्रम में रह सकता हूँ, ऐसा मुझे निश्चय न हो, तो मुझे आश्रम में रहने का हक ही क्या है ?

"विद्यापीठ, शाला या आश्रम, इन तीनों में से किसी भी संस्था के साथ मैंने अपने-आपको बाँधा नहीं, इसे आप मेरी चतुराई (Shrewdness) मानते हैं। परिस्थिति ने इस विशेषण के योग्य कार्य मुझसे करवा लिया हो, यह बात दूसरी है। परन्तु वस्तुस्थिति बिलकुल दूसरी है। विद्यापीठ की स्थापना से लेकर मैंने जब उसे छोड़ा, तब तक मुझे एक क्षण भी ऐसा नहीं लगा कि विद्यापीठ मेरा जीवन-कार्य है। इसलिए मैं इसमें अपने-आपको हमेशा के लिए बाँध लेना नहीं चाहता। मैं आपसे बराबर कहता रहा हूँ कि अपनी सुविधा से आप मुझे इससे मुक्त कर दें। विद्यापीठ के भीतर झगड़े रहे हों या न भी रहे हों अथवा वह आज की अपेक्षा अधिक सफल होगा, तो भी इस प्रकार के जीवन के प्रति मेरे मन में कभी आकर्षण नहीं उत्पन्न हुआ। इतने वर्ष मैंने इसमें निभा दिये, यही आश्चर्य की बात है। जितने दिन मैं वहाँ रहा, उसके प्रति वफादार रहा हूँ। केवल वफादार ही नहीं, बल्कि ऐसा रहा कि उसके प्रति मुझे ममत्व रहा; यह भी मैं कह सकता हूँ। इसे आप भले ही मेरे स्वभाव की विशेषता कह सकते हैं। परन्तु इसका अर्थ केवल यही है कि मुझमें एक 'सिविलियन' बनने की योग्यता है।

"अब आश्रम के विषय में। आश्रम में मैं आया, सो राष्ट्रीय शिक्षा की प्रवृत्ति से आकर्षित होकर ही। शाला में मैंने काम शुरू किया, उसके बाद महीनों तक सत्याग्रह-आश्रम, उसके व्रत अथवा नियम और प्रवृत्तियों—आदि का मुझे कोई ज्ञान नहीं था। यहाँ आने से पहले मैंने यह जानने का प्रयत्न नहीं किया था। आने के बाद भी नहीं किया। अनायास ही यह जानकारी मुझे मिलती गयी। फिर भी आप जानते हैं कि मेरा उद्देश्य यह रहा है कि एक-आध वर्ष अनुभव लेकर मैं अपने संप्रदाय में शिक्षा-सम्बन्धी कोई काम करूँ। यह नहीं कहा जा सकता कि आश्रम की आध्यात्मिक बाजू ने मुझे ललचाया। क्योंकि जब मैं यहाँ आया, तब कट्टर स्वामीनारायणी था और मैं मानता था कि मेरी आध्यात्मिक क्षुधा को तृप्त करने के लिए संप्रदाय काफी है। हाँ, अगर कोई महत्त्वाकांक्षा मेरे अन्दर थी, तो यही थी कि मैं पू० बापू को अथवा आश्रम को अधिक स्वामीनारायणी बनाऊँ। यह नहीं थी कि मैं अधिक आश्रमी बनूँ। मेरी इस वृत्ति का ध्यान रखना जरूरी है। क्योंकि इससे आप

जान सकेंगे कि वापू और मेरे वीच का सम्वन्ध किस प्रकार का है। वापू की मुमुक्षुता तथा आध्यात्मिक जाज्वल्यता से मैंने वहुत कुछ ग्रहण किया है। इससे कई वातों में मेरी संकीर्ण सांप्रदायिकता भी कम हो गयी। परन्तु मैंने वापू को कभी न अपना आध्यात्मिक गुरु माना या न ऐसा प्रकट किया। गुरु या तो स्वामीनारायण थे या नाथ हुए।

"और भी एक वात है। मेरे आश्रम में आने से कुछ ही पहले मेरे पिता का स्वर्गवास हो गया था। मेरी उम्र कम नहीं थी। फिर भी मैं पितृप्रेम का भूखा ही था और आज भी हूँ। घर से वँधे रहने की आर्थिक आवश्यकता न रही थी। उसी प्रकार यह आकर्षण भी समाप्त हो गया था। वापू में मैंने पुनः पितृप्रेम की प्राप्ति का अनुभव किया और वापू की शाला में आने में यह भी एक व्यक्तिगत कारण (Personal factor) वन गया।

"परन्तु इसे भी आध्यात्मिक सम्वन्ध नहीं कहा जा सकता। आध्यात्मिक विषय में मुझे नयी दृष्टि देनेवाले तो पू० नाथ ही हैं। इसलिए गुरुस्थान पर तो वे ही विराजे।

"इसके वाद शाला और आश्रम की एकता स्थापित की गयी और मुझे उसमें शरीक होने के लिए निमन्त्रित किया गया। मैं खूव जानता हूँ कि जीवन और तत्त्वज्ञान की ओर देखने में मेरे और वापू के वीच कई वातों में दृष्टिभेद है। आश्रम वापू की संस्था है और उसका अपना एक स्पष्ट अथवा अस्पष्ट, किन्तु निश्चित आध्यात्मिक संप्रदाय (School of thought) है। इस संप्रदाय में कितने ही व्रत, नियम, आदर्श और विधान वने हैं। इन्हें स्वीकार करके मैं इनके प्रति किस हद तक वफादार रह सकता हूँ, यह मेरे लिए एक उलझनभरा प्रश्न है।

"मगनलाल भाई और दूसरों के वीच के झगड़ों को समाप्त करने के लिए मुझे व्यवस्थापक का पद ग्रहण करना चाहिए, इस तरह की सूचनाएँ भी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से मेरे सामने आयीं। इस विषय में शारीरिक तथा रुचि की दृष्टि से भी मैं असमर्थ हूँ ही। परन्तु वापू की आध्यात्मिक दृष्टि को मैं सफल कर सकूंगा, ऐसा मुझे जरा भी विश्वास न हो सका। यही नहीं, वल्कि अधिकार (पात्रता) के विना आश्रमवासी वने रहना भी मुझे अच्छा नहीं लगा। मुझे तो

दिन-दिन यह भय होने लग गया था कि आश्रम की छाया में रहकर मैं कहीं उसके भीतर वुद्धिभेद वढ़ाने का कारण तो नहीं वन जाऊँगा। मेरा यह भय अभी तक दूर नहीं हुआ है।

"अव रह गयी शाला। आश्रम और शाला की विचार-सरणी एक ही है। यही होना भी चाहिए। एक तो यह वात हुई। दूसरे, आपने मुझे विद्यापीठ में भेज दिया और इस कारण पढ़ाने के काम से तीन वर्ष से अलग हो गया। इस कारण पढ़ाने के काम में मुझे पहले जो रस था, वह अव नहीं रहा। फिर शाला में जो विषय पढ़ाये जाते हैं, उनमें से किसी भी विषय का मुझे गहरा ज्ञान नहीं है। यह तीसरी वात है। चौथी वात यह है कि 'केलवणीना पाया' (तालीम की वुनियादें) पुस्तक में जिन वातों का विवेचन किया है, उन्होंने उन विपयों पर से मेरे प्रेम को कम कर दिया है, जिन्हें मैं पहले पढ़ाता था। इस प्रकार शाला में भी सक्रिय भाग लेने का उत्साह अव मुझमें नहीं रहा।

"अन्य प्रकार से तो मैं शाला का ही हूँ, यह कहता आया हूँ और इस कारण विद्यार्थियों के प्रति मेरा प्रेम कम नहीं हुआ है।

"यह सच है कि इन सवके साथ भीतरी क्लेश भी मिल गये और उन्होंने मेरे अलग रहने के निश्चय को और भी दृढ़ वनाया है। परन्तु उसे मुख्य कारण नहीं कहा जा सकता।

"आज रमणीकलाल भाई का पत्र मिला। उससे मालूम हुआ कि आपने वापू को तार दिया है कि 'Have decided to stay here.' (यहाँ रहने का निश्चय किया है।) यह तार आपकी भावनाओं की कोमलता के अनुरूप ही है। आपको याद होगा कि कई वर्ष पहले (सन् १९१८ के अक्तूवर में) वापू अपनी वर्षगाँठ के दूसरे ही दिन एकाएक वीमार हो गये थे और सवको भय हो गया था कि उनके हृदय की गति कहीं वन्द न हो जाय। उस दिन वापू ने वारी-वारी से सवको अपने पास वुलाकर उनसे प्रतिज्ञा या प्रतिज्ञा जैसा ही कुछ कहलवाया था कि 'मैं आश्रम में ही रहूँगा'। उस समय संप्रदाय की सेवा करने की मेरी अभिलाषा धीमी नहीं हुई थी। मुझे भी वुलाया गया था। वह मेरे लिए परीक्षा का क्षण था। एक तरफ तो वापू मृत्युशय्या पर पड़े हैं और चाहते हैं कि हम आश्रम को न छोड़ें, दूसरी तरफ मेरे मन में यह निश्चय

न हो पा रहा था कि मैं अवश्य ही इस प्रतिज्ञा को पूरा कर सकूँगा। अब मुझे क्या करना चाहिए, यह सवाल था। बापू को जिससे सन्तोष हो, ऐसी बात करके काम चला लूँ? बड़ा नाजुक प्रसंग था। परन्तु सौभाग्य से मुझे सद्बुद्धि सूझ गयी। बापू के पूछने से पहले ही मैंने कह दिया: 'मुझसे जितना समय बनेगा, यहाँ रहने का प्रयत्न करूँगा।' बापू ने कहा: 'हाँ, आपसे मुझे इतनी आशा तो है ही।' ऐसे नाजुक प्रसंग पर मनुष्य की परीक्षा होती है। एक तरफ तो यह इच्छा होती है कि अपने पूज्य या प्रियजन के सन्तोष के लिए हर प्रकार का त्याग हम करें, परन्तु दूसरी तरफ यह भी सोचने का कर्तव्य उपस्थित हो जाता है कि प्रसंग ऐसा नाजुक न होता, तो क्या हम इस तरह का निश्चय कर सकते थे? भावुकता में आकर यदि हम गलत निश्चय कर लेते हैं, तो भविष्य में प्रतिज्ञा भंग करने का गंभीर प्रसंग सामने उपस्थित हो सकता है। क्योंकि जो निश्चय भावुकता में आकर किया जाता है, उस पर कायम रहना बहुत कम संभव होता है और यदि अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ नहीं रहते हैं, तो चित्त में हमेशा असमाधान बना रहता है।

"मैं मानता हूँ कि आश्रम में मेरे रहने से कुछ लोगों को बहुत सन्तोष होगा। परन्तु एक स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में और बिना काम से यहाँ पड़ा रहना ज्ञान में अथवा आध्यात्मिक बातों में एक अधिकारी पुरुष के नाते मेरे लिए एक अपयश की ही बात होगी। (क्योंकि उसमें मेरे लिए लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक है) जब कभी कोई प्रश्न उपस्थित होगा, तो हर आदमी को यह जानने का कौतूहल होगा कि इस विषय में मेरे और बापू के विचार एक-से हैं या अलग-अलग? (क्योंकि वहाँ आखिर मैं मानसिक सहवास देने के लिए ही तो रहूँगा।) इससे आश्रम में अनिष्ट बुद्धिभेद उत्पन्न होने का सदा डर बना रहेगा। इस सबके कारण जहाँ कुछ लोगों को आश्वासन मिलेगा, वहाँ आगे चलकर कुछ लोगों का आश्वासन छिन जाने का भी भय है। अब आप कहिये कि क्या आपको निश्चयपूर्वक ऐसा लगता है कि आश्रम में मेरा रहना अच्छा होगा?

"अभी तो मैं आश्रम में आ ही रहा हूँ, क्योंकि सब कुछ वहीं पड़ा है। परन्तु मेरी इच्छा यह है कि हम दोनों का स्वास्थ्य ठीक होने पर हलका-सा, परन्तु जो भी और जहाँ भी अनुकूल मालूम हो, कुछ न कुछ काम करें। केवल

सहवास देने का धन्धा नहीं करना है, जहाँ बापू और काका जैसे दो प्रचण्ड व्यक्ति प्रोत्साहन और प्रेरणा देने के लिए सदैव उपलभ्य हैं, वहाँ अधिक की आशा करनेवालों के लोभ की भी कोई सीमा है ?"

इस पत्र में किशोरलाल भाई ने कुछ विस्तार के साथ बताया है कि आश्रम तथा बापू के बारे में उनके विचार क्या थे। उन्होंने यह भी बताया है कि वे आश्रम के व्रतधारी क्यों नहीं बने, यद्यपि मरने तक वे बापू का ही काम अखण्ड रूप से करते रहे। इसलिए मेरी दृष्टि में यह प्रश्न बहुत महत्त्व नहीं रखता कि उन्हें आश्रमी समझना चाहिए अथवा नहीं। हाँ, स्वयं किशोरलाल भाई आश्रमी कहलाने को तैयार नहीं थे। इसका अर्थ केवल यही है कि वे अपने व्यक्तित्व को पूरी तरह से बापू में नहीं मिला सकते थे। खुद बापू इस बात को जानते थे। उन्होंने एक बार कहा भी था कि "किशोरलाल भाई मेरी अपेक्षा सत्य के कम उपासक नहीं हैं। परन्तु उनका मार्ग मुझसे कुछ अलग-सा है। जिस मार्ग पर मैं चल रहा हूँ, उसी मार्ग पर वे नहीं चल रहे हैं। परन्तु मेरे मार्ग से समानान्तर उनका दूसरा मार्ग है।" इस तरह विचार करें, तो भले ही उन्हें आश्रमी न भी कहा जाय, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से आश्रमियों की अपेक्षा वे बहुत ऊँची कोटि के आश्रमी थे। अपनी सत्योपासना को उन्होंने कभी मन्द नहीं पड़ने दिया।

आध्यात्मिक बातों में तो बापू के साथ उनका कई बातों में मतभेद अथवा दृष्टिभेद पहले से ही था। फिर भी हमेशा बापू के साथ रहकर उन्होंने काम किया। यहाँ तक कि बापू के सामने वे गांधी-सेवा-संघ के अध्यक्ष बने और बापू की मृत्यु के बाद 'हरिजन' पत्रों द्वारा उन्हींका सन्देश संसार को सुनाते रहे। इसमें बापू तथा किशोरलाल भाई, दोनों की महत्ता है। इसमें बापू का प्रेम, समभाव तथा व्यापक और संग्राहक वृत्ति का दर्शन हमें होता है। साथ ही किशोरलाल भाई की स्वतंत्र वृत्ति का भी परिचय मिलता है। बापू के साथ उनका विचार-भेद अथवा दृष्टिभेद किस प्रकार और किस हद तक था, इसकी विस्तृत चर्चा 'जीवन-दर्शन' प्रकरण में की जायगी। उसका हम केवल एक उदाहरण यहाँ देते हैं। बापू कहते कि ईश्वर की उपासना चाहे किसी नाम से करें, चाहे किसी आकार में उसकी पूजा करें और

उसका वर्णन भी चाहे जिस तरह करें—वह सब एक परमात्मा की ही पूजा होगी—वह उसीको पहुँचेगी। मिट्टी या पत्थर की पूजा करनेवाले को मिट्टी या पत्थर नहीं फल देते, उसकी श्रद्धा फल देती है। परन्तु किशोरलाल भाई दूसरे ही वातावरण में पले थे। उन्हें 'वक्रतुण्ड महाकाय' की, अथवा 'समुद्र-वसना' और 'पर्वत-स्तनमंडल' पृथ्वी की या 'भुजग-शयन' विष्णु की एक साथ पूजा करना पसन्द नहीं था। इसलिए सवेरे की प्रार्थना में जब ये श्लोक बोले जाते, तब वे इनका उच्चारण ही नहीं कर सकते थे। वे कहते कि कोई भी एक रूप चुन लो और केवल उसीकी उपासना करो। इस तरह सबको इकट्ठा न करो। वे यह भी कहते कि मैं सर्वधर्म-समभाव को मानता हूँ। परन्तु मेरी पद्धति बापू की पद्धति से भिन्न है। मुझे यह पसन्द नहीं कि थोड़ा-थोड़ा सब धर्मों में से लेकर बोला जाय। इस कारण आश्रम की प्रार्थना में उपस्थित रहना मुझे कष्टकर लगता है। इसी प्रकार सन् १९३७ के गांधी-सेवा-संघ के वार्षिक अधिवेशन में इस बात की बहुत बारीकी के साथ चर्चा हुई थी कि गांधी-सेवा-संघ के सदस्य धारासभाओं में जा सकते हैं या नहीं। बापू का मत था कि यदि गांधी-सेवा-संघ का कोई सदस्य धारासभा में जाकर भी पूर्ण स्वराज्य का काम कर सकता है, तो हम उसे वहाँ जरूर भेजें और उसे भी अवश्य जाना चाहिए। किशोरलाल भाई की राय यह थी कि गांधी-सेवा-संघ रचनात्मक काम करनेवाली संस्था है, इससे धारासभा में जाने से उसके भीतर निष्ठाभेद उत्पन्न होने का भय है। उन्होंने बापूजी से कहा: "आपकी बात अभी तक मेरी समझ में पूरी तरह नहीं आ सकी है। मैं तो एकनिष्ठता का केवल एक ही अर्थ समझ सकता हूँ और एक उपासना का ही माननेवाला हूँ। गणपति, देवी, सूर्य, शिव आदि की पंचायतन-पूजा की सनातन वृत्ति मेरे गले नहीं उतरती।" इस तरह कई बातों में उनका बापूजी के साथ दृष्टिभेद रहा करता। फिर भी उन्होंने आश्रम को जितना सुशोभित किया, उतना बहुत कम लोगों ने किया होगा। इसी प्रकार बापू के बाद उनका सन्देश उन्होंने जितनी विशद और निर्भय रीति से संसार के सामने रखा, वैसा शायद ही किसीने रखा हो।

◆◆◆

बाढ़-पीड़ितों की सेवा : १७ :

किसी देहात में जाकर रहने के विचार से सन् १९२७ के जून मास में बालूभाई की सम्मति प्राप्त करके किशोरलाल भाई और गोमती बहन मढ़ी-आश्रम में जाकर रहने लगे। वहाँ मकनजी माणाभाई खादी का काम करते थे। किशोरलाल भाई वहाँ कोई दूसरा काम नहीं करते थे। पड़ोस के स्यादला गाँव से कुछ कार्यकर्ता अपने कुछ प्रश्न लेकर आते रहते। उन्हें केवल सलाह-सूचनाएँ दे देते। इसके अतिरिक्त और कोई काम उन्होंने अपने हाथ में नहीं लिया। परन्तु कोई काम हाथ में लेने का विचार अवश्य कर रहे थे। इतने में अगस्त के महीने में गुजरात के एक बहुत बड़े भाग पर बाढ़ का संकट आ गया। सरदार वल्लभभाई ने गुजरात के तमाम कार्यकर्ताओं का इस काम को उठा लेने के लिए आवाहन किया। यद्यपि भारी वर्षा के कारण बहुत से गाँव जलमय हो गये थे और बहुत से परिवारों को भोजन मिलना भी कठिन हो गया था और बहुत से भाग की फसलें डूब गयी थीं, फिर भी सरदार चाहते थे कि सहायता का संगठन हमें इस तरह करना चाहिए कि अन्न के अभाव में एक भी आदमी भूखों न मरे और बीज के अभाव में जमीन का एक भी टुकड़ा फिर से बिना बोया न रह जाय। सरदार के इस आवाहन पर किशोरलाल भाई और गोमती बहन मढ़ी-आश्रम को छोड़कर बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए निकल पड़े। बारडोली के कार्यकर्ता बड़ौदा पहुँच गये थे। इसलिए किशोरलाल भाई ने भी बड़ौदा ही पसन्द किया। स्वयं बड़ौदा शहर में और आसपास के गाँवों में बहुत विनाश हुआ था। इनकी सहायता के लिए किशोरलाल भाई गाँवों में तो नहीं घूम सकते थे, परन्तु स्थानीय कार्यकर्ताओं के सारे काम की व्यवस्था करने में और हिसाब रखने में उन्होंने बहुत मदद पहुँचायी। सरदार वल्लभभाई चाहते थे कि सारे गुजरात में काम की व्यवस्था एक-सी हो और मदद पहुँचाने के काम में भी सर्वत्र एक ही नीति से काम लिया जाय।

इसके लिए वे हर केन्द्र को पूरी-पूरी मदद देने के लिए तैयार थे। तदनुसार उन्होंने वड़ौदा-केन्द्र को भी मदद भज दी। परन्तु वड़ौदा के महाराजा और दीवान भी इस काम में अच्छी मदद करना चाहते थे। इसे वड़ौदा राज्य प्रजा-मण्डल के कार्यकर्ताओं ने खोया नहीं। इसलिए उन्होंने वड़ौदा के क्षेत्र में वड़ौदा-प्रजा-मण्डल की ओर से इस काम को उठा लिया। संयोगवश डॉ० सुमन्त मेहता इस अवसर पर अचानक वड़ौदा पहुँच गये थे और वे वहाँ फँस भी गये। वे इस काम के मुख्य नियामक वन गये। सरदार की इच्छा थी कि सारा काम गुजरात प्रान्तीय समिति के मार्फत हो। परन्तु वड़ौदा में ऐसा नहीं हो सका। इस कारण उन्हें शायद कुछ वुरा भी लगा हो। किशोरलाल भाई की वृत्ति यह थी कि ऐसे संकट के समय इस वात का अधिक महत्त्व नहीं कि किसकी ओर से काम हो रहा है। असली महत्त्व की वात यह है कि सवको आवश्यक मदद मिल जानी चाहिए। सरदार को भी इसमें कोई विरोध नहीं था, परन्तु उनका विचार यह था कि यदि वड़ौदा के महाराजा वगैरह का यह आग्रह हो कि वहाँ का काम उनके प्रजामण्डल के द्वारा ही हो और वे पूरी मदद पहुँचाने में समर्थ हैं, तो फिर गुजरात प्रान्तीय समिति का चन्दा वहाँ क्यों खर्च किया जाय? किशोरलाल भाई सरदार की इस वृत्ति को समझ गये थे। इसलिए जव काम पूरा होने को आया, तव यद्यपि उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था, फिर भी सव हिसाव साफ होने और प्रान्तीय समिति के सारे रुपये मिलने तक वे वड़ौदा में ही रुके रहे। अन्त में गुजरात प्रान्तीय समिति को वड़ौदा-क्षेत्र की मदद में रु० ५,३३५ खर्चखाते में लिखने पड़े। सन् १९२८ के फरवरी तक अर्थात् लगभग सात महीने वड़ौदा में रहकर उन्होंने वाढ़-पीड़ितों की सहायता का काम किया।

इस वीच उनके सामने वहाँ एक धर्म-संकट उपस्थित हो गया। वे तथा अन्य कितने ही कार्यकर्ता वड़ौदा में स्टेशन के पास की धर्मशाला में रहते थे। वहाँ एक रात को चोर आया। उसने किशोरलाल भाई की पेटी उठायी और कुछ खड़वड़ाहट हुई। इतने में सव जाग गये और चोर भी पकड़ लिया गया। तत्काल तो उसे पुलिस के सिपुर्द कर दिया गया। परन्तु किशोरलाल भाई के सामने एक नैतिक सवाल खड़ा हो गया कि उसे सजा दिलायी जाय अथवा

नहीं। पुलिस ने चोर को ले लिया, इसलिए वह तो चाहती ही थी कि उसे सजा दिलायी जाय। बात यह थी कि किशोरलाल भाई ने चोर को पेटी उठाते हुए नहीं देखा था, गोमती बहन ने देखा था। इसलिए उन्हें भी कोर्ट में बयान देने के लिए जाना पड़ा। किशोरलाल भाई ने उस समय सोचा कि चोर जैसे एक आदमी को कुछ समय तक बंधन में रखने से यदि समाज की रक्षा हो सकती है और उसे भी अपने सुधार का अवसर मिलता हो, तो—उसे बंधन में रखने की प्रथा को—यद्यपि उसमें हिंसा है—कायम रखना अनुचित नहीं। इसलिए किशोरलाल भाई और गोमती बहन ने भी कोर्ट में अपने बयान दे दिये। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने मैजिस्ट्रेट से एक दरखास्त द्वारा प्रार्थना की कि वे उसकी ओर दया की दृष्टि से देखें और उसे कम-से-कम सजा दें। मैजिस्ट्रेट ने इस दरखास्त को अप्रस्तुत और अनधिकृत समझकर उसे दाखिल दफ्तर कर लिया। परन्तु यह चोर पहले कई बार सजा पा चुका था। इसलिए उसे अधिक सजा दिलाने के लिए उन्होंने इस मामले को दौरासुपुर्द कर दिया। सेशन-कोर्ट के सामने अपने बयान देने के लिए किशोरलाल भाई और गोमती बहन को फिर सम्मन मिले। इस बीच किशोरलाल भाई ने सारा प्रकरण बापू को लिख भेजा और उनकी सलाह ली। बापू ने लिखा कि "अहिंसा-धर्म की दृष्टि से हम अदालत में बयान नहीं दे सकते। समाज में रहते हुए भी कई बातें ऐसी होती हैं, जिनको समाज की तरह हम नहीं कर सकते ······नहीं तो समाज आगे नहीं बढ़ सकेगा।" इस पर से किशोरलाल भाई भी स्पष्ट रूप से समझ गये कि इस प्रकार के गुनहगारों के प्रति व्यवहार करने की समाज की प्रचलित पद्धति में दोष हो, तो उसे चालू रखने में हमारी मदद तो कदापि नहीं होनी चाहिए। समाज यदि आज या दो सौ वर्ष बाद भी, जब कभी इस विषय पर विचार करेगा, तब इस प्रकार मदद न करने की घटनाओं से ही उसे इस पर विचार करने की प्रेरणा मिलेगी। इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि अब सेशन-कोर्ट में बयान न दिया जाय। इसके लिए सेशन-कोर्ट में पढ़ने के लिए उन्होंने अपना वक्तव्य भी तैयार कर लिया।

सेशन-जज किशोरलाल भाई के एक मित्र के परिचित थे। इन मित्र को समाचार मिले कि किशोरलाल भाई और गोमती बहन सेशन-कोर्ट में गवाही

नहीं देंगे। गवाही न देने पर उन्हें सजा हो, यह उस मित्र को अच्छा नहीं लगा। इसलिए उसने जज से तथा सरकारी वकील से भी कह रखा था कि वे किसी भी तरह किशोरलाल भाई तथा गोमती बहन को बचा लें। किशोरलाल भाई को इसका पता नहीं था। दोनों ने सेशन-कोर्ट से कह दिया कि हम गवाही नहीं देना चाहते। जज ने कहा : "यह तो ठीक है। परन्तु आपको शपथ लेने और नाम-धाम बताने में भी आपत्ति है ?" इस पर दोनों ने प्रतिज्ञा ली और नाम-धाम बता दिये। इसके बाद सरकारी वकील ने पूछा : "निचली कोर्ट में आपने जो बयान दिया, वह यही है न ?" इस पर किशोरलाल भाई ने कुछ भी कहने से इनकार कर दिया। सरकारी वकील ने कहा : "आप यहाँ भले ही गवाही न दें, परन्तु आपको यह बताने में क्यों आपत्ति हो कि नीचे की कोर्ट में आपने जो बयान दिया, वह यही है ?" जज ने भी धमकाने का स्वाँग बनाकर कहा : "आप न्याय में मदद करना नहीं चाहते ?" फिर भी किशोरलाल भाई दृढ़ रहे। तब दूसरे एक वकील ने जज से प्रार्थना की कि "साक्षी ने यह तो नहीं कहा कि यह बयान मेरा नहीं है और उसने शपथ तो ले ली है। इसलिए नीचे की कोर्ट में दिये गये बयान को आप रेकार्ड पर ले सकते हैं।" जज उन्हें सजा देना नहीं चाहते थे। इसलिए नीचे की कोर्ट में किशोरलाल भाई ने और गोमती बहन ने जो बयान दिये थे, उन्हींको उन्होंने रेकार्ड पर ले लिया और चोर को सजा दे दी। शाम को क्लब में वकील और जज सब इस बात पर खूब हँसे होंगे कि सत्याग्रही भाई कैसे बुद्धू बन गये।

इस सारे प्रसंग को लेकर किशोरलाल भाई ने एक छोटा-सा प्रहसन लिखा है : 'होला होली नो सत्याग्रह'। इसमें अन्त में उन्होंने बताया है कि सत्याग्रही बनना, चालाकी न करना या असत्य का आचरण न करना, यह तो ठीक है, परन्तु कोर्ट ने हमारे भोलेपन का पूरा फायदा उठा लिया और हम उसकी तरकीब समझ भी नहीं सके, यह ठीक नहीं हुआ। निरे भोलेपन से दुनिया में काम नहीं चलता।

◆ ◆ ◆

बड़े भाई

: १८ :

किशोरलाल भाई को वड़ौदा में ही खाँसी और वुखार आने लगा था। इसलिए वहाँ से फारिग होते ही फरवरी १९२८ में वे इलाज के लिए वम्वई गये। वहाँ उन्हें निमोनिया हो गया। उसके वाद शान्ताक्रुझवाले श्री गौरी-शंकर दवे के नैसर्गिक उपचार शुरू किये। वीमारी लम्वी रही। इसलिए एक-दो महीने शान्ताक्रुझ में विताकर वापस वम्वई गये। वे वहुत कमजोर हो गये थे। इसलिए खुद उन्हें तथा आसपास के दूसरे लोगों को भी शंका होने लगी थी कि इस वीमारी से वे उठ भी सकेंगे या नहीं। प्रायः डॉ० दलाल उनका उपचार करते थे। वे भी कुछ निराश हो गये। इस स्थिति में किशोर-लाल भाई ने अपने सारे अधूरे और पूरे लेख मेरे पास भेज दिये और लिखा कि मैं उनका जिस प्रकार ठीक समझूँ, उपयोग करूँ।

एक लेख में उन्होंने लिखा है :

"वालूभाई को उन दिनों जो चिन्ता थी और उन्होंने जो कष्ट उठाये, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। मैं शान्ताक्रुझ रहता था, तव वे रोज रात को वहाँ आते। सारे दिन की थकावट उनके शरीर पर देखकर उनके शान्ता-क्रुझ के चक्कर पर मुझे वड़ी लज्जा आती। कुछ तो इसी कारण मैं वम्वई गया। उन दिनों वारडोली में सत्याग्रह चल रहा था। उसके लिए चन्दा एकत्र करने के काम का वोझ भी उनके सिर पर आ गया था। एक दिन वे अँधेरी, घाटकोपर आदि स्थानों पर चन्दा एकत्र करने के लिए वहुत घूमे। उसी दिन डॉ० दलाल से उनकी भेंट हो गयी। उन्होंने मेरी तवीयत के वारे में निराशा के उद्‌गार प्रकट किये और हवा वदलने के लिए मुझे अकोला ले जाने के वारे में चर्चा चली। वालूभाई के दिमाग पर इन सारी वातों का वहुत वड़ा वोझ जान पड़ता था। रात को मेरे पास आकर वैठे, तो वड़े खिन्न दीख रहे थे। परन्तु वातें करते-करते मुझे नींद आ गयी। वालूभाई भी मेरे पास से उठकर सोने के लिए चले गये। मेरी आँख लगे कुछ ही समय हुआ होगा कि कुछ

शोर हुआ और मेरी नींद खुल गयी। वालूभाई जोर-जोर से चीख मारकर चिल्ला रहे थे और सिर में दर्द होने की शिकायत कर रहे थे। वे आँखें भी नहीं खोल सकते थे और न बैठ सकते थे। एक-दो कै भी हुई। मुझे लगा कि लू लग गयी होगी। नीचे से डॉक्टर को बुलाया और तात्कालिक उपचार किये। परन्तु सारी रात उन्हें बड़ी बेचैनी रही। दूसरे दिन डॉ० दलाल उनकी जाँच करने के लिए आये। परन्तु कोई निश्चित निदान नहीं हो सका। मेरी सतत बीमारी के बावजूद एक रात में वालूभाई मुझसे भी अधिक अशक्त हो गये। अन्त में यही निश्चय किया कि हम दोनों वायु-परिवर्तन के लिए अकोला जायँ। अकोला में वहाँ के डॉक्टर के इलाज से धीरे-धीरे वालूभाई की तबीयत सुधर गयी। मैंने वहाँ कालझाना की टिकियाँ लेना शुरू कर दिया। वे मुझे अनुकूल पड़ीं। तीसरे ही दिन मेरा लम्बा बुखार उतर गया। खाँसी और दमा भी जाता रहा। मेरा वजन बहत्तर पौंड तक पहुँच गया था, सो अब वह भी तेजी से बढ़ने लगा। दोनों भाई धीरे-धीरे कुछ चलने-फिरने लगे। वालूभाई तो एक-डेढ़ मील घूम भी लेते। उनका वजन भी पहले की तरह हो गया। अतः फिर बम्बई जाने की उत्सुकता उन्हें होने लगी। सबको लगा कि अब कोई चिन्ता की बात नहीं है। वे बम्बई जा सकते हैं। पहले श्रावण की अष्टमी या नवमी के दिन वे बम्बई गये, परन्तु मानो वहाँ वे अपने बच्चों से मिलने के लिए ही घर गये हों। एकादशी के दिन सवेरे मंदिर हो आये। उनकी तबीयत अच्छी होते देखकर सब रिश्तेदारों को आनन्द हुआ। उस दिन बहुत से मित्र आये और मिल गये। शाम को छह-सात बजे तक हिस्सेदारों और कारकूनों से उन्होंने बातें कीं। फिर फूलों का पलना बाँधकर ठाकुरजी को झुलाया और इसके बाद एकाएक 'सिर में दर्द' ऐसा कहकर जोर से चीख मारकर वे गिर पड़े। उन्हें बिस्तर पर लिटाया और डॉक्टरों को बुलाया गया। परन्तु डॉक्टरों के पहुँचते-पहुँचते वे बेहोश हो गये। उनका बायाँ अंग लकवे से सुन्न हो गया। रात के ग्यारह बजे उनकी यातनाएँ समाप्त हुईं और हमें अकोला तार से समाचार मिला।

"इस प्रकार वालूभाई के जीवन का अन्त हुआ। वे कुछ अव्यवस्थित, परन्तु परिश्रमी थे। वासनायुक्त होने पर भी धार्मिक थे। श्रद्धालु और

भक्तिपूर्ण थे। कुछ उतावलापन भी था, परन्तु उनका अंतःकरण प्रेम से लवालव था। धन के प्रेमी तो थे, परन्तु उदार भी वैसे ही थे। वहुत किफायत करते, परन्तु मौका आने पर अपनी शक्ति से वाहर भी खर्च कर देते। वर्णाभिमान और जाति का अभिमान भी उनमें था, परन्तु समदृष्टियुक्त थे। इस प्रकार के सरल, दयालु और परोपकारी भाई हमसे छिन गये।

"वालूभाई को पढ़ने का वहुत शौक था। पुस्तकों के वड़े शौकीन। पुस्तक पसन्द आयी कि खरीदी। यह आदत थोड़ी-वहुत हम सवमें है। इस कारण हमारे यहाँ दो-तीन आलमारियाँ तो केवल पुस्तकों से ही भरी रहतीं। वीच-वीच में इनकी छटनी भी होती रहती और आलमारियाँ वहुत कुछ खाली हो जातीं। परन्तु फिर जल्दी ज्यों की त्यों भर जातीं। यह कुलधर्म जहाँ-जहाँ भी मैं रहा, वरावर जारी रहा है। सैकड़ों रुपये की कितावें हमने विगाड़ी होंगी। कई वार ये भिन्न-भिन्न संस्थाओं को वाँट दी गयीं। कितनी ही पुस्तकें रद्दी में चली गयीं। परन्तु हमारी आलमारियाँ कभी खाली नहीं रहतीं। उनमें नित नवीनता रहती है। यह हमारी विशेषता है। कोई यह न समझे कि भाई (पिताजी) द्वारा खरीदी हुई कितावों को हम लोग पढ़ लें, तभी नयी कितावें आयें। इसी प्रकार वालूभाई का, नानाभाई का या मेरा संग्रह भी नीलकण्ठ के काम में आ ही जायगा, ऐसी वात नहीं है। हरएक का संग्रह स्वतन्त्र होता है।

"जैसा कि मैंने अन्यत्र वताया है, वापू के साथ हमारा सम्वन्ध वालूभाई ने अपने ऐनकदान से शुरू किया। वह वन्धुदान (किशोरलाल भाई आश्रम में गये, तव से), कन्यादान (नानाभाई की लड़की सुशीला वहन का विवाह वापू के दूसरे चिरंजीव मणिलाल भाई के साथ हुआ है) और पुत्रदान (वालूभाई के दूसरे लड़के सुरेन्द्र को वापू की पौत्री मनु वहन दी गयी है) तक जा पहुँचा है।

"वीच में एक-आध वर्ष छोड़कर मेरे आश्रम-निवास का सारा खर्च जव तक वालूभाई थे, उन्होंने उठाया। एक वर्ष मैंने ही आग्रहपूर्वक आश्रम से खर्च लिया था।"

किशोरलाल भाई ने आश्रम से खर्च लेना शुरू किया, यह वालूभाई को

जरा भी पसन्द नहीं था। उन्होंने इसकी शिकायत नाथजी से की। इस बात का वर्णन नाथजी ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है :

"एक दिन मैं बसई में था, तब एक अपरिचित गृहस्थ मुझसे मिलने आये। खादी के कपड़े और सादगी के संपूर्ण नमूने के रूप में उन्हें देखकर मैंने पूछा : 'आप कौन हैं और कहाँ से आये हैं?' उन्होंने कहा : 'मेरा नाम है बालूभाई। मैं किशोरलाल का बड़ा भाई हूँ। बम्बई में व्यापार करता हूँ। हम तीन भाई हैं। किशोरलाल आपकी सुन लेता है, इसलिए आपसे कुछ कहने आया हूँ।' मैंने कहा : 'अच्छा, कहिये।' वे बोले : 'दीवाली पर मैं अपने नफे के तीन भाग करता हूँ। इनमें से एक भाग किशोरलाल का होता है। परन्तु वह ये पैसे नहीं लेता। आश्रम से लेता है। मुझे यह अच्छा नहीं लगता। घर पर पैसे हैं, तब उसे आश्रम से क्यों लेने चाहिए? हर साल मैं जो भाग करता हूँ, वह पड़ा रहता है; इसलिए आप उससे कहें कि वह अपने खर्च के लिए घर से पैसे ले।' उन्होंने मुझसे यह भी पूछा कि 'मेरी बात आपको उचित मालूम होती है न?' मैंने कहा : 'एकदम उचित है। किशोरलाल भाई से भेंट होगी, तब उनसे मैं आपका सन्देशा कहूँगा।' बात पूरी होते ही वे बम्बई के लिए चल दिये।

"कुछ दिन बाद मैं आश्रम गया, तब मैंने किशोरलाल भाई को उनके बड़े भाई का सन्देश सुना दिया। उन्होंने मुझे समझाया कि 'हमारे पिताश्री शान्त हुए, तब हमारे सिर पर कर्ज का भारी बोझ था। बालूभाई ने अनेक प्रकार का शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाकर अपना धंधा चलाया। यह सच है कि अब कोई कर्ज नहीं रहा और उनके पास कुछ रकम भी हो गयी होगी, परन्तु पिताश्री के समय का कर्ज चुकाने में मैंने किसी प्रकार हाथ नहीं बँटाया। इसलिए बालूभाई ने अपने कष्ट से जो रकम एकत्र की है, उसमें से कुछ स्वीकार करना मुझे उचित नहीं मालूम होता। मैं सार्वजनिक काम कर रहा हूँ। उसमें से अपने खर्च के लायक कुछ लेने में मुझे कुछ भी बुराई नहीं मालूम होती। भाई मेहनत करें, चिन्ता करें और इससे उन्हें जो कुछ मिले, उसमें मेरा भी भाग मानें, यह उनकी भलमनसाहत है। परन्तु मुझे यह उचित नहीं लगता कि मैं उनसे कुछ लूँ'।

"मैंने उनसे कहा : ठीक है। आपका कहना वाजिब है।

"बम्बई आने पर फिर बालूभाई से मेरी भेंट हुई। किशोरलाल भाई की बात मैंने उनसे कही। उन्होंने जवाब दिया : 'पिताजी की फर्म उनके शान्त हो जाने के बाद से मैं चला रहा हूँ। ईश्वर की कृपा से अब कोई कर्ज नहीं रहा और दो पैसे की बचत भी हो जाती है। उसमें सब भाइयों का हिस्सा है। उसमें से किशोरलाल को मैं उसका हिस्सा दूँ, इसमें कौन भलमनसाहत की बात है? अपना हिस्सा वह ले, यह तो न्याय की ही बात है। पिताजी की दूकान को मेरे बजाय कोई गुमाश्ता चलाता और आज की भाँति उसमें कोई बचत होती, तो क्या वह मुनाफा गुमाश्ते का कहा जाता? जिस तरह हम गुमाश्ते को सारा मुनाफा नहीं दे देते, उसी प्रकार पिताजी की फर्म को मैं चला रहा हूँ, इसलिए वह मुनाफा मेरा भी नहीं कहा जा सकता।' मैंने कहा : 'आपका कहना सही है'।

"मैं आश्रम गया, तब मैंने फिर किशोरलाल भाई से कहा : आप दो भाइयों के बीच के झगड़े को मिटाना कठिन है। इसमें मैं निर्णय नहीं दे सकता। आपके इस झगड़े पर से मुझे युधिष्ठिर के समय का ऐसा ही एक झगड़ा याद आ रहा है। एक मनुष्य ने अपना खेत किसी दूसरे आदमी को बेच दिया या दान में दे दिया। खेत लेनेवाले को उसमें गड़ा हुआ धन मिला। उसे लेकर वह खेत के पुराने मालिक के पास गया और बोला कि 'यह लीजिये आपका धन।' पुराने मालिक ने कहा कि 'मैंने तो आपको जब खेत दिया; तब वह सब आपको दे दिया, जो उसमें रहा होगा। अब यह धन मेरा नहीं हो सकता। यह तो आपका ही है।' उन दो में से एक भी वह धन लेने को तैयार नहीं था। अन्त में वे दोनों न्याय पाने के लिए युधिष्ठिर के पास गये। आप दो भाइयों के बीच का झगड़ा भी इसी प्रकार का है। आप दोनों के बीच अप्रतिम बन्धु-प्रेम तथा न्यायनिष्ठा है। इसलिए आपमें से कोई भी दूसरे को दुःखी न करे। मुझे लगता है कि बालूभाई की बात आपको मान लेनी चाहिए।' किशोरलाल भाई ने कहा : 'मुझे तो यह न्याय नहीं मालूम होता कि मैं ये पैसे लूँ। परन्तु बालूभाई को दुःख न हो, केवल इसलिए मैं उनसे खर्च के लिए पैसे ले लूँगा'।

"बालूभाई से मैं पुनः मिला, तब उनसे सारी बात कही। उन्होंने कहा : 'किशोरलाल को इसमें न्याय नहीं लगता और यदि वह केवल इसलिए खर्च

लेना स्वीकार कर रहा हो कि मुझे दुःख न हो, तो यह ठीक नहीं। उसे जो बा अन्यायपूर्ण मालूम हो, उसे वह न करे। परन्तु मैं तो कहता हूँ कि वास्तव में न्याय की बात तो यही है कि वह मुझसे खर्च ले लिया करे।' यह सुनकर मैंने हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना की कि 'अब इस प्रकरण को आप यहीं समाप्त करें। अब इस विषय में धर्माधर्म की सूक्ष्म चर्चा में आप दो में से किसीको भी पड़ने की जरूरत नहीं है। इस तरह के झगड़ों में फैसला देने का प्रसंग आजकल के जमाने में शायद ही कभी प्राप्त होता है। आपने यह काम मुझे सौंपा। परन्तु आप दोनों का प्रेम तथा न्यायपरायणता देखकर मैं इसका निर्णय नहीं दे सकता।' इस तरह इस मामले से मैं मुक्त हुआ।

"इस प्रकार अनेक प्रसंगों पर मशरूवाला कुटुम्ब का पारस्परिक प्रेम तथा नीतिपरायणता मैंने देखी है और इसी कारण इस परिवार के छोटे-बड़े सबके साथ मेरा अधिकाधिक प्रगाढ़ सम्बन्ध होता गया है। बालूभाई, नानाभाई तथा किशोरलाल का पारस्परिक प्रेम, विश्वास और आदर देखकर मेरे दिल से यही उद्गार निकलते हैं कि धन्य है उनका प्रेम और धन्य है उनका बन्धुत्व!"

उनके दूसरे बड़े भाई श्री नानाभाई का परिचय भी यहीं थोड़े में हम दे देते हैं।

ठेठ बचपन से उन्हें दमे का रोग हो गया। इस कारण वे अधिक विद्याभ्यास नहीं कर सके। परन्तु किशोरलाल भाई ने एक स्थान पर कहा है कि उदारता और बुद्धि में वे हम तीनों भाइयों में बढ़कर थे। जिस प्रकार उन्होंने विद्याभ्यास ठीक तरह से नहीं किया, इसी प्रकार कोई धंधा भी उन्होंने नहीं किया। शुरू में नारणदास राजाराम की फर्म में उन्होंने नौकरी की। परन्तु स्वतंत्रता का प्रेम उनमें इतना अधिक था कि कुछ ही समय में उन्होंने यह नौकरी छोड़ दी। फिर कुछ दिन बम्बई में फोटोग्राफी का धंधा किया। परन्तु उसमें अपने विशाल मित्रवर्ग को मुफ्त में फोटो निकालकर देने के अलावा सच्चे ग्राहक उन्हें बहुत ही कम मिले होंगे। इतने में अकोला में मकान बनवाने का विचार हुआ। उसका नक्शा, खर्च का बजट आदि सब उन्होंने बनाया और अपनी ही देखरेख में सारा मकान बनवाया। अकोला के इस मकान की बनावट कमल के फूल के जैसी बहुत सुन्दर है। इस बँगले के पास ही एक हाल

बनाकर उसे सार्वजनिक उपयोग के लिए दे दिया गया है। मकान बनाने के इस अनुभव के जोर पर उन्होंने कुछ समय अकोला में मकानों के ठेकेदारी का काम भी किया है। इसमें वे खूब परिश्रम करते। मित्रों तथा ग्राहकों को वे मकान के नक्शे खुद बनाकर देते। परन्तु उसका पारिश्रमिक लेने की याद उन्हें कम ही रहती। इसलिए यह काम भी उन्हें छोड़ देना पड़ा। इसके बाद अकोला में जनरल स्टोर्स की दूकान खोली। इसमें भी उधारी बहुत बढ़ गयी और फिर घर की ही दूकान थी, इसलिए घर में अधिक चीजें आने लगीं। परिणाम यह हुआ कि यह दूकान भी बन्द कर देनी पड़ी। इस प्रकार नाना-भाई किसी धन्धे में स्थिर न हो सके। हाँ, यदि कोई काम सफलतापूर्वक करने की चिन्ता उन्हें रही, तो वह था समाज-सेवा का काम। पिताजी भी अकोला के सार्वजनिक जीवन में भाग लेते थे। इस कारण वहाँ उनकी अच्छी कीर्ति थी। उनकी इस कीर्ति को नानाभाई की सेवाशीलता ने चार चाँद लगा दिये। अकोला की बहुत सी संस्थाओं के वे सेक्रेटरी अथवा खजांची भी थे। यद्यपि घर के खर्च का हिसाब रखने की उन्हें बहुत टेव नहीं थी, परन्तु वे जिस संस्था के खजांची होते, उसकी पाई-पाई का हिसाब देते और जब खर्च का मेल न बैठता, तब अपनी गाँठ के पैसे देकर हिसाब पूरा कर देते।

इसके अलावा नानाभाई में प्रेम और वात्सल्य तो सदा छलकता ही रहता था। बालूभाई की अपेक्षा उनके सम्पर्क में मैं कम आया। परन्तु दीन-दुखियों के लिए तथा छोटे-से-छोटे लोगों के लिए उनकी आँखों में प्रेम उमड़ते मैंने देखा है।

सन् १९५२ की जुलाई में विजयाभाभी (नानाभाई की पत्नी) शान्त हो गयीं। इस पर किशोरलाल भाई ने एक टिप्पणी लिखी थी। उसमें नाना-भाई के लोकोपयोगी और यशस्वी गृहस्थाश्रम का बड़ा सुन्दर चित्र मिलता है। इसलिए यह सम्पूर्ण टिप्पणी हम यहाँ देते हैं :

"श्री विजयालक्ष्मी मशरूवाला मेरी भाभी न होतीं, तो उनकी मृत्यु के विषय में 'हरिजन बन्धु' में लिखते हुए मुझे कोई संकोच न होता। लगभग पचास वर्ष तक उन्होंने हमारे घर को लगभग एक सार्वजनिक संस्था जैसा बनाने में प्रमुख भाग लिया है। उन्होंने एक पुत्र और दो पुत्रियों को सार्वजनिक

जीवन में समर्पित करने का पुण्यलाभ किया है और अपने आतिथ्य तथा सहृदयता के कारण अकोला में सार्वजनिक 'बा' (माँ) कहलाने की कीर्ति प्राप्त की है। यहाँ तक कि बहुतों को तो 'बा' के अलावा उनका असली नाम भी मालूम नहीं। सच पूछिये तो उनके विषय में कुछ लिखते हुए कुछ भी संकोच नहीं होना चाहिए।

"मेरे माता-पिता अकोला में आकर बसे, तब से हमारा अकोला का घर एक प्रकार से सज्जनों का अतिथिघर जैसा बन गया है। माता-पिता की श्रद्धा स्वामीनारायण-संप्रदाय में थी। इस कारण संप्रदाय के आचार्य साधु-संत और भक्तजनों आदि के लिए यह अतिथिगृह था। उन्होंने हमारे घर को एक प्रकार से हरि-मंदिर बना दिया था। आर्थिक और सार्वजनिक व्यवहारों में भी उनकी प्रामाणिकता, शुद्धि और न्यायबुद्धि के कारण अकोला में उनकी बड़ी कीर्ति थी। परन्तु उनके बाद मेरे बड़े भाई नानाभाई ने अपने जीवन द्वारा उसमें इतनी वृद्धि की कि पिताजी के नाम को लोग भूल गये और अकोला में नानाभाई को ही लोग जानने लगे। उनका सम्बन्ध कांग्रेस तथा सब प्रकार की राष्ट्रीय और रचनात्मक प्रवृत्तियों के साथ होने के कारण अब दूसरे प्रकार के अतिथि हमारे घर पर आने लगे। परन्तु आतिथ्यशीलता की परम्परा तो वही कायम रही। स्वामीनारायण-मंदिर के आचार्य और साधु-सन्तों के अतिरिक्त अब पू० बापू, श्री विट्ठलभाई पटेल, सरदार वल्लभभाई, पण्डित मोतीलाल नेहरू, डॉ० अन्सारी, श्री राजगोपालाचार्य—आदि कांग्रेस के अनेक नेताओं और छोटे-बड़े कार्यकर्ताओं का आतिथ्य करने का यशलाभ उन्होंने किया। हमारे मकान के पड़ोस में ही पिताजी के इच्छानुसार 'स्वामी-नारायण-धर्मभवन' के नाम से एक हाल बनाया गया था। वह छोटी-छोटी खादी-प्रदर्शनियों, छोटी सभाओं, कार्यकर्ताओं की बैठकों और ठहरने के स्थान के रूप में वर्षों तक काम आता रहा। इसके बाद वह नेताओं के बजाय ऐसे छोटे-छोटे कार्यकर्ताओं के ठहरने के लिए एक निश्चित स्थान बन गया, जिनका कोई हाल नहीं पूछता था और जिनके लिए होटल या धर्मशाला के अलावा ठहरने का कोई स्थान ही नहीं था। मेरे बड़े भाई के समय में कांग्रेस साधनवाली संस्था नहीं बनी थी। इसके अलावा लोगों के मन में डर भी

रहता था। यों अकोला में अनेक बड़े व्यापारी और वकील भी थे, परन्तु वे सब अपने यहाँ कांग्रेस के नेताओं को ठहराने में डरते थे। इसके वाद जब कांग्रेस की स्थिति सुधर गयी और उसके पास साधन हो गये, तव बड़े नेताओं की व्यवस्था तो होने लगी, परन्तु रचनात्मक कार्यकर्ताओं तथा गाँवों में काम करनेवाले तरुण कार्यकर्ताओं के ठहरने के लिए अकोला में कोई स्थान नहीं था। इस संधिकाल में मेरे बड़े भाई शान्त हो गये। तव मेरे बड़े भतीजे शान्तिलाल (वचुभाई) ने उनका स्थान ले लिया। वह मुझसे भी अधिक कमजोर था। परन्तु उसने इस कमजोरी की हालत में भी अपने छोटे-से जीवन-काल में जो काम किया तथा सन् १९४२ में घर के अन्दर वैठे-वैठे इतने जोर से आन्दोलन चलाया कि उसकी उस मरणासन्न अवस्था में भी सरकार ने उसे सवा-डेढ़ वर्ष कैद में रखा। इसने मेरे बड़े भाई के नाम को भुलवा दिया और अव अकोला में वचुभाई का ही नाम सवकी जवान पर चढ़ गया।

"हमारे घर में इन सव कामों में योग देनेवाली स्त्रियों में अकेली विजया भाभी ही थीं। वहुओं की मदद तो उनको इधर-इधर अन्तिम वर्षों में ही मिलने लगी। लगभग १३ वर्ष की उम्र में वे इस घर में आयीं और ६५ वर्ष की उम्र में ता० ८-७-'५२ को उनकी मृत्यु हुई। शुरू के चार-पाँच वर्ष छोड़ दें, तो शेष सारे समय में घर की सारी जिम्मेवारी उनके सिर पर थी। यह भाई शान्तिलाल की मृत्यु के वाद भी उन्होंने जारी रखी। परिणामस्वरूप उन्होंने स्वतन्त्र रूप से मेरे पिताजी, भाई और भतीजों के समान ही कीर्ति प्राप्त की।

"उनकी वड़ी लड़की सुशीला अपने पति अर्थात् गांधीजी के दूसरे पुत्र श्री मणिलाल गांधी का साथ दक्षिण अफ्रिका में दे रही है। दूसरी लड़की तारा नागपुर-विदर्भ प्रान्त में कस्तूरवा ट्रस्ट का संचालन कर रही है। दो अन्य लड़कियाँ भी अपने-अपने ढंग से परिवार को सँभालने के उपरान्त सार्वजनिक कामों में वरावर रस ले रही हैं। ऐसे परिवारों का योगक्षेम तो भगवान् ही चलाता है और ऐन वक्त पर मददगार मित्रों को मदद के लिए भेज देता है। उनकी मदद से परिवार यश का भाजन वन जाता है। नहीं तो ऐसे काम केवल पैसे के वल पर मनुष्य करने लगें, तो लक्षाधीशों से ही निभ सकते हैं।"

◆◆◆

सन् ३०–'३२ का सत्याग्रह-संग्राम : १९ :

सन् १९२८ की कड़ी बीमारी से उठने के बाद जब श्री किशोरलाल भाई विचार करने लगे कि अब क्या करना चाहिए, तो उन्हें लगा कि यदि विले पार्ले की राष्ट्रीय शाला में काम करेंगे, तो बम्बईवाले घर पर आसानी से नजर भी रखी जा सकेगी और भाई बालूभाई के बच्चों को जरूरत पड़ने पर सलाह-सूचना आदि की मदद भी दी जा सकेगी। इसलिए उन्होंने विले पार्ले की शाला में काम करने का निश्चय किया। वहाँ उन्होंने एक वर्ष काम किया होगा कि इतने में नमक-सत्याग्रह का युद्ध छिड़ गया। राष्ट्रीय शाला को सत्याग्रह की छावनी का रूप दे दिया गया और सेठ जमनालाल बजाज, बालासाहब खेर, स्वामी आनन्द, श्री बांदरेकर आदि उसमें शरीक हो गये। किशोरलाल भाई और गोमती बहन भी तो थीं ही। छावनी में शामिल होते समय दोनों ने प्रण किया था कि जब तक लड़ाई जारी रहेगी, घर नहीं लौटेंगे। किशोरलाल भाई, जमनालालजी आदि ने ता० ६ अप्रैल को नमक बनाकर सत्याग्रह प्रारम्भ किया। वे गिरफ्तार कर लिये गये और बांदरा के मैजिस्ट्रेट की अदालत में उन पर मुकदमा चला। श्री जमनालालजी तथा विले पार्ले के प्रमुख कार्यकर्ता श्री गोकुलभाई भट्ट भी किशोरलाल भाई के साथ ही गिरफ्तार किये गये थे। किशोरलाल भाई ने अदालत के सामने अपना बयान पढ़ सुनाया और तीनों व्यक्तियों को दो-दो वर्ष की कड़ी कैद और कुछ जुर्माने की सजा दी गयी। जुर्माना न देने पर डेढ़-डेढ़ महीने की और अधिक कैद भुगतने की सजा थी। पहले तो वे थाना-जेल में रखे गये, परन्तु बाद में तीनों नासिक सेंट्रल जेल भेज दिये गये। किशोरलाल भाई पहले तो 'अ' श्रेणी में रखे गये, परन्तु नासिक आने पर 'ब' श्रेणी में कर दिये गये। किशोरलाल भाई जब नासिक आये, तब मैं नासिक-जेल में ही था। इसलिए लगभग आठ महीने पास-पास बिस्तर लगाकर हमें रहने का अवसर मिला। नासिक-जेल में कितने ही समाजवादी तथा कम्यूनिस्ट मित्र भी थे। उनके साथ हमारी खूब चर्चाएँ होतीं। इसके

फलस्वरूप हम दोनों ने समाजवादी और साम्यवादी साहित्य का अच्छा अध्ययन कर लिया और किन-किन मुद्दों में गांधी-विचार के साथ वे मिलते हैं तथा किन-किन मुद्दों में अलग हैं, इसकी एक सारिका भी हमने वना ली। कम्युनिस्ट लोग अपने विचारों के प्रचार के लिए वर्ग लेते थे। हमने भी गांधी-विचार के वर्ग शुरू कर दिये। साम्यवादी कार्यकर्ता तथा उनके भापण सुनने के लिए जानेवाले लोग हमारे वर्गों में भी आ सकें, इसलिए हमने अपने भापणों का समय भी अलग रख दिया। कई वार हम भी साम्यवादियों के भाषण सुनने के लिए जाते। हमारे विचार भिन्न होने पर भी उनके साथ हमारा सम्वन्ध वहुत मधुर तथा मैत्रीपूर्ण हो गया।

उस समय किशोरलाल भाई की 'जीवन-शोधन' नामक पुस्तक का पहला संस्करण प्रकाशित हो चुका था। इसलिए किशोरलाल भाई 'जीवन-शोधन' का भी एक वर्ग लेते थे। इसके अतिरिक्त इसी सजा में किशोरलाल भाई ने मोरिस मिटरलिंक की 'The life of the white ant' नामक पुस्तक का अनुवाद (उधईनुं जीवन) किया। मैंने क्रोपाटकिन के 'Mutual aid' नामक पुस्तक का 'सहायवृत्ति' नाम से अनुवाद किया। अनुवाद में हम दोनों एक-दूसरे की अच्छी तरह मदद लेते थे।

हम दोनों की सजाएँ तो लम्वी थीं, परन्तु मार्च १९३१ में गांधीजी और वाइसराय के वीच सुलह हो जाने से ता० ८-३-१९३१ को सजा की अवधि पूरी होने से पहले ही हम छोड़ दिये गये।

गोमती वहन की भी इच्छा थी कि अवसर मिलते ही वे जल्दी-से-जल्दी जेल जायँ। परन्तु वे गिरफ्तार नहीं की गयीं। इसलिए उन्हें लम्वे समय तक विले पार्ले की छावनी में रहना पड़ा। अन्त में उन्हें चार महीने की सजा हुई और वे 'क' श्रेणी में रखी गयीं। उस समय का वर्गीकरण वड़ा विचित्र था। वास्तव में वर्गीकरण मनुष्य का वाहर का दर्जा और रहन-सहन देखकर करना चाहिए। परन्तु पिता-पुत्र, सगे भाई तथा पति-पत्नी को अलग-अलग वर्गों में रखा जाता था।

सुलह हो जाने के वाद भी विले पार्ले की छावनी चालू रही। क्योंकि यह निश्चय नहीं था कि यह सुलह स्थायी रहेगी या फिर लड़ाई शुरू हो जायगी।

इसलिए विद्यापीठ में भी हमने सात महीने का एक अभ्यासक्रम बनाकर एक वर्ग चलाया और उसका नाम 'स्वराज्य विद्यालय' रखा। इसी प्रकार विले पार्ले की छावनी में भी 'गांधी विद्यालय' के नाम से एक वर्ग शुरू किया था। इसमें विद्यार्थियों को गांधीजी के विचारों का परिचय देने का काम किशोरलाल भाई को सौंपा गया था। उसके लिए जो तैयारी की गयी, उसमें से 'गांधी-विचार-दोहन' नामक पुस्तक का जन्म हुआ।

वाइसरॉय लार्ड इरविन (अब के लार्ड हैलिफैक्स) ने गांधीजी के साथ जो सुलह की, वह सिविल सर्विस के अधिकारियों को शुरू से ही अच्छी नहीं लग रही थी। लार्ड इरविन का कार्यकाल समाप्त होने पर लार्ड विलिंग्डन वाइसरॉय बनकर आ गये। अधिकारियों को उनका सहारा मिला। इसलिए उन्होंने सुलह को तोड़-ताड़कर फेंकनेवाले अनेक कृत्य किये। इस कारण गांधीजी ने गोलमेज-परिषद् में जाने के अपने विचार को बदल दिया। फिर भी वे गोलमेज-परिषद् में गये और किस प्रकार असफल होकर वहाँ से लौटे, यह सारा प्रकरण कहना यहाँ ठीक न होगा। इंग्लैंड से गांधीजी के लौटने पर ता० ४-१-१९३२ के दिन वे फिर गिरफ्तार कर लिये गये और उसके दूसरे दिन सारे देश के प्रमुख नेताओं तथा कार्यकर्ताओं को समेट लिया गया। इसमें किशोरलाल भाई भी पकड़ लिये गये। उन्हें जब सजा सुनाई गयी, तो उन्होंने नीचे लिखा बयान अदालत में पढ़ा, जो उनके स्वभाव का द्योतक है:

"लापरवाही से अथवा पूज्य गांधीजी या कांग्रेस के प्रति अपनी केवल वफादारी से प्रेरित होकर मैं फिर से विनय-भंग करने के लिए तैयार नहीं हुआ हूँ। मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ कि ब्रिटिश और भारतीय जनता के बीच के इस कलह के परिणाम अत्यन्त गम्भीर होंगे—इतने गंभीर कि शायद ही आज तक संसार ने कभी देखे हों।

"स्वभाव से मैं कोई राजकीय पुरुष या लड़ाकू व्यक्ति नहीं हूँ। संस्कारों से तथा अपने निजी विश्वास से भी मैं कलह को धिक्कारनेवाला और मानव-मात्र की एकता को माननेवाला हूँ। इस कारण संसार की कमजोर-से-कमजोर जनता संसार की सबसे अधिक पशुबलवाली जाति के विरुद्ध केसरिया बाना पहनकर युद्ध के मैदान में उतरे, यह कल्पना न तो मेरे खून को ठंडा करती है

और न उसमें गरमी ही ला रही है। परन्तु मनुष्य जितनी एकाग्रता से सोच सकता है, उतना सोचने के बाद मुझे यही लगता है कि मेरे सामने केवल एक भारतीय के नाते ही नहीं, बल्कि एक मानव-सेवक और ईश्वर के एक भक्त के नाते भी यह कठोर कर्तव्य करने के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं है।

"मुझे लगता है कि यदि मानव-जाति को अकथनीय क्रूरता और अत्याचार के दृश्यों से बचाना है, तो उसका केवल एक ही मार्ग है—वह यह कि यज्ञ के इस कुण्ड में जहाँ तक संभव हो, केवल पवित्र आहुतियाँ ही दी जायँ, क्योंकि पवित्र अथवा पवित्रता के लिए प्रयत्नशील प्राणी का आत्म-बलिदान शायद अन्य हजारों प्राणियों की रक्षा करने में सहायक सिद्ध हो।

"कम-से-कम आज तो ब्रिटेन के भाग्य-विधाता ने भारत का भुखमरी से बचने और स्वाभिमान के साथ जीवन व्यतीत करने के दावे को मानने से इनकार कर ही दिया है। थोड़े में कहा जाय, तो कांग्रेस का दावा इससे अधिक कुछ नहीं है। ब्रिटेन के भाग्य-विधाता ने इस दावे को मानने से केवल इनकार ही नहीं किया है, बल्कि उसने यह भी निश्चय किया है कि जो इस तरह का दावा करने की धृष्टता करेगा, उसे भी वह कुचल देगा। वह चाहता है कि भारत की लूट को केवल जारी ही नहीं रहने देना चाहिए, बल्कि लुटते हुए भारत को इसमें हँसते भी रहना चाहिए। भारत को कुचलने की अपनी शक्ति में अत्यन्त विश्वास होने के कारण इस भाग्य-विधाता को ऐसा भी लगता है कि पिछली बार इस शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग न करके उसने भूल की और इसलिए अबकी बार ऐसा करने के लिए वह अधीर हो गया है।

"इन तमाम चिह्नों को देखकर अब ऐसा अनुमान करने में कोई हर्ज नहीं दीखता कि भारत में हमारे जीवन का अत्यन्त करुण प्रसंग अब आनेवाला है।

"मुझे ऐसा लगता है कि अंग्रेज जाति का भला चाहनेवाले और उनके हाथ मृत्यु आये, तो भी उन्हें ईश्वर के आशीर्वाद प्राप्त हों, ऐसी प्रार्थना करने-वाले जो थोड़े-से व्यक्ति भारत में हैं, उनमें से मैं एक हूँ।

"इस प्रकार की मान्यताएँ होने के कारण मुझे लगता है कि मानव-समाज की सेवा के लिए मुझसे जितना बलिदान दिया जा सकता है, मुझे देना चाहिए। इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है। परमात्मा के तरीके अगम्य

होते हैं। इतिहास बताता है कि मानव-जाति को प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ने देने से पहले उससे वह ऐसे बलिदान लेता ही आया है।

"इन विचारों का सार यह भी है कि हमें जो उद्देश्य सिद्ध करने हैं, उनके लिए केवल जेल की सजा भोगना पर्याप्त बलिदान नहीं है। इससे अधिक कष्ट उठाने का सौभाग्य भी मुझे मिले, ऐसी मेरी इच्छा है। परन्तु यह पसंदगी भी मेरे हाथ में नहीं है। इसलिए मुझे तो यही श्रद्धा रखनी पड़ती है कि मेरे लिए ईश्वर ने जो योजना की है, वह उन्होंने अधिक-से-अधिक समझ-कर ही की होगी।

"भारत को कुचलने के ये प्रयत्न हो रहे हैं, फिर भी मेरे मन में यह आशा तो है ही कि भारत का उद्धार अवश्यंभावी है। हाँ, इसके लिए उसे अवश्य ही भारी कीमत चुकानी पड़ेगी। किन्तु इस युद्ध के परिणामस्वरूप भारत का विनाश नहीं होगा। परन्तु यदि ब्रिटेन का भाग्य-विधाता आज की नीति पर ही काम करता रहेगा, तो मुझे यही भय हो रहा है कि ब्रिटेन की भावी जनता अपने लिए इतने बड़े विनाश को निमन्त्रण दे देगी कि जितना आज तक संसार में किसी कौम का नहीं हुआ होगा। इस भयंकर विनाश को रोकने में मेरी आहुति यदि किसी प्रकार सहायक हो सके, तो मैं इसे अपना सौभाग्य मानूंगा। परन्तु हमें तो यही समाधान मान लेना है कि उसकी इच्छा में हमारी इच्छाएँ आ ही जाती हैं।"

किशोरलाल भाई को दो वर्ष की सजा हुई। इस अवधि का प्रारम्भिक भाग उन्होंने थाना में काटा और शेष बड़ा भाग नासिक में।

सन् १९३० में जब उन्हें सजा हुई थी, तब उन्होंने शुद्ध खादी के कपड़ों की माँग की थी। वह मंजूर नहीं हुई, इस कारण उन्होंने शाम का भोजन छोड़ दिया था। सुपरिंटेंडेंट ने हमसे कहा कि आप सब चरखा चलाकर मुझे जल्दी सूत दे देंगे, तो उसे बुनवाकर मैं किशोरलाल भाई के लिए कपड़े बनवाकर दे सकता हूँ। हमने पंद्रह दिन में ही सूत कातकर दे दिया। उसके कपड़े मिलते ही किशोरलाल भाई ने शाम को भोजन लेना शुरू कर दिया। कपड़ों का भण्डारी डिप्टी जेलर समझदार था। उसने ये कपड़े अलग रख छोड़े थे। इसलिए जब दूसरी बार किशोरलाल भाई नासिक गये, तब उन्हें कोई तकलीफ नहीं हुई। वही कपड़े उन्हें मिल गये।

सन् १९३० के जेल-प्रवास में भी वे अक्सर बीमार रहते और उन्हें अस्पताल में दिन काटने पड़ते। परन्तु दूसरी बार की जेल में तो उन्होंने अधिकांश सजा अस्पताल में ही काटी। 'गांधी-विचार-दोहन' के अलावा गांधी विद्यालय के लिए गीता के अभ्यास को सरल करने की दृष्टि से उन्होंने 'गीता-मन्थन' नाम की एक पुस्तक शुरू की थी। वह इस बार की सजा में पूरी हो गयी।

सितम्बर १९३२ में इंग्लैंड के प्रधान मंत्री रैम्से मॅकडोनल्ड ने अपना साम्प्रदायिक निर्णय दिया। इसमें हरिजनों के लिए अलग मतदान-मंडल की योजना करके उन्हें हिन्दू-समाज से अलग कर दिया। निर्णय के इस भाग को रद्द करने के लिए गांधीजी ने उपवास शुरू कर दिया था। इस प्रसंग पर गांधीजी ने किशोरलाल भाई को एक पत्र लिखा था। यह पत्र और इस पर किशोरलाल भाई का उत्तर इस प्रकार है:

यरवदा जेल, पूना
ता० २१-९-'३२

चि० किशोरलाल,

मेरा यह कदम तुम्हें नीतियुक्त लगा या नहीं, यह जानने की इच्छा तो है ही। नाथ को शंका है। उन्हें मैंने उत्तर दे दिया है। तुमने सोचा हो, तो लिखना। यदि कदम धर्म के अनुसार लगे, तो हमारे लिए यह आनन्दोत्सव है, यह तो तुमने समझ ही लिया होगा।

वल्लभभाई की संस्कृत के विषय में तुम्हें जो भय है, उसके लिए कोई कारण नहीं है। वल्लभभाई से उनकी देहाती गुजराती को तो कोई छीन ही नहीं सकता। उस प्रवाह को संस्कृत अधिक मजबूत करेगी और इस उम्र में वे जो भगीरथ प्रयत्न करते हैं, हमारे लिए तो वही उन्हें बधाई देने की चीज है। इसका असर विद्यार्थी-वर्ग पर पड़े बिना नहीं रह सकता। संस्कृत हमारी भाषा के लिए गंगा नदी है। यदि यह सूख जाय, तो ये सारी भाषाएँ निर्माल्य हो जायँ, ऐसा मुझे लगता ही रहता है। मैं समझता हूँ कि इसका सामान्य ज्ञान आवश्यक है।

मुझे ऐसी सहूलियत मिल गयी है कि तुम मुझे तुरन्त लिख सकते हो।

बापू के आशीर्वाद

सेंट्रल जेल, नासिक
ता० २४-९-'३२

पूज्य बापूजी की सेवा में,

इस प्रसंग पर हम आपको कैसे लिखें, यह हमें सूझ ही नहीं रहा था। और मैं तो आज सोच रहा था कि यदि इस महीने कोई मिलने के लिए न आये, तो मैं अपने इस विशेष अधिकार का उपयोग कर लूं। परन्तु अब इसकी जरूरत नहीं रही।

आपके उपवास का संकल्प प्रकट होने के बाद दो-तीन दिन मैं आपके हृदय और विचार-सरणी का पता नहीं लगा सका, इसलिए चिन्तित रहा। परन्तु बाद में एक रात में ऐसा लगा, जैसे आपका यह कदम मेरी समझ में आ गया। इसलिए मन स्वस्थ हो गया। परन्तु अभी भी यह तो लग ही रहा है कि यह कदम भय से खाली नहीं है। अहमदाबाद के मिल-मजदूरों की हड़ताल के दिनों में आपने जो उपवास किया था, उसमें मिल-मालिकों के प्रति कर्तव्य की दृष्टि से उस उपवास में जो दोष कहा जा सकता था, उस दोष से यह उपवास मुक्त है, ऐसा नहीं लगता। इस उपवास के कारण यदि आपके शरीर को खतरा उपस्थित हो गया, तो डॉ० अम्बेडकर ने जिस खून-खराबी और छूत-अछूत जातियों के बीच द्वेष फैलाने का भय प्रकट किया है, वह भय मुझे भी लगता है। यह भी सत्य है कि आपके उपवास से उनकी स्थिति—जैसा कि उन्होंने बताया है—विषम (unenviable) हो सकती है। परन्तु जेल में तो इस कदम के सिवा आपके सामने कोई चारा ही नहीं था। इंग्लैंड से लौटते ही आपकी स्वतन्त्रता का अपहरण करके सरकार ने आपको लाचार बना दिया था। इस कारण इस कदम की धर्ममयता के बारे में शंका के लिए अब कोई गुंजाइश ही नहीं रही और एक बार जब यह सिद्ध हो जाता है कि यह कदम धर्मयुक्त है, उसके बाद इसके कुछ अनिष्ट परिणाम भी हो सकते हैं; तो भी इस विचार से इस कदम को रोका थोड़े ही जा सकता है। फिर तो यही कहना पड़ता है कि—'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता:।'

यह सब तो मेरे मन की कलाबाजी है। वही लिख दी है। इसके उपरान्त

तो कविवर रवीन्द्रनाथ ने आपको जो सन्देश भेजा है, वह मुझे बहुत उपयुक्त लगा। मेरे मन की भावना भी वैसी ही है।

× × ×

इस प्रसंग पर मन में तो ऐसा लग रहा है कि उड़कर आपके पास पहुँच जाऊँ। इसे आप क्षम्य मानेंगे। कभी-कभी इस विचार से निराशा-सी होने लगती है कि कुछ ही महीने सही—आपके निकट सहवास में रहने की अभिलाषा कहीं मन-की-मन में तो नहीं रह जायगी और संयोग भी ऐसे रहे कि आपकी ऐसी तपश्चर्या के दिनों में तो मुझे हमेशा आपसे दूर ही रहना पड़ा। आपके उपवास के दिनों में प्रतिदिन एक हजार गज सूत कातने का विचार किया था। दो दिन उसके अनुसार काता भी, परन्तु कल से तो बायाँ हाथ खींच ही नहीं सकता। इस कारण मन-की-मन में रह गयी।

सरदार के संस्कृत के अध्ययन के बारे में मेरे मन में कम आदर नहीं है। वह तो मैंने कुछ विनोद में लिख दिया था।

यहाँ के भाई अत्यन्त विनयपूर्वक आपको प्रणाम लिखवा रहे हैं। वे भी अपने-अपने ढंग से कुछ अलग-अलग संकल्प कर रहे हैं और भगवान् से प्रार्थना कर रहे हैं कि उपवास आनन्दपूर्वक परिपूर्ण हो जाय।

अपने मन की स्थिति तो क्या कहूँ ! बहुत बार तो लगता है कि सब कुशलपूर्वक पार हो जायगा। परन्तु कभी-कभी मन में डर भी लगता है। तब वह कल्पना असह्य हो जाती है। परन्तु मेरी मनोरचना ही कुछ इस ढंग की है कि मैं बहुत बेचैन नहीं होता। इसलिए ऊपर से किसीको पता नहीं चलता कि मेरे मन में अशान्ति है। अपने मन को कुछ-कुछ इस प्रकार विनोदपूर्वक समझा देता हूँ कि अहिंसा का अर्थ है—द्वेष होते हुए भी न मारना अथवा प्रेम से प्रेमी को मारना !

'न त्वहं कामये' इत्यादि मन्त्रों का आपने हमेशा जप किया है। इसके गुजराती अनुवाद में मैंने दूसरी पंक्ति में कुछ फेरफार किया है। वह इस समय आप पर अधिक अच्छी तरह लागू होती है :

ना हूँ इच्छूं स्वर्ग वा इहि ऋद्धि,
ना हूँ इच्छूं जन्म मृत्यू भी मुक्ति।
हूँ तो इच्छूं सर्व मारूँ सदामे,
को प्राणीना दुःखनाशार्थ थामे॥

कामये जीवितं मे स्यादर्तिनाशाय प्राणिनाम्। पहली प्रार्थना (कामये दुःखतप्तानाम् प्राणिनामर्तिनाशनम्) तो संसार में केवल एक इच्छा के रूप में रह सकती है। यह प्रार्थना हमारे जैसे नहीं, तो आपके जैसे सच्ची करके वता सकते हैं।

और अधिक लिखकर आपका वोझ नहीं वढ़ाऊँगा।

आपका सदैव कृपांकित
किशोरलाल के दण्डवत् प्रणाम

ता० ५-१०-१९३३ को दो वर्ष की सजा पूरी करके वे छूटे। वे जेल से ही वीमारी लेकर निकले। इसके लिए लगभग वारह महीने उन्हें वम्बई, देवलाली और अकोला में काटने पड़े। कुछ ठीक होने पर अगस्त १९३४ में वे वर्धा गये और नवम्वर में गांधी-सेवा-संघ के अध्यक्ष वनाये गये। ◆◆◆

गांधी-सेवा-संघ के अध्यक्ष : २० :

सन् १९३४ के उत्तरार्द्ध में वीमारी से कुछ अच्छे होने पर किशोरलाल भाई के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि अव कहाँ रहना चाहिए और क्या काम करना चाहिए। जमनालालजी उन्हें वर्धा खींच रहे थे। वापू ने हरिजन-यात्रा पूरी करके वर्धा को अपना स्थायी निवास-स्थान वना लिया था। काका साहव भी वर्धा के पास के किसी गाँव में रहने का विचार कर रहे थे। किशोरलाल भाई सन् १९३४ के अगस्त में वर्धा गये। उस समय गांधी-सेवा-संघ की पुनर्रचना के विचार वहाँ चल रहे थे। जमनालालजी इस संघ के अध्यक्ष थे। परन्तु वे यह महसूस कर रहे थे कि गांधी-सेवा-संघ जैसी गांधीजी के आदर्शों को अर्पित संस्था का अध्यक्ष होने की योग्यता उनमें नहीं है। अव तक गांधी-सेवा-संघ केवल उसके सेवकों का ही संघ था। परन्तु इन सेवकों के अतिरिक्त भारत में ऐसे वहुत-से मनुष्य थे, जो गांधीजी के विचारों का अनुसरण करने का यत्न कर रहे थे। इसलिए जमनालालजी चाहते थे कि ऐसे विचारवाले सभी भाई-वहनों को संगठित कर लिया जाय। उन्हें लग रहा था कि कोई त्यागी अथवा विवेकी पुरुष ही ऐसे संघ के अध्यक्ष-स्थान पर शोभा दे सकता है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के कई नामों पर विचार किया गया। अंत में किशोरलाल भाई का नाम ही पसन्द किया गया।

यह पद स्वीकार करने में किशोरलाल भाई के सामने कई कठिनाइयाँ थीं। एक तो यह कि वे सदा वीमार रहते थे और रोगी मनुष्य के विचारों पर उसके रोग का कुछ तो असर पड़ता ही है। इस विचार से उन्हें संकोच हो रहा था। दूसरी वात यह थी कि वापू के विचार और उनके विचार कहीं-कहीं मिलते भी नहीं थे। इस वात को वापू जानते थे। दूसरे मित्र भी जानते थे। इसलिए उन्हें यह उचित नहीं लग रहा था कि वापू के विचारों को माननेवाली संस्था के वे अध्यक्ष वनें। फिर भी उन्होंने अध्यक्ष-पद क्यों स्वीकार कर लिया, इस वारे में स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा था कि :

"मनुष्य कभी किसी विषय पर जब अपने विचारों को दृढ़ कर लेता है, तब उनकी सिद्धि में से वह अपने को बचा नहीं सकता। यह संस्था किस प्रकार की होनी चाहिए तथा सत्याग्रही समाज का स्वरूप क्या हो सकता है, इस बारे में सन् १९२८ से मेरे विचार व्यवस्थित हो गये थे। गत जुलाई और अगस्त १९३४ में इन विचारों का कुछ विकास हो गया था।"

संघ के सदस्यों से बापू ने अध्यक्ष-पद के लिए नाम सुझाने को कहा। बहुत से नामों की चर्चा हुई। अन्त में अन्य किसी अधिक योग्य नाम के अभाव में किशोरलाल भाई का नाम मंजूर हुआ। इस विषय में वे लिखते हैं :

"रात के आठ-साढ़े-आठ बजे मैं थककर लेटा ही था और आँखें भारी हो रही थीं कि इतने में महादेव भाई आये और कहने लगे कि 'बापूजी ने आपका ही नाम पसन्द किया है और आपको इनकार नहीं करना चाहिए, ऐसा उन्होंने कहलाया है।' उन्होंने यह भी कहा कि 'मत-गणना की तफसील आपको नहीं बताऊँगा। परन्तु इतना ही कहना चाहता हूँ कि आपका नाम बहुत से लोगों ने सुझाया है।' मुझे जो भय था, वह उनके सामने रखते हुए मैंने कहा कि 'यदि कोई दूसरा उपाय ही न हो, तो मैंने अपने मन को इसके लिए तैयार कर लिया है।' महादेव भाई चले गये। इसके बाद जमनालालजी आये। उन्हें मैंने अपना उत्तर सुना दिया। मैंने देखा कि उसे सुनकर उन्हें सन्तोष हुआ। अर्थात् दूसरे नम्बर का आदमी मिलने पर जितना सन्तोष हो सकता है, उतना ही हुआ होगा।

"बापू से जब मिला, तब मैंने उनके सामने अपनी कमजोरियाँ रख दीं। पहले भी कह दिया था कि मेरे निराग्रहों के पीछे मेरे आग्रह भी हैं।"

दूसरे दिन अर्थात् ता० २९-११-१९३४ के दिन बापू ने सभा में किशोरलाल भाई का नाम अध्यक्ष के रूप में घोषित कर दिया। सबने इसका स्वागत किया। स्वयं बापू ने किशोरलाल भाई को सूत की माला पहनाते हुए उन्हें यह जिम्मेदारी सौंपी। किशोरलाल भाई ने अध्यक्ष के रूप में काम करना भी शुरू कर दिया।

इसके बाद गांधी-सेवा-संघ का विधान सोचने और बनाने में दस दिन लग गये।

इसके कुछ दिन बाद गांधी-सेवा-संघ का पहला अधिवेशन वर्धा में ही हुआ।

इसमें केवल संघ के सेवक ही बुलाये गये थे। परन्तु इसके बाद तो दूसरे लोग भी संघ के सदस्य बना लिये गये और संघ का वार्षिक अधिवेशन ऐसे स्थान पर करने का निश्चय किया गया, जहाँ रचनात्मक कार्य अच्छा चल रहा हो। इस निश्चय के अनुसार संघ का दूसरा अधिवेशन महाराष्ट्र चरखा-संघ के मुख्य केन्द्र सावली में सन् १९३६ के फरवरी-मार्च में हुआ। इसमें संघ के सेवकों के अतिरिक्त बहुत से नये सदस्य भी आये थे। अर्थात् इस प्रकार का तो यह पहला ही अधिवेशन था।

अपने अध्यक्षीय भाषण में किशोरलाल भाई ने विस्तारपूर्वक बताया कि रचनात्मक काम करनेवाले ग्राम-सेवकों को कैसी-कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस भाषण में उन्होंने यह भी बताया कि इनका निवारण उन्हें किस प्रकार करना चाहिए। अधिवेशन लगभग सात दिन चला। इसमें कार्यकर्ताओं ने भी अपनी कठिनाइयाँ और शंकाएँ पेश कीं। 'संघ के कार्यक्रम का आधार जीवन की एक निश्चित निष्ठा होनी चाहिए' इस विषय पर बोलते हुए किशोरलाल भाई ने कहा : "सच तो यह है कि अपने देश में पुराने किले की जगह हमें अब नया बनाना है। परन्तु हम जिस पुराने किले में रहते हैं, उसीको नया रूप देना होगा। पुराने किले को पूरी तरह से धराशायी करके हम नया किला नहीं बना सकते। इसलिए सबसे पहली प्रेरणा हमें यह होती है कि जहाँ-तहाँ थोड़ी मरम्मत करके हम काम चला लें। परन्तु अनुभव कहता है कि बहुत अधिक मरम्मत की जरूरत है। कुछ भाग तो पूरे तौर पर गिरा देना होगा। इसलिए हम दूसरा रचनात्मक कार्य बना रहे हैं। परन्तु इसे हम पूरा करते हैं, तब तक तो हमारा ध्यान इससे भी बड़ा और अधिक गहरी खराबी की ओर जाता है। इसलिए हम तीसरा कार्यक्रम बनाते हैं। हमारा प्रगति का मार्ग इस तरह का है। मुझे लगता है कि इस तरह करते-करते हमें मानव-जाति की ठेठ जड़ तक जाना होगा। मानव-जीवन की असली जड़ उसकी आध्यात्मिक अथवा धार्मिक दृष्टि में है। इस धर्म-दृष्टि में जब तक सुधार नहीं होगा—अर्थात् इसकी जड़ में जब तक सुधार नहीं होगा—तब तक समाज की नवरचना अथवा नया संगठन नहीं हो सकता। हमारी—विशेष रूप से हिन्दू-समाज की—आध्यात्मिक दृष्टि शुरू से ही रोगी बन गयी है। हमारे धर्म, अर्थ, काम और

मोक्ष सम्बन्धी व्यवहार भले ही श्रद्धापूर्वक चल रहे हों, परन्तु उनके मूल में जो दृष्टि है, वह रोगी है। इसलिए हमारे कार्य टेढ़े-मेढ़े और भ्रान्त हो रहे हैं। जिस प्रकार हमने निश्चय किया है कि अस्पृश्यता-निवारण, साम्प्रदायिक एकता, स्त्री-जाति का उत्कर्ष, खादी, ग्रामोद्योग आदि में स्वराज्य है; इसी प्रकार हमें किसी दिन यह भी निश्चय करना पड़ेगा कि अस्पृश्यता, साम्प्रदायिक विरोध, स्त्रियों की दुर्दशा, औद्योगिक विनाश आदि की जड़ में हमारी गलत धर्म-दृष्टि है। उसे हमें ठेठ जड़ से सुधारना होगा अर्थात् धर्म का संशोधन करना होगा। इसके लिए हमें तपश्चर्या करनी होगी और इसके द्वारा आध्यात्मिकता तथा धर्म की नयी दृष्टि प्राप्त करनी होगी। फिर इस नवीन दृष्टि को लेकर आज के हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी धर्मों को शुद्ध करना होगा अथवा उनके स्थान पर किसी नये धर्म का निर्माण करना होगा। हमारा रचनात्मक कार्य अभी यहाँ तक नहीं पहुँचा है। अभी हमने जनता के धार्मिक विचार, उसकी भली या बुरी श्रद्धा, अश्रद्धा, अथवा अंधश्रद्धा की जड़ों को स्पर्श ही नहीं किया है।........
एक पौधा जिस भूमि पर उगता है, उसके गुण-दोषों को वह नहीं जानता। परन्तु फिर भी उसके विकास पर उस जमीन के गुण-दोषों का असर पड़े बिना नहीं रहता। यह उसकी शाखाओं, पत्तियों, फूलों और फलों पर दीखता ही है। यही बात मनुष्यरूपी पौधे की है। उसके जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति उसकी जमीन के गुण-दोषों का परिचय हमें देती है। इस भूमि से उखाड़कर उसे दूसरी जमीन में लगा दीजिये, तो वह एक नया ही आदमी बन जायगा। रोमन कैथोलिक चर्च की जो आध्यात्मिक दृष्टि थी, उसीके आधार पर यूरोप के समाज का स्वरूप बना। मार्टिन लूथर ने इस दृष्टि में जो परिवर्तन किया, उसके परिणामस्वरूप प्रोटेस्टण्ट देशों के समाज के अंग-प्रत्यङ्ग में नवरचना हुई। इसलाम को नयी आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त हुई, तब जहाँ-जहाँ भी इसलाम का प्रचार था, वहाँ-वहाँ शुरू की समाज-रचना से भिन्न प्रकार की समाज-रचना हो गयी। हमारे देश की आध्यात्मिक दृष्टि में भी अनेक परिवर्तन हुए हैं। इस कारण समाज का स्वरूप आमूलाग्र बदल गया है। यह हम इतिहास पर से देख सकते हैं। बौद्ध दृष्टि के परिणामस्वरूप वैदिक समाज का स्वरूप पूर्णतः बदल गया। भागवत संप्रदायों की आध्यात्मिक दृष्टि ने मीमांसावादी तथा स्मार्त समाज-

रचना में फेरफार कर डाले हैं। पंजाव को नयी दृष्टि प्राप्त हुई, तो वहाँ सिख-समाज की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार हमारे भारतीय समाज का नवीन जन्म हमारी आध्यात्मिक दृष्टि का संशोधन करने पर ही हो सकता है। जब तक हमें रचनात्मक काम की यह दृष्टि प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक रचनात्मक तथा राजनैतिक कार्यक्रम की शाखाओं को ही हमें सँभालना पड़ेगा।"

संघ का तीसरा अधिवेशन सन् १९३५ की १६वीं अप्रैल से २० अप्रैल तक वेलगाँव जिले के हुदली नामक ग्राम में हुआ। उस समय धारा-सभा के चुनाव हो चुके थे। उनमें कांग्रेस ने पूरा-पूरा भाग लिया था और वहुत से प्रान्तों में कांग्रेस को वहुमत प्राप्त हुआ था। कांग्रेस को मन्त्रिमण्डल वनाना चाहिए या नहीं, इस विपय पर उन दिनों चर्चाएँ चल रही थीं।

इस वातावरण में यह सम्मेलन हो रहा था। गांधी-सेवा-संघ के सामने तो यह प्रश्न था कि उसके सेवक तथा सहयोगी सदस्य धारा-सभा के सदस्य हो सकते हैं या नहीं? किशोरलाल भाई ने अध्यक्ष की हैसियत से भाषण करते हुए अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये थे :

"यदि हम अपने ध्येय को स्पष्ट रूप से समझ लें, तो उस विपय में शंका अथवा वुद्धिभेद के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। जिनकी मनोवृत्ति धारा-सभाओं के काम के अनुकूल हो, वे भले ही उनमें जायँ। वे भी राष्ट्र के सिपाही हैं। उनकी सेवा से हम खुश हैं। उनकी कद्र भी करते हैं और उन्हें यदि मदद की जरूरत हो, तो वह भी हमें देनी चाहिए। परन्तु संघ का कार्यक्षेत्र भिन्न है। अथवा यों कहिये कि सेवा-कार्य में कुछ श्रम-विभाजन की आवश्यकता है। संघ ने अपने कार्यक्रम में धारासभा जैसी संस्थाओं को शामिल नहीं किया। पिछले सम्मेलन में वापू ने कहा था कि 'पार्लमेंटरी वोर्ड की वात लीजिये। उसे मैंने ही खड़ा किया है। परन्तु उसमें मैं थोड़े ही जानेवाला हूँ। आज तो धारासभाओं में जाने की मेरे मन में कल्पना भी नहीं आ रही है। फिर भी यह कोई सिद्धान्त की वात नहीं है। जिस समय जो जरूरी हो, वह हमें करना चाहिए। परन्तु इस कारण यदि आप लोग वहाँ जाना चाहें, तो मैं नहीं जाने दूंगा। आज तो भूलाभाई को वहाँ भेजूंगा। इस काम में उनका विश्वास है और इसे करने की उनमें शक्ति भी है। सत्यमूर्ति का यहाँ पर मैं क्या उपयोग कर सकता हूँ?

यदि मुझे संगीत द्वारा स्वराज्य प्राप्त करना होगा, तो मैं खरे शास्त्री और वालकोवा को वहाँ भेजूंगा। यदि रचनात्मक कार्य में आपकी दृढ़ श्रद्धा हो, जैसी मेरी गो-सेवा में है, तो आपको यही काम करना चाहिए। मुझे तो सपने भी गाय के ही आते हैं। अपने-अपने काम में और अपने-अपने स्थान पर हम सबको व्यानावस्थित हो जाना चाहिए। इसीको आप स्वधर्म समझें। परधर्म उत्तम लगे, तो भी याद रखें कि वह भयावह है।"

इसके वाद उन्होंने कहा :

"गांधी-सेवा-संघ की कार्यवाहक समिति ने ता० २८ अगस्त १९३६ को पूरी चर्चा के वाद गांधीजी की उपस्थिति में यह निर्णय किया था कि संघ के सेवक तथा सहयोगी सदस्य धारा-सभा के चुनावों में उम्मीदवारी के लिए खड़े नहीं हो सकते। हाँ, सहायक सदस्य यदि उम्मीदवार वनना चाहें, तो उनके लिए कोई रुकावट नहीं।"

उन्होंने आगे कहा :

"परन्तु इस निर्णय की जड़ में जो विचार था, वह कितने ही सदस्यों की समझ में ठीक से नहीं आया और मुझसे अनेक वार प्रश्न पूछे गये हैं। इस प्रकार की शंका के लिए कुछ कारण भी है। धारा-सभा के चुनावों के कार्यक्रम को सफल वनाने के लिए जिन लोगों ने जी-तोड़ मेहनत की है और जो केन्द्रीय तथा प्रान्तीय वोर्डों के सूत्रधार हैं, उनमें से छह तो हमारी कार्यसमिति के ही सदस्य हैं। अन्य भी अनेक प्रौढ़ सदस्यों ने यह काम किया है। जिस कार्यक्रम को सफल करने के लिए सरदार वल्लभभाई, राजेन्द्र वावू, प्रफुल्ल वावू, गंगाधररावजी, जमनालालजी, शंकरराव देव आदि ने अपने स्वास्थ्य तथा प्राणों को भी खतरे में डालकर परिश्रम किया है और अनेक स्त्री-पुरुषों को खड़े रहने, मत देने के और चन्दा देने के लिए प्रेरणा दी है; उस काम के लिए यदि हमारे सेवक अथवा सहयोगी सदस्य खड़े रहें, तो उन्हें संघ की सदस्यता से त्यागपत्र दे देना चाहिए, यह वात वहुत से लोगों की समझ में नहीं आती। इसलिए इस विषय में अधिक स्पष्टता कर देना अच्छा होगा।

"........मेरी तो राय यह है कि प्रत्येक तहसील में ऐसे वहुत से कांग्रेसनिष्ठ स्त्री-पुरुष अवश्य होंगे, जिन्हें धारासभाओं तथा म्युनिसिपैलिटियों के कामों

के लिए बड़ी खुशी के साथ भेजा जा सकता है। अपने निर्वाह के लिए भिन्न-भिन्न काम करते हुए भी बिना किसी प्रकार से स्वार्थ की इच्छा रखते हुए उत्साह तथा निष्ठापूर्वक सेवा करनेवाले कांग्रेस-भक्तों की अटूट परम्परा कायम रहनी चाहिए। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न ही नहीं होनी चाहिए कि जिससे इन स्थानों के लिए ऐसे आजन्म सेवकों को पसन्द करना पड़े, जिन्होंने अपना धन्धा तथा परिग्रह और धारा-सभा आदि के पदाधिकारों से प्राप्त होनेवाली प्रतिष्ठा की लालसा को छोड़कर जनता के प्रत्यक्ष संपर्क में आकर सेवा करने की दीक्षा ली है। यदि ऐसा करना पड़ता है, तो इसमें कुछ अंशों में हमारा कच्चापन है, ऐसा ही मुझे दिखाई देता है।"

संघ की बैठक में इस प्रश्न पर विभिन्न सदस्यों ने अपनी-अपनी राय प्रकट की। राजेन्द्र बाबू ने कहा :

"हमारे कहने से जो धारासभाओं में गये, उनसे हमने त्यागपत्र लिये, परन्तु उन्हें भेजनेवाले और यह काम करनेवाले हम अपने-अपने स्थानों पर चिपके बैठे हैं। यदि यह स्थिति अच्छी हो, तो भेजनेवालों के समान जानेवालों को भी (सदस्य बने रहने की) इजाजत दे दी जानी चाहिए और यदि जानेवालों को मना किया जाता है, तो मदद करनेवालों को भी मना किया जाना चाहिए। जमनालालजी ने कार्यवाहक समिति में कहा था कि धारा-सभा में जानेवाले सत्य और अहिंसा का पालन नहीं कर सकते। मैं भी मानता हूँ कि उसमें यह भय अवश्य है। परन्तु ऐसे मोह में फँसानेवाले भय को हमें छोड़ देना चाहिए। इस मोह को हमें जीतना चाहिए। मेरी राय तो यह है कि हमारे सदस्यों को धारा-सभा में जाने की इजाजत हमें देनी चाहिए।"

सरदार वल्लभभाई ने कहा :

"तीन करोड़ जनता को अपना मत देने का अधिकार मिला है। इन लोगों को ऐसे ही छोड़ देना ठीक नहीं। ऐसा करने में हानि है। धारा-सभाओं का कार्यक्रम भी देश का ही काम है। इसलिए गांधी-सेवा-संघ के जो सदस्य उनमें जाना चाहें, उन्हें जाने देना चाहिए। जिन्हें उनका अपना प्रान्त भी वहाँ भेजना चाहता हो, उन्हें इजाजत देने में कोई हानि नहीं है।"

जमनालालजी ने कहा :

"मेरी राय यह है कि गांधी-सेवा-संघ ऐसी संस्था हो कि जो देश के सामने एक खास कार्यक्रम रखे और उसे पूरा करने की प्रतिज्ञा ले। उसमें कोई फेरफार करना पड़े, तो वह हमारे सिद्धान्तों के अनुकूल हो। हम गांधी-सेवा-संघ में एक प्रतिज्ञा लें, कांग्रेस में दूसरी प्रतिज्ञा लें और धारा-सभाओं में जाकर तीसरी प्रतिज्ञा लें। इसमें मेरे जैसे सीधे-सादे आदमी का मेल नहीं बैठ सकता। संघ में सत्य और अहिंसा की प्रतिज्ञा लें, कांग्रेस से कहें कि आपका कार्यक्रम पूरा करने की हम प्रतिज्ञा लेते हैं और धारासभाओं में जाकर राजनिष्ठ रहने की प्रतिज्ञा लें, यह सब यदि सत्य और अहिंसा के अन्दर आ सकता है, तो दुनियाभर की सब चीजें उसमें आ सकती हैं।"

इसके बाद बहुत से सदस्यों ने इसमें अपने-अपने विचार प्रकट किये। इन सबको सुनकर किशोरलाल भाई ने जो भाषण किया, उसका महत्त्वपूर्ण अंश इस प्रकार है :

"धारासभा के विषय में मेरे मन में से एक शंका निकल ही नहीं रही है। और वह यह है कि धारासभा के प्रति किस प्रकार की वृत्ति अथवा भक्ति हमारे दिलों में है ? मैं जब सत्य और अहिंसा का विचार करता हूँ, तब मुझे यह जरूरी मालूम होता है कि हम जिस संस्था में प्रवेश करें, उसके प्रति हमारे मन में अभिमान होना चाहिए। हम उसके गौरव को बढ़ायें। यदि उसके अन्दर बुराइयाँ हों, तो हममें इतना आत्मविश्वास हो कि इन बुराइयों को दूर करके हम इस संस्था को उज्ज्वल बनायेंगे। उस संस्था का नाश करने की इच्छा से अथवा उस पर शाप बरसाते हुए उसके भीतर हमें प्रवेश नहीं करना चाहिए।........हमें तो यह कहना चाहिए कि धारासभा को सफल करते हुए हम उसके विधान में सुधार करवा सकेंगे और ज्यों-ज्यों इसका विधान सुधरता जायगा, त्यों-त्यों स्वराज्य का विधान बनता जायगा। हमारी जबान से इस तरह की रागद्वेषात्मक भाषा नहीं निकलनी चाहिए कि हमें १९३५ का सुधार-कानून तोड़कर उसे निकम्मा बना देना है, हम जिचें पैदा कर देंगे। देखिये, यह विधान टूट गया। हमने मन्त्रिमंडल बनाने से इनकार कर दिया, यह हमारी एक महान् विजय है—आदि। हम तो केवल इतना कह सकते हैं कि यदि सरकार हमें काम करने का

पूरा-पूरा अवसर दे और राष्ट्र-निर्माण के काम में अड़ंगे न डालने का वचन दे, तो धारासभाओं के द्वारा हम जनता की सब प्रकार से सेवा कर सकेंगे, ऐसी हमें आशा है। राजनिष्ठा की प्रतिज्ञा के बारे में जमनालालजी ने जो आशंका प्रकट की है, वह ध्यान देने लायक है। यदि हम धारासभाओं को स्वीकार करते हैं, तब तो प्रतिज्ञा लेने में सत्य का कहीं भंग नहीं होता, परन्तु एक ओर तो हम यह घोषणा करें कि हम उन्हें मंजूर नहीं कर रहे हैं और दूसरी ओर प्रतिज्ञा भी ले लें, इसमें तो मुझे अवश्य ही दोष दिखाई देता है। इस समय मैं कांग्रेस के किसी भी क्षेत्र में कोई काम नहीं कर रहा हूँ। इसलिए मेरे विचारों का शायद कोई मूल्य न भी हो। परन्तु मेरे कुछ विचार तो निश्चित हैं ही। वर्तमान धारासभाओं में मेरा विश्वास भी नहीं है। मैं नहीं मानता कि राजाजी जैसे प्रधान मन्त्री भी इन धारासभाओंके द्वारा जनता की कोई बड़ी सेवा कर सकेंगे। जिस प्रकार की लोकशक्ति का निर्माण करने के सपने मैं देख रहा हूँ, वह इन धारासभाओंके द्वारा निर्माण हो सकेगी; इसका मुझे जरा भी विश्वास नहीं है।"

इसके बाद इन सब शंकाओं का समाधान करते हुए बापू ने अपने भाषण में कहा :

"जमनालालजी कहते हैं कि यदि हम धारासभाओं में जायँगे, तो सत्य और अहिंसा का पालन नहीं कर सकेंगे। उन्होंने यह एक बहुत बड़ी बात कह दी। परन्तु मैं ऐसा नहीं मानता। यदि हम सत्य और अहिंसा का पालन नहीं कर सकते, तो लोक-शासन भी नहीं चला सकते। क्योंकि ऐसी स्थिति में तो वह भी सत्य और अहिंसा के विरुद्ध होगा। परन्तु यदि लोकतंत्र में हमारा विश्वास है, तो हमें उसके द्वारा करोड़ों लोगों का सच्चा हित करना होगा। इस हित के बारे में विचार करने के लिए हम सब एक जगह एकत्र नहीं हो सकेंगे। इसके लिए थोड़े-से प्रतिनिधियों को चुनकर भेजना होगा। यदि वे जनता के सच्चे सेवक होंगे और सच्चे लोकतंत्री भी होंगे, तो वे शुद्ध हृदय से जनता की माँग समझाने की कोशिश करेंगे और उसे प्रकट भी करेंगे।·········संघ के सदस्य सत्य के पुजारी हैं। जिन्हें गांधी-सेवा-संघ आज्ञा देगा, वे वहाँ जायँगे। यह प्रश्न किसी व्यक्ति का नहीं है। इस दृष्टि से इसके भीतर स्वार्थ या प्रलोभन की बात नहीं आती। जो स्वार्थ या प्रलोभन के वशीभूत होकर वहाँ जाने की

इच्छा करेगा, वह तो गांधी-सेवा-संघ का तथा सत्य का भी द्रोही साबित होगा। जिसे चौबीसों घण्टे चरखे का ही ध्यान करना है, वह तो धारासभा में बैठकर भी कर सकेगा। हम तो दरिद्रनारायण के सेवक हैं। सेवक बनकर ही वहाँ जाना है और कांग्रेस बुलाये, तभी जाना है। यदि अपनी शर्तों पर हम मन्त्रिमण्डल बना सकते हैं, तो फिर मान ही लीजिये कि हमें स्वराज्य का रास्ता मिल गया। और यदि ऐसे लोग वहाँ पहुँच गये, तो ग्यारह प्रान्तों में से एक में भी हमारी हार नहीं होगी। यदि कांग्रेस हमें नहीं बुलाती है, तो हम यहाँ बैठे ही हैं। इसमें श्रेष्ठ-कनिष्ठ का प्रश्न ही नहीं है। हमारे लिए तो रचनात्मक कार्यक्रम और यह कार्यक्रम दोनों समान हैं।"

इसके बाद राजनिष्ठा का प्रश्न हाथ में लिया गया। श्री के० टी० शाह की पुस्तक में से बापू ने प्रतिज्ञा पढ़कर सुनायी।

राजेन्द्रबाबू : विधान में परिवर्तन करना तो इसमें सोलहो आने आ जाता है।

बापू : मैंने इंग्लैंड के संविधान का थोड़ा-बहुत अध्ययन किया है। इन लोगों की राजनिष्ठा की प्रतिज्ञा में तो राजा को पदच्युत करने की बात भी आ जाती है। तब क्या हम पूर्ण स्वराज्य की बात मन में रखकर यह प्रतिज्ञा नहीं ले सकते ?

किशोरलाल भाई : यदि हम राजा को नहीं चाहते और उसके लिए हमारे दिलों में किसी भी प्रकार का प्रेमभाव न हो, तो हम किस प्रकार यह प्रतिज्ञा ले सकते हैं ?

सरदार : हम अपना कार्यक्रम लेकर वहाँ जाते हैं। सरकार के दिल में हमारे उद्देश्य के बारे में किसी भी प्रकार की गलतफहमी नहीं है।

जमनालालजी : यदि दूसरों की प्रतिज्ञाओं का अपने मन के अनुकूल अर्थ हम करने लगेंगे, तो दूसरे भी हमारी प्रतिज्ञाओं का मनमाना अर्थ लगाकर हमारी संस्थाओं में घुस आयेंगे।

बापू : मेरी राय तो यह है कि इन्हींके किसी विधान-शास्त्री (कॉन्स्टिट्यूशनल लॉयर) की—जैसे कीथ की—राय हमें लेनी चाहिए। आठवें एडवर्ड ने यदि स्वयं राज्य का त्याग न कर दिया होता, तो पार्लियामेंट उसे राजा के पद से हटा

देती और यह राजनिष्ठा की प्रतिज्ञा के विरुद्ध नहीं होता। इनकी प्रतिज्ञा में तो यह सब आ जाता है। उपनिवेशों की बात लीजिये, वे इंग्लैंड के साथ अपने सम्बन्ध तोड़ सकते हैं। तात्पर्य यह कि हमें विधान-शास्त्रियों से पूछ लेना चाहिए कि जिनका उद्देश्य पूर्ण स्वाधीनता है, ऐसे लोग यह प्रतिज्ञा ले सकते हैं या नहीं? मैं इस प्रश्न को नैतिक नहीं मानता। हम किसी विधान-शास्त्री से नैतिक व्यवस्था नहीं माँगते। यदि कानून के अनुसार हम प्रतिज्ञा ले सकते हैं, तो नैतिक दृष्टि से भी वह ली जा सकती है।

राजेन्द्रबाबू : क्या हम कानूनी और नैतिक इस तरह के भेद कर सकते हैं?

बापू : यहाँ तो नैतिक प्रश्न कानूनी भूमिका में से ही उत्पन्न होता है।

किशोरलाल भाई : क्या 'प्रतिज्ञा लेना'—शब्द ही नैतिक भूमिका सूचित नहीं करते?

बापू : इसमें 'प्रतिज्ञा लेना' ये शब्द हैं तो अवश्य। परन्तु ब्रिटिश-संविधान एक विचित्र वस्तु है। इसमें परिपाटियाँ (कन्वेन्शन्स) भी आ जाती हैं। इसके अलावा कानूनी संकेत (लीगल फिक्शन) भी हैं। इनकी परम्पराओं में राजा को गोली मार देना भी प्रतिज्ञा से सुसंगत है। परन्तु मेरे पास एक श्रेष्ठ कानून—नीतिधर्म का पड़ा है। इसके अनुसार किसीको गोली मारना उचित नहीं है। इसलिए यदि यह बात भी इस प्रतिज्ञा में आ जाती है, तो जिस दुश्मन ने यह प्रतिज्ञा बनायी है, मैं तो उसकी बहादुरी की कद्र करूँगा। यह कहूँगा कि दुश्मन तो है, परन्तु दाता है। यदि राजेन्द्रबाबू यह निर्णय देते हैं कि इसमें कानून की कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, तो मैं जोर देकर कहूँगा कि फिर तो इसमें नैतिक दृष्टि से भी कोई बाधा नहीं।

राजेन्द्रबाबू : मुझे तो नैतिक अड़चन ही परेशान कर रही है। कानूनी बाधा तो कुछ भी नहीं।

किशोरलाल भाई : परन्तु मेरा मन तो कहता है कि मेरे मन में तो तिल-भर भी राजनिष्ठा नहीं है (Owe no allegience)। तब मैं ऐसी प्रतिज्ञा क्यों लूँ?

बापू : क्या हर्ज है? वकीलों को तो ऐसी प्रतिज्ञा लेनी ही पड़ती है। मैं तो द्रोही (डिसलॉयल) होकर भी वकालत करता हूँ। धारासभा में जाकर

तो हम कोई गैर कानूनी काम कर नहीं सकते। और यों तो राजनिष्ठा भी केवल एक कानूनी संज्ञा है, नैतिक नहीं। खुद यही लोग इसे कानूनी कहते हैं, तो हम क्यों इसे नैतिक मानें? मेरे दिल में तो कोई शंका नहीं है। हम जरूर प्रतिज्ञा ले सकते हैं।

इसके बाद धारासभा-प्रवेशवाले प्रश्न पर मत लिये गये। जमनालालजी और किशोरलाल भाई विरुद्ध रहे। अन्य सबने प्रस्ताव के पक्ष में अपने मत दिये। अंत में किशोरलाल भाई ने कहा :

"प्रस्ताव तो मंजूर हो गया। परन्तु इससे संघ के इतिहास में एक नया प्रकरण शुरू हो रहा है। ऐसा करने का आपको संपूर्ण अधिकार है। परन्तु इस नयी नीति को कार्यान्वित करने के लिए आपको ऐसे मनुष्य की योजना करनी चाहिए, जो इस नीति को मानता हो और उसे पूरा करने का जिसमें उत्साह हो। मुझे लगता है कि इस काम के लिए मैं असमर्थ हूँ। इसलिए आपको दूसरा अध्यक्ष ढूंढ़ लेना चाहिए।"

अंतिम दिन अपने भाषण में बापूजी ने किशोरलाल भाई के अध्यक्ष-पद छोड़ने के बारे में उनके साथ की चर्चा सुना दी। किशोरलाल भाई की कठिनाइयाँ ये थीं :

(१) धारासभाओं में जाकर हम सत्य और अहिंसा को छोड़ देंगे। धारासभा का कार्यक्रम ऐसा है कि उसमें बहुत जोश आ जाता है। हम मान लेते हैं कि उससे स्वराज्य जल्दी मिल जायगा। इस कारण हम उसमें साधन का विवेक नहीं रख पाते। मनुष्य की पशुता इसमें जाग्रत हो जाती है।

(२) धारा-सभा का कार्यक्रम बड़ा प्रलोभन-भरा है। आज तक हम इन प्रलोभनों से दूर रहे हैं। आज भी हम उनको शंका की दृष्टि से ही देखते हैं। अन्य कितने ही महत्त्वपूर्ण काम करने को पड़े हैं। ऐसी हालत में हम यह आफत क्यों अपने सिर पर लें?

(३) अब तक हमने जल के प्रवाह को रोक रखा था। अब इस बाँध को हम तोड़ रहे हैं। आज तक हम कौंसिलों, स्कूलों और अदालतों के बहिष्कार की बातें करते रहे और उनके नाश की कामना करते रहे। परन्तु आज हम इनसे एकदम उल्टी बातें करने लगे हैं।

इन सारी शंकाओं का उत्तर बापू ने यों दिया : "सत्य और अहिंसा कोई गुफाओं में बैठकर पालन करने की चीजें नहीं हैं। यदि अपने सारे व्यवहारों में हम इनका पालन नहीं कर सकते और उनका असर नहीं डाल सकते, तो ये किसी काम की नहीं हैं। यदि अपने कार्यक्षेत्र में से किसी भाग को हम केवल इसलिए छोड़ देते हैं कि उसमें अहिंसा काम नहीं दे सकती, तो फिर यह अहिंसा किसी काम की नहीं है। मैं किस क्षेत्र को छोड़ूं ? मेरा शरीर तो काम करता ही रहेगा। इंद्रियाँ भी अपना काम करती ही रहेंगी। मैं आत्महत्या तो करना नहीं चाहता। अपनी नाक और कान मैं बंद नहीं कर सकता। तब मुझे क्या करना चाहिए ? यही एक रास्ता रह जाता है कि अपनी सारी इन्द्रियों को मैं अहिंसा की दासी बना दूं।

"दूसरा उपाय किशोरलाल ने आजमा लिया है। बात बहुत पुरानी है। साधना के लिए उन्होंने एकान्तवास किया था। रेलगाड़ी की सीटी की आवाज से इनकी शान्ति भंग होती थी। एक दिन जब मैं हमेशा की भाँति इनसे मिलने गया, तब मुझसे कहने लगे कि 'इस सीटी से मुझे बड़ी तकलीफ होती है। कानों में रूई या रबर रखने की सोच रहा हूँ।' मैंने कहा 'इस उपाय को भी आजमाकर देख लो। परन्तु यह तो बाह्य वस्तु है। ईश्वर में ध्यान नहीं लगता, इसी कारण तो सीटी की आवाज सुनाई देती है।' किशोरलाल स्वयं भी इस बात को समझ गये। दूसरे दिन मैं इन्हें कानों में रखने के लिए रूई और रबर देने लगा। तब उन्होंने कहा कि 'अब इसकी कोई जरूरत नहीं मालूम होती। हमारे कान हैं। परन्तु वे व्यभिचार के लिए नहीं हैं।' यही बात दूसरी इन्द्रियों पर भी लागू होती है। हमारी सारी इन्द्रियाँ शरीर को सुरक्षित रखने के लिए हैं।

"धारासभा के कार्य को स्वीकार करके हम अहिंसा से कतई दूर नहीं जाते। आपके द्वारा यह काम करवाकर मैं आपको अहिंसा की दिशा में दो कदम आगे ही बढ़ा रहा हूँ। मेरी इस बात को जरा समझ लें। इसके अनुसार चलेंगे, तो इस एक वर्ष के अन्दर हम इतने आगे बढ़ जायँगे, जितने आज तक नहीं बढ़े थे। मुझे ऐसा लगता है कि प्रसंग आने पर आप अपने दरवाजे बन्द करके बैठे नहीं रह सकते। हमें यह सिद्ध करके दिखा देना है कि संपूर्ण राष्ट्र के रूप में अहिंसा की दिशा में हम आगे बढ़ रहे हैं या नहीं ? तीन करोड़ मतदाताओं को भुलाकर

यदि आप एक कोने में बैठ जायेंगे, तो यह कायरपन होगा। यदि हम मिथ्याचारी नहीं हैं, तो धारा-सभा में भी हम सत्य और अहिंसा का बल लेकर जायँ। यदि हम मिथ्याचारी भी साबित हुए, तो मुझे कोई क्षोभ नहीं होगा। हमारे मिथ्याचार की कलई खुल जायेगी, तो उससे हमारा हित ही होगा। सत्य और अहिंसा संघ की आत्मा हैं। यदि ये इसमें से चले जायँ, तो किशोरलाल का कर्तव्य यह होगा कि वह इसका अग्निसंस्कार कर दे। यदि यह आत्मा उसमें रहेगी, तो संघ में तेज आयेगा। यदि आज भी उसके अन्दर यह आत्मा नहीं है, तो हम मिथ्याचारी हैं और संघ को चालू रखना व्यर्थ है।"

बापू की इस बात से किशोरलाल भाई के मन को समाधान नहीं हुआ। तब बापू ने नाथजी को बुलाया और उनके साथ बातचीत की। बापू ने देखा कि नाथजी की वृत्ति उनकी तरफ है। परन्तु नाथजी ने कहा कि इस समय मैं कुछ नहीं कह सकता। किशोरलाल भाई को क्या करना चाहिए; इस विषय में आप ही उन्हें आज्ञा दीजिये। यों तो बापू छोटे बच्चों को भी आज्ञा नहीं देते थे। परन्तु उन्हें लगा कि किशोरलाल भाई इस मौके पर अध्यक्ष-पद छोड़ देंगे, तो अधर्म होगा। इसलिए उन्होंने किशोरलाल भाई को आज्ञा दी और कहा कि संघ के सदस्य यदि इस मार्ग पर कदम रखेंगे, तो प्रलोभन में पड़ जायँगे। इस भय से आप संघ का त्याग कर दें, यह आपके लिए धर्म नहीं है। यदि आपको यह लगे कि संघ के सदस्य अपने सिद्धान्त पर दृढ़ नहीं रह सकते, तो आपका कर्तव्य तो यह है कि आप संघ को तोड़ दें और उसे अच्छी तरह दफना दें। आप साफ-साफ कह दें कि ऐसे संघ को मैं नहीं चला सकता। यही नहीं, बल्कि ऐसा प्रबन्ध कर देना चाहिए कि दूसरा भी कोई इसे न चला सके। किशोरलाल भाई ने बापू की आज्ञा को शिरोधार्य किया और अध्यक्ष-पद पर बने रहे।

परन्तु इस सारी परिस्थिति का और अपने स्वभाव का उन्होंने जो पृथक्करण किया है, वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण और पढ़ने लायक है:

"कल मैंने अपनी स्थिति आपके समक्ष प्रस्तुत की थी। यह भी बताया था कि मैंने लिखित त्यागपत्र नहीं दिया, इसका कारण क्या है। पूज्य बापू ने मुझे लाचार बना दिया है। मैंने उनके निर्णय को लाचार होकर मान लिया है। परन्तु बापू ने जिस प्रकार इस बात को पेश किया है, उस तरह मैं इसे नहीं

मानता। मैं यह नहीं मानता कि मेरे मन में धर्माधर्म के विषय में कोई शंका थी। मेरी पत्नी ने कहा कि मैं खिन्न था। यह उनकी भूल है। मैं थका हुआ अवश्य था, परन्तु खिन्न नहीं था। हाँ, आज खिन्न हूँ। उन दिनों में तो वेचैन भी नहीं था, प्रसन्न था। वापू की यह आज्ञा स्वीकार करते हुए मुझे दुःख होता है, खेद नहीं होता। मैं स्वीकार करता हूँ कि इस नयी परिस्थिति में मैं ठीक नहीं वैठता। वापू ने कई वार कहा है और वह सच है कि मेरी विचारसरणी उनका अनुसरण नहीं करती, वल्कि समानान्तर चलती है। मैं वहुत छोटा, परन्तु सत्य का स्वतंत्र उपासक रहा हूँ। इसमें मुझे वापू से तथा दूसरों से भी मार्ग-दर्शन मिला है। वापू ने कहा है कि वे जन्म से ही सत्य के उपासक रहे हैं, अहिंसक नहीं। मेरी वात इससे उल्टी है। मैं जन्मतः अहिंसा का उपासक रहा और सत्य का पुजारी वाद में वना। वापू को सत्य की खोज में अहिंसा मिली। परन्तु मुझे अहिंसा में से सत्य की झाँकी हुई। इसलिए यदि मुझे यह दृढ़ श्रद्धा हो कि अमुक वात सत्य है, तो भी उसका अमल करने में जहाँ तक संभव हो, मैं अविरोध साधना चाहता हूँ। पूज्य वापू ने प्रसंगोपात्त जिस एकान्तवास का उल्लेख किया, उसमें भी मेरी वृत्ति यही थी। मेरी पत्नी को वहुत दुःख हो रहा था। वह रात के दो-दो वजे तक सोती नहीं थी। उसे भय था कि मैं भागकर कहीं चला न जाऊँ। पुराने जमाने में विरक्त मनुष्य ऐसा ही करते थे। परन्तु मैं भागा नहीं। मैंने सोचा कि यदि मैं सत्य धर्म का आचरण कर रहा हूँ, तो किसी दिन मेरी पत्नी भी अवश्य ही उसे स्वीकार करेगी। मेरी वृत्ति यह थी कि यदि जाने के लिए मैं उसकी अनुमति प्राप्त कर सकूँ, तो मुझे इसके लिए क्यों न यत्न करना चाहिए? पिछले दो दिन से मेरी यही कोशिश रही है कि आपकी अनुमति प्राप्त करके मैं मुक्त हो जाऊँ। मेरी अहिंसा की उपासना के कारण मेरा यह स्वभाव वन गया है। मेरा स्वभाव कुछ ऐसा ही वन गया है कि यदि मुझे पीछे हटना है, तो उसमें भी मैं किसीकी सम्मति लेना चाहता हूँ। सत्य धर्म के पालन की तत्परता की दृष्टि से इसमें सत्य का त्याग हो जाता है, यह भी कहा जा सकता है। फिर भी यह मेरा स्वभाव वन गया है। मैं एक गाँव में जाकर वैठ गया था। वल्लभभाई मुझे वहाँ से जवरदस्ती ले आये और मैं भी आ गया और गुजरात-विद्यापीठ का काम करने लगा।

इसी तरह आज भी मैं अध्यक्ष बना रहूँगा, परन्तु निष्प्राण बनकर ही रहूँगा। जैसा कि मैंने बापू से कहा है, कार्यवाहक-समिति जो चाहेगी और जिस तरह करना चाहेगी, उस तरह मैं अमल करता रहूँगा। वह जब उचित समझे, तब बापू की राय भी ले सकती है। वही यह जिम्मेदारी भी उठायेगी। मैं तो केवल अमल करनेवाला हूँ।"

संघ की बैठक में राजनिष्ठा की प्रतिज्ञा के विषय में गांधीजी ने जो विवेचन किया था, उससे किशोरलाल भाई को सन्तोष नहीं हुआ था। परन्तु एक महीने बाद विचार करते-करते प्रतिज्ञा का रहस्य स्वतः उनकी समझ में आ गया। तब 'धारासभा की शपथ' शीर्षक एक लेख लिखकर उसमें उन्होंने बताया :

"मुझे लगता है कि धारा-सभा में ली जानेवाली शपथ के बारे में गांधीजी की बात लोगों की समझ में ठीक से नहीं आयी है।

"कानूनी शपथ नैतिक अथवा धार्मिक शपथ से भिन्न है। कानूनी शपथ वह है, जिसे मनुष्य ने खुद नहीं बनाया, बल्कि जो धारासभा को अपने अधीन रखकर उसका संचालन करता है, उसने बनाया है। धारासभा ने इस शपथ के अन्दर जिस अर्थ का आरोप करने का निश्चय किया होगा, उतना ही उसका अर्थ माना जाय; उससे अधिक नहीं।

"धारासभा की शपथ का मसविदा जिन्होंने बनाया अथवा इसका प्रमाण-भूत अर्थ जिन्होंने किया, उनके द्वारा नहीं; बल्कि साधारण लोग इसका जो अर्थ करते हैं, वह अर्थ इसका लगाया जाने के कारण इसमें बहुत गड़बड़ी पैदा हुई दिखाई देती है।

"साधारण मनुष्य जो अर्थ करता है, उसके पीछे कोई इतिहास नहीं है, ऐसी बात नहीं। तथापि इस अर्थ को प्रमाण मानकर स्वीकार नहीं किया जा सकता। धारासभा के भीतर वफादारी की जो शपथ ली जाती है, उसका सामान्य मनुष्य शायद ऐसा अर्थ करते हैं कि शपथ लेनेवाला राजा के प्रति व्यक्तिशः इतनी भक्ति प्रकट करता है कि मानो वह राजा के लिए अपनी जान भी देने के लिए तैयार हो जाय। साधारण मनुष्य यह भी मानता है कि यदि मनुष्य एक बार यह शपथ ले लेता है, तो वह अपने समस्त जीवन के लिए उसमें बँध जाता है। मैंने सुना है कि राज्यों के संविधान का जिन्होंने खूब गहराई के साथ अध्ययन

किया है, ऐसे विधान-शास्त्रियों की राय में ये दोनों अर्थ गलत हैं। उनके मत में इस शपथ का अर्थ केवल इतना ही होता है कि जहाँ तक यह शपथ लेनेवाला इस शपथ से अपने आपको वँधा हुआ मानेगा (अर्थात् इस शपथ को वनानेवाली संस्था का वह सदस्य होगा), तव तक वह राजा के विरुद्ध सशस्त्र वगावत नहीं करेगा। अथवा विधान से वाहर अथवा प्रतिकूल किसी भी प्रकार राजा की जान लेने में वह शामिल नहीं होगा। हाँ, विधान के अनुसार और विधान के द्वारा तो उसे यह करने—राजा की जान लेने का भी अधिकार है। विधान में वतायी विधि के अनुसार अधिकारप्राप्त धारासभा को तो इस शपथ में सुधार करने या इसे एकदम हटा देने का अधिकार भी है। वह राजा को केवल सिंहासन से नीचे ही नहीं उतार सकती, वल्कि उसका सिर उड़वा देने की आज्ञा देने का भी अधिकार उसे है। परन्तु यदि धारासभा को यह मंजूर नहीं है, तो इस धारासभा का कोई भी सदस्य इस संस्था का सदस्य रहते हुए राजा के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग नहीं कर सकता।

"गांधी-सेवा-संघ के सदस्य के समान जो भी कोई व्यक्ति सत्य और अहिंसा के पालन के लिए प्रतिज्ञावद्ध है, वह तो किसी भी हालत में राजा के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग नहीं करेगा, ऐसा माना जा सकता है। इसलिए ऊपर के अर्थ में वफादारी की प्रतिज्ञा लेने में उसके सामने किसी भी प्रकार का धर्मसंकट खड़ा नहीं होगा। यदि वह विधान-सम्मत मार्गों द्वारा पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना चाहता है, तो धारासभा का सदस्य रहते हुए भी ऐसा करने में उसके मार्ग में कोई वाधा नहीं होगी। यदि वह किसी दूसरे मार्ग द्वारा स्वराज्य प्राप्त करना चाहता है, तो अपनी जगह का त्यागपत्र देकर वह पूर्ण स्वराज्य के लिए उस मार्ग का भी अवलंवन कर सकता है। इस प्रकार इस विषय के कानूनी और नैतिक पहलुओं के वीच में जो अन्तर माना जाता है, ऐसा कोई अन्तर उनमें नहीं है।" गांधीजी ने इस लेख के नीचे लिखा कि "धारासभा और धार्मिक शपथ के वीच मैंने जो भेद वताया है, उसमें मेरा जो हेतु रहा है, उसके इस विवरण को मैं हृदय से स्वीकार करता हूँ।" राजेन्द्रवावू को शपथ के नैतिक पहलू के वारे में शंका थी। परन्तु इस लेख को पढ़कर उन्होंने भी सूचित किया कि किशोरलाल भाई के इस विवरण से मेरी शंका का निवारण हो गया है।

गांधी-सेवा-संघ का चौथा अधिवेशन सन् १९३८ के मार्च मास के अन्त में उड़ीसा प्रान्त के डेलांग नामक ग्राम में हुआ था। उन दिनों हमारे देश के कितने ही भागों में हिन्दू-मुसलिम दंगे हुए थे। इस कारण सम्मेलन में मुख्य चर्चा का विषय यही बन गया और इस पर काफी चर्चा और विचारों की सफाई हुई।

उपसंहार के रूप में किये गये अपने अंतिम भाषण में अहिंसा की भावरूप वृत्ति कैसी हो, यह समझाते हुए किशोरलाल भाई ने कहा था :

"अहिंसा और क्रोध न करना—केवल इतना ही काफी नहीं होगा। यह तो अभावरूप धर्म हुआ। बापू का समग्र जीवन भावरूप करुणा से भरा हुआ है। दरिद्रनारायण को देखते ही उनकी करुणा उमड़ पड़ती है। आश्रम में जिस प्रकार साथियों के सामने अपने हृदय की वेदना वे प्रकट करते थे, उसी प्रकार हमारे इन सम्मेलनों में भी वे करते हैं। उस समय सारा वायुमण्डल करुणा से भर जाता है। एक बार मैंने अपने गुरु से पूछा कि ईश्वर की उपासना मैं किस सगुण रूप में करूँ? तब उन्होंने कहा—सत्य, प्रेम आदि गुणों से युक्त रूपों को छोड़ दो और उसके करुणागुण-युक्त रूप की पूजा करो। बुद्ध, ईसा, तथा बापू इन सब श्रेष्ठ पुरुषों में मुख्य गुण करुणा ही है। इस करुणा को यदि हम समझ लें, तो सभी प्रश्नों का उत्तर मिल जायगा। हिन्दू मुसलमान दंगों को भी यही न्याय लागू होता है। दंगा करानेवाले बहुत हुआ, तो भी दो-बारे (habitual) कैदियों से अधिक खराब आदमी नहीं होते। असल गुण्डे तो वे हैं, जो इनके पीछे बैठकर डोरी हिलाते रहते हैं। दंगा करनेवाले गुण्डे तो इनके हाथों की कठपुतली मात्र हैं। वे अपनी इच्छा से या दुश्मनी के कारण किसीके साथ मार-पीट नहीं करते। उन्हें तो एक आदत पड़ जाती है और पैसे के लालच में आकर वे ऐसे काम करते रहते हैं। ऐसे मनुष्यों के प्रति भी जब हमारे दिलों में करुणा पैदा होगी, तभी उनके सुधार का उपाय हमें मिलेगा।"

पाँचवाँ अधिवेशन सन् १९३९ के मई महीने में बिहार के चम्पारन जिले के वृन्दावन गाँव में हुआ था। उस समय राजकोट में बापू की अहिंसा कड़ी परीक्षा में से गुजरकर बाहर आयी ही थी। हिन्दू-मुसलमान दंगे भी चल ही रहे थे। इसके अलावा त्रिपुरी-कांग्रेस में उत्पन्न कलुषित वातावरण का असर भी था। कांग्रेस के अन्दर ही अन्दर जो झगड़े चल रहे थे, उनसे संघ के सदस्य भी

अलिप्त नहीं रह पाये थे। इसलिए किशोरलाल भाई ने अपने अध्यक्षीय भाषण में इस स्थिति का खास तौर पर उल्लेख किया और कहा :

"आपको याद होगा कि डेलांग में हमारा बहुत-सा समय साम्प्रदायिक दंगों का अहिंसात्मक उपाय ढूँढ़ने में बीता था। हमारी खोज का विषय यह था कि अहिंसा द्वारा हम गुण्डों का मुकाबला किस प्रकार कर सकते हैं। पूज्य बापू ने हमारे सामने अहिंसक सेना की कल्पना रखी थी। परन्तु हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सके थे। वही प्रश्न आज भी हमारे सामने ज्यों-का-त्यों खड़ा है। आज तो गुण्डापन ने अनेक रूप धारण कर लिये हैं। साम्प्रदायिक दंगे, देशी राज्यों के झगड़े और कांग्रेस के झगड़े सभी जगह विद्यमान हैं। जो गुण्डापन पढ़े-लिखे लोगों में पैदा हो रहा है, वह उन पेशेवर गुण्डों की अपेक्षा अधिक खराब है। एक पेशेवर गुण्डा तो बुरी आदत के कारण या धन के लालच से बदमाशियाँ करता है। उसके भीतर द्वेष नहीं होता, परन्तु इनके गुण्डेपन की जड़ में तो गहरा हेतु होता है। वह द्वेषमूलक होता है। झूठे और विषैले प्रचार का यह परिणाम है।

"हुदली में धारासभा-प्रवेश के बारे में हमने जो निश्चय किया था तथा डेलांग में कांग्रेस के कामों में दिलचस्पी लेने के बारे में अपने सदस्यों को हमने जो प्रोत्साहन दिया था, उस पर अधिक विचार करने की जरूरत हमारे कितने ही सदस्य महसूस करते हैं। हमारे सदस्यों में दो विचारों के व्यक्ति दीख पड़ते हैं। एक वर्ग मानता है कि हमें सारा संकोच छोड़कर एक गांधीपक्ष कायम करना चाहिए। पिछले वर्ष युक्तप्रान्त में गांधी-सेवा-संघ की शाखा खोलने की इजाजत दी गयी, तब यह शर्त रखी गयी कि संघ के नाम पर यह शाखा रचनात्मक काम तो कर सकती है, परन्तु राजनैतिक कामों में संघ के नाम का उपयोग नहीं कर सकती। इन भाइयों को लगा कि यह शर्त लगाकर हमने अपने संघ की कमजोरी प्रकट की है। दूसरी तरफ कितने ही सदस्यों ने अनुभव किया है कि हुदली और डेलांग के निश्चय हमें वापस ले लेने चाहिए। जनता में संघ के प्रति जो आदरभाव था, वह इन निश्चयों के कारण कम हो गया है। समाचार-पत्रों में संघ के विरुद्ध प्रचार शुरू हो गया है। बम्बई की धारासभा में एक सदस्य ने तो यहाँ तक कह दिया कि मजदूरों के बारे में बनाया गया कानून

संघ को मजबूत करने के लिए बनाया गया है। बंगाल के बारे में भी मैंने सुना है कि वहाँ भी कई पत्रों में संघ के विरुद्ध लेख आते हैं। कर्नाटक में भी संघ के विरुद्ध इसी प्रकार की हवा बह चली है। इस बाहरी विरोध के अतिरिक्त प्रत्यक्ष संघ के अन्दर भी कांग्रेस के काम को लेकर सदस्यों में आंतरिक कलह पैदा हो गया है। इसलिए इन सदस्यों की राय है कि संघ को इस संकट से बचा लेना चाहिए।

"विरोधियों की टीका से मुझे कुछ भी दुःख नहीं हुआ है। परन्तु इन दो-तीन वर्षों में हमारे सदस्यों के बीच जो भीतरी राग-द्वेष पैदा हो गये हैं, उन्हें देखकर मुझे बहुत दुःख हो रहा है। यदि हम अपने ही भीतर एक-दूसरे के प्रति सद्भाव और मित्रता कायम नहीं रख सकते, तो संघ के द्वारा भिन्न-भिन्न कौमों और प्रान्तों के लोगों के बीच सद्भाव पैदा करने में हम कभी सफल नहीं हो सकेंगे। संघ के भीतरी मनोमालिन्य को देखकर नये लोगों को संघ के सदस्य बनाने में मुझे कोई उत्साह नहीं हो रहा है।"

संघ की भीतरी स्थिति का किशोरलाल भाई ने जो पृथक्करण किया, इस पर सदस्यों के बीच काफी चर्चा हुई। कई बार संघ के सदस्य चुनावों में आपस में ही एक-दूसरे के साथ स्पर्धा करते थे। इसलिए एक प्रस्ताव द्वारा उन्हें चेतावनी देनी पड़ी :

"संघ के सदस्यों को स्वयं सत्य और अहिंसा का सूक्ष्मतापूर्वक पालन करना चाहिए। यही नहीं, बल्कि अपने साथ काम करनेवाले दूसरे कार्यकर्ताओं के ऐसे कामों से लाभ भी नहीं उठाना चाहिए, जो सत्य और अहिंसा के विरुद्ध हों। जहाँ तक संभव हो, उनसे भी सत्य और अहिंसा का पालन कराने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके अतिरिक्त राजनैतिक चुनावों में संघ के सदस्यों को आपस में प्रतिस्पर्धा अथवा एक-दूसरे का विरोध नहीं करना चाहिए।"

संघ का छठा अधिवेशन फरवरी सन् १९४० में बंगाल के ढाका जिले के मलिकान्दा नामक ग्राम में हुआ। वृन्दावन में संघ के सदस्यों को अच्छी तरह सूचनाएँ तथा हिदायतें दे दी गयी थीं। फिर भी इसका कोई खास परिणाम नहीं दिखाई दे रहा था। १९३९ के सितम्बर में विश्वयुद्ध छिड़ गया था। इस युद्ध में कांग्रेस भाग ले या न ले, यह भी एक विचारणीय प्रश्न था। कांग्रेस को लग रहा था कि केवल अहिंसा के कारण हम युद्ध में भाग न लें, यह तो हमसे नहीं

हो सकेगा। परन्तु यदि ब्रिटिश-सरकार अपने युद्ध के उद्देश्यों को प्रकट कर दे और उससे भारत को लाभ होता दिखाई दे, तो युद्ध में भाग लेने में कांग्रेस को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। किशोरलाल भाई ने अपने अध्यक्षीय भाषण में इस विषय की बहुत सूक्ष्मता के साथ चर्चा की। उन्होंने कहा : "जब तक प्रान्तों का शासन चलाने का भार कांग्रेस पर नहीं आया था, तब तक हिंसा तथा अहिंसा के प्रश्नों पर भिन्न-भिन्न पक्षों में तात्त्विक चर्चा होती रहती थी। फिर भी दो में से किसको पसंद किया जाय, यह प्रश्न कांग्रेस के सामने खड़ा नहीं हुआ था। परन्तु प्रान्त के शासन में कुछ अधिकार मिलने के बाद अब ऐसे प्रश्न उपस्थित होने लगे हैं। वर्तमान युद्ध शुरू हो जाने के बाद तो हमारे सामने परीक्षा का एक बहुत बड़ा प्रसंग उपस्थित हो गया है कि हमारी रुचि किस ओर है। कांग्रेस के नेताओं तथा अनेक प्रान्तों के मंत्रियों के मुख से इस आशय के उद्गार प्रकट हुए हैं कि यदि अंग्रेज-सरकार हमें पूरा स्वराज्य दे दे, तो कांग्रेस इस लड़ाई में अंग्रेज-सरकार को धन और जन से भी पूरी मदद करेगी और देश के लाखों जवानों को जर्मनी से लड़ने के लिए भी भेज देगी। जहाँ तक मुझे पता है, गांधी-सेवा-संघ के किसी भी सदस्य ने, जो कांग्रेस का नेता भी है, इस विचार अथवा सूचना का विरोध नहीं किया है। बल्कि अनुमान तो यही होता है कि उसकी भी विचारसरणी इसी प्रकार की है। मतलब यह कि बगैर पशुबल का आश्रय लिये देश का शासन चलाना अथवा स्वतंत्रता को बनाये रखना साधारण मानव-समाज की शक्ति के बाहर की बात है, यह जो जनसाधारण की मान्यता है, उसमें गांधी-सेवा-संघ के कार्यकर्ता अपवादस्वरूप नहीं हैं। परन्तु बापू ने तो हमारे सामने एक ऐसा विचार रखा है कि साधारण मनुष्य भी एक हद तक अहिंसा का पालन कर सकता है। यदि यह बात सही है, तो गांधी-सेवा-संघ की नीति कैसी होनी चाहिए। ऐसे नाजुक प्रसंग पर यदि हम कोई विशेष आचरण करके न बता सकें, तो संघ को जारी रखने से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

"एक ओर से देखते हैं, तो गांधी-सेवा-संघ के सदस्यों को राजनैतिक कामों में अर्थात् कांग्रेस और धारासभा आदि में कितना और किस प्रकार का भाग लेना चाहिए, इस प्रश्न में से ही यह दूसरा प्रश्न भी खड़ा होता है कि संघ को

वन्द कर देना चाहिए या चालू रखना चाहिए। क्योंकि इसमें अहिंसा के सिद्धान्त और सरकार के कामकाज के वीच विरोध और धर्म-संकट पैदा हो जाता है। एक ओर तो अहिंसा भंग हो जायगी, इस भय से हमारे अन्दर शक्ति होने पर भी यदि इन कामों से हम दूर रहते हैं, तो हमारी अहिंसा एक तुच्छ शक्ति वन जाती है। दूसरी ओर यदि हम इस काम में पड़ते हैं, तो अहिंसा की मर्यादा का पालन करने की जितनी शक्ति कांग्रेस में होगी, वहीं तक तो हम जा सकेंगे और इसमें हिंसक उपायों का अवलम्वन करना कर्तव्यरूप भी हो जाता है। सरदार वल्लभभाई को इस धर्म-संकट का अनुभव हुआ है। अंत में वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि यद्यपि उनकी अपनी निष्ठा तो अहिंसा पर ही है, फिर भी यदि इस सिद्धान्त पर दृढ़ रहते हैं, तो वे पार्लमेंटरी वोर्ड का काम नहीं चला सकते। सिद्धान्तवादी होने का दावा करके निष्क्रिय पड़े रहें, यह उनके जैसे कर्ममार्गी के लिए कठिन है। मेरा खयाल भी यही है कि मानव-समाज की आज की हालत में केवल वल्लभभाई के लिए ही नहीं, वल्कि हम सवके लिए यह लगभग असंभव है कि हम राजनैतिक सत्ता को स्वीकार कर लें और उसके साथ-साथ अहिंसा का पूरा-पूरा पालन भी करते रहें। स्वभाव से ही जिनकी रुचि हिंसा की ओर है, उनकी तो वात ही मैं छोड़ देता हूँ, परन्तु स्वभाव और वुद्धि से जिनकी श्रद्धा अहिंसा में है, वे भी यह मानते हैं कि समाज के कितने ही कामों के लिए थोड़ी-वहुत हिंसा का स्वीकार तो करना ही पड़ता है। उन्हें यह आशंका है कि इतनी-सी हिंसा के लिए भी यदि अपवाद नहीं रखा गया, तो समाज में अराजकता और अरक्षितता फैलने का भय है।

"मेरी अपनी कल्पना तो यह है कि हम ऐसा सत्याग्रही समाज वना सकते हैं, जो समाज के हिंसाभिमुख प्रवाह को भले ही एकदम न भी वदल सकता हो, फिर भी उसके साथ वहने से अपने-आपको रोक तो अवश्य सकता है और कभी-कभी इस प्रवाह का सफलतापूर्वक विरोध भी कर सकता है। इस ध्येय के साथ यह समाज राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी प्रकार के कामों में भाग लेता रहे। उसे जो काम अच्छे लगें, उनमें वह सहयोग करे, परन्तु जिस काम में हिंसा का स्वीकार अनिवार्य हो, ऐसी किसी संस्था में वह अधिकार को स्वीकार न करे। इस समाज का यह निश्चय है कि चाहे कितनी भी हानि हो, फिर भी

अपनी प्रवृत्तियों में हिंसात्मक उपायों का आश्रय तो वह कदापि नहीं लेगा। जब कभी किसी अनिष्ट को दूर करने के लिए वह कोई अहिंसात्मक उपाय बता सके, तब उसका प्रयोग करने के लिए वह स्वयं आगे आये। उस समय यदि किसी समाज अथवा संस्था में उसे अधिकार स्वीकार करना जरूरी हो जाय, तो उतने समय के लिए वह अधिकार का स्वीकार भी कर सकता है। परन्तु वह काम पूरा होते ही जनता के प्रतिनिधियों को वह यह अधिकार वापस सौंप दे। मुझे निश्चय है कि उच्च चारित्र्य-बुद्धि, व्यवहार-कुशलता और अपने क्षेत्र का अच्छा ज्ञान रखनेवाले सत्याग्रहियों का एक ऐसा समाज हो सकता है, जो बगैर अधिकार लिये भी इस प्रकार अपनी नैतिक प्रतिष्ठा पैदा कर सकता है। यह तो विविध क्षेत्रों में केवल सेवा ही किया करे, फिर भी इसकी प्रतिष्ठा इतनी बढ़ सकती है कि जब वह किसी भी विषय पर अपने विचार प्रकट करेगा, तो लोगों को तथा राज्य को भी आदरपूर्वक उनकी ओर ध्यान देना ही पड़ेगा, अन्यथा उनके सत्याग्रही उपाय का सामना करने के लिए तैयार रहना पड़ेगा।"

इसके बाद किशोरलाल भाई ने शारीरिक अस्वस्थता के कारण जितना प्रवास करना चाहिए, उतना प्रवास न कर सकने तथा सभा-समारम्भों में जितना भाग लेना चाहिए, उतना भाग न ले सकने—आदि के कारण अध्यक्षपद से मुक्त कर दिये जाने की माँग की। उन्होंने यह भी बताया कि इस विषय में उन्होंने पू० बापू तथा कार्यवाहक-समिति के सदस्यों से बातचीत कर ली है। बापू ने उनसे कहा कि "अबकी बार मैं आपसे आग्रह नहीं करूँगा। अध्यक्ष बने रहने में धर्म है, यह आपको स्वतंत्र रूप से सूझ सके, तो उत्तम। परन्तु यदि आपको इससे उलटा ही लग रहा हो, तो मुझे आपको अनुकूलता कर देनी होगी।"

किशोरलाल भाई ने अपने भाषण में जो विचार प्रकट किये, उन पर बहुत चर्चा हुई।

बापू ने अहिंसा के महत्त्व के विषय में बहुत विशद और विस्तृत विवेचन किया और यह भी समझाया कि वर्तमान परिस्थिति में संघ की नीति क्या होनी चाहिए। संक्षेप में उसके मुद्दे ये हैं:

(१) संघ में कितने ही सदस्य ऐसे हैं, जो संघ को प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं, जब कि कितने ही ऐसे भी हैं, जिनको संघ की ओर से प्रतिष्ठा मिलती है और

इस प्रतिष्ठा का उपयोग वे राजनीति में करते हैं। इसका एकमात्र उपाय यही है कि संघ ऐसों को प्रतिष्ठा न दे। इन सदस्यों को भी चाहिए कि दूसरे से माँगने पर मिली इस प्रतिष्ठा को वे स्वयं छोड़ दें। यदि हम अपने सदस्यों को ऐसी प्रतिष्ठा दें और वे उसे ग्रहण करें, तो हम कांग्रेस, समाजवादियों अथवा साम्य-वादियों की पंक्ति में खड़े होने लायक बन जायँगे।

(२) इस प्रकार की सत्ता की राजनीति संघ में से निकल जानी चाहिए। आत्मशुद्धि के लिए यह करना जरूरी है। मैं राजनीति-मात्र का निषेध नहीं कर रहा हूँ। मैं तो जानता हूँ कि हमारे देश में सब प्रकार का रचनात्मक काम भी राजनीति का ही एक अंग है और मेरी दृष्टि में तो यही सच्चा राजनैतिक काम है। परन्तु सत्ता की राजनीति के साथ अहिंसा का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

(३) यदि हमारे अन्दर अहिंसक पुरुषार्थ के सच्चे लक्षण होते, तो आज हमारी जो दशा हो रही है, वह न होती। हमारे अन्दर एक नयी ही शक्ति पैदा होती, तब आपको न मेरी सलाह की जरूरत पड़ती और न इस संघ की।

सरदार ने कहा :

"कितने ही लोग मानते हैं कि गांधी-सेवा-संघ वस्तुतः तो एक राजनैतिक पक्ष (दल) ही है। परन्तु इस बात को छिपाने के लिए ये लोग रचनात्मक कार्यों का नाम ले रहे हैं। कांग्रेस की संपूर्ण सत्ता को अपने हाथ में लेने की इनकी यह एक चाल-मात्र है। परन्तु जब तक किसी जिम्मेदार व्यक्ति ने यह बात नहीं कही थी, तब तक मैंने इसे कोई महत्त्व नहीं दिया। परन्तु जब पं० जवाहरलालजी को भी लगा कि यह एक राजनैतिक पक्ष है और यह कांग्रेस पर कब्जा चाहता है, तब मुझे बहुत बुरा लगा।"

इसके बाद संघ के उन सदस्यों की एक सूची बनायी गयी, जो सत्ता की राजनीति में अर्थात् धारा-सभाओं, म्युनिसिपैलिटियों, लोकल बोर्डो आदि संस्थाओं के सदस्य थे। इससे साफ-साफ प्रकट हो गया कि संघ के अधिकांश और महत्त्वपूर्ण सदस्य तो इन संस्थाओं में थे ही। इसलिए यह निश्चय किया गया कि संघ के वर्तमान रूप का विसर्जन कर दिया जाय। संघ का विसर्जन करने-वाला निश्चय इस प्रकार था :

"संघ के लम्बे अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि यह इष्ट नहीं कि संघ के सदस्य राजनैतिक संस्थाओं में भाग लें। इसलिए वर्तमान परिस्थिति में संघ की यह राय है कि अभी संघ के जो सदस्य राजनैतिक संस्थाओं में हैं, और जो उनमें रहना चाहते हैं, वे संघ के सदस्य न रहें।

"इस निर्णय का यह अर्थ हरगिज नहीं कि जो व्यक्ति राजनैतिक संस्थाओं में काम कर रहे हैं, वे संघ के सदस्य रहने के काविल नहीं हैं, अथवा यह कि राजनैतिक काम दूसरे कामों की अपेक्षा महत्त्व में किसी प्रकार भी कम है। इस निर्णय पर पहुँचने का एक खास कारण तो यह वन गया है कि संघ के कितने ही सदस्य राजनैतिक संस्थाओं में भाग लेते हैं, इससे संघ के अन्दर वैमनस्य पैदा होने लगा है। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारा अहिंसा का आचरण अधूरा और दूषित है। अहिंसा का स्वरूप ही ऐसा है कि उसे हिंसा की वृद्धि का निमित्त कभी नहीं वनना चाहिए।

"संघ की सदा यह मान्यता रही है कि भारत के करोड़ों लोगों की उन्नति रचनात्मक काम से ही हो सकती है। रचनात्मक काम एक ऐसा काम है, जिसमें आम जनता सीधा भाग ले सकती है। इसलिए संघ की प्रवृत्ति रचनात्मक काम तक ही सीमित रहेगी। जो रचनात्मक कार्य चरखा-संघ जैसे रचनात्मक कार्य के संघों में नहीं आते, वे अव संघ के क्षेत्र में आयेंगे—उदाहरणार्थ रचनात्मक कार्य के साथ अहिंसा का क्या सम्वन्ध है, इसका अवलोकन, अध्ययन तथा संशोधन करना तथा रचनात्मक कार्य का व्यक्ति के निजी तथा समाज के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका निरीक्षण करना।

"संघ की राय यह भी है कि रचनात्मक काम का यह विभाग, जो रचनात्मक संस्थाओं से अलग है, उसका अच्छी तरह अध्ययन तथा संशोधन करने के लिए अभी पर्याप्त व्यक्ति गांधी-सेवा-संघ के पास नहीं हैं। इसलिए जव तक ऐसे अध्ययन तथा संशोधन के लिए आवश्यक साधन नहीं मिल जाते, तव तक संघ का आर्थिक व्यवहार और 'सर्वोदय' मासिक इन दो को छोड़ गांधी-सेवा-संघ की अन्य सव प्रवृत्तियाँ स्थगित कर दी जायँ।"

इसके वाद नौ आदमियों की कार्यवाहक-समिति वना दी गयी और उसके अध्यक्ष श्री जाजूजी नियुक्त कर दिये गये।

गांधी-सेवा-संघ का विसर्जन हो जाने के कारण किशोरलाल भाई के सिर पर से जिम्मेदारी का एक बहुत बड़ा बोझ हट गया। स्वास्थ्य अच्छा न होने पर भी कर्तव्यवश संघ के सदस्यों से मिलने तथा उनकी प्रवृत्तियों का निरीक्षण करने के लिए उन्हें सारे देश में घूमना पड़ता था। गांधी-सेवा-संघ के अध्यक्ष होने के कारण देश के रचनात्मक काम में लगे तमाम छोटे-बड़े कार्यकर्ताओं से उनका संपर्क हो गया। इस काम की वजह से भिन्न-भिन्न प्रान्तों—देश—के नेताओं से भी उनका परिचय हो गया और अपने नम्र तथा प्रेमभरे स्वभाव के कारण उन्होंने सबका सद्भाव भी संपादन किया।



सन् १९४२ का युद्ध : २१ :

किशोरलाल भाई जब गांधी-सेवा-संघ के काम से मुक्त हुए, तब साम्प्रदायिक दंगों के कारण महादेव भाई को बाहर बहुत घूमना पड़ता था। १९४१ में उन्हें बहुत लम्बे समय तक अहमदाबाद में रहना पड़ा। उसके बाद गुजरात के कितने ही भागों में बाढ़ें आयीं। बाढ़पीड़ितों के लिए चन्दा एकत्र करने के लिए उन्हें बहुत दिन तक बम्बई में रहना पड़ा। तब किशोरलाल भाई बापू के पत्र-व्यवहार आदि कामों में मदद करते। शुरू-शुरू में तो वे रोज वर्धा से सेवाग्राम जाते। किन्तु बाद में वहीं रहने लग गये।

सन १९४२ की ९ अगस्त को सरकार ने कांग्रेस पर हमला बोल दिया। इससे पहले संसार में चलनेवाली व्यापक हिंसा और हमारे देश में कानून के नाम पर चलनेवाली अराजकता का प्रतिकार करने के लिए बापू उपवास करने का विचार कर रहे थे। कांग्रेस की कार्यसमिति के लगभग सभी सदस्यों को यह कदम पसन्द नहीं था। इस पर ता० २०-७-१९४२ को बापू ने 'अहिंसा की पद्धति में उपवास का स्थान' शीर्षक एक लेख लिखा। ('हरिजन-बन्धु' ता० २६-७-१९४२) उसमें अपने पिछले उपवासों का उल्लेख करने के बाद उन्होंने लिखा था :

"मेरे इन तमाम उपवासों के बावजूद सत्याग्रह के एक शस्त्र के रूप में उपवास मान्य नहीं हुआ। राजकाज में पड़े हुए लोगों ने केवल उन्हें सह लिया, बस इतना ही। फिर भी मुझे इस निर्णय पर पहुँचना पड़ा है कि आमरण उपवास सत्याग्रह के कार्यक्रम का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है और कुछ निश्चित अवस्थाओं में वह सत्याग्रह का सबसे बड़ा और रामबाण शस्त्र है। परन्तु मनुष्य जब तक उचित तालीम नहीं प्राप्त कर लेता, वह इसका अधिकारी नहीं होता। रचनात्मक अर्थ में अहिंसा सबसे अधिक समर्थ शक्ति है। क्योंकि बुरा काम करनेवालों को किसी भी प्रकार शारीरिक अथवा भौतिक हानि पहुँचाये बिना ऐसा विचार भी न रखते हुए—कष्ट-सहन के लिए इसमें पूरा

अवकाश है। सत्याग्रह में सदा बुराई करनेवाले के हृदय के उत्तम अंश को जाग्रत करने का हेतु होता है। जहाँ कष्ट-सहन उसकी दैवी प्रकृति को स्पर्श करता है, वहाँ प्रतिकार उसकी आसुरी प्रकृति को उभाड़ता है। उचित संयोगों में सत्याग्रह इस प्रकार की एक उत्तम कोटि की अपील है। राजकाज में पड़े हुए कार्यकर्ता राजनैतिक मामलों में इसके औचित्य को इसलिए नहीं देख पाते कि इस उत्तम शस्त्र का यह उपयोग सर्वथा नयी वस्तु है। ऐहिक बातों में अहिंसा का उपयोग हम कर सकें, तभी तो यह काम की चीज होगी।"

किशोरलाल भाई ने ता० २५-७-१९४२ को 'मृत्यु का रचनात्मक बल' शीर्षक लेख लिखकर बापू के इन विचारों का समर्थन किया। उनकी दलील संक्षेप में इस प्रकार पेश की जा सकती है :

"अहिंसात्मक प्रतिकार के साधन के रूप में उपवास पेश किया जाता है। यह मार्ग नया तो है ही नहीं। बहुत प्राचीन काल से हमारे देश में इसका अवलंबन होता रहा है। एक प्रकार से आत्महत्या द्वारा मरने का एक तरीका इसे कहा जा सकता है। इसमें से यह प्रश्न उठता है कि जीवन के निर्माण में मृत्यु का स्थान क्या है? ....मनुष्य बहुत गहराई में यह अनुभव करता है कि इसके शरीर को केवल धारण किये रखनेवाली जो सत्ता है, उसकी अपेक्षा जीवन का स्वरूप अधिक सूक्ष्म, अधिक व्यापक और अधिक चिरन्तन है। ......अपने व्यक्तित्व से परे और अधिक व्यापक जीवन के विषय में उसे प्रतीति होती है और उसमें उसे रस भी होता है। ये अनुभूतियाँ देह के प्रति रस की अपेक्षा अधिक बलवती होती हैं। अपने बादवाले और अभी जो पैदा नहीं हुआ है, उस संसार के लिए वह कुछ छोड़ जाना चाहता है। कुछ और भी है। वह संसार को कुछ अधिक अच्छा—खराब नहीं—छोड़कर जाना चाहता है। जहाँ तक उसकी बुद्धि पहुँच सकती है, उतने अंश में यह व्यापक जीवन अधिक उन्नत और प्रगतिशील बने, ऐसा हर देहधारी का स्वाभाविक—अनसीखा—प्रयत्न होता है। यह व्यापक जीवन सब देहों के द्वारा प्रकट होता है और सभी मृत्युओं में वह दिखाई देता है और मृत्यु के बावजूद बाद में वह कायम रहता है। सच तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन के द्वारा व्यापक जीवन का निर्माण करने और उसे विकसित करने का प्रयास करता ही रहता है। यह व्यापक

जीवन ही जीवन का सच्चा स्वरूप है और वह जिस प्रकार शरीर के धारण द्वारा, उसी प्रकार शरीर के नाश द्वारा भी बनता रहता है। ....कितने ही प्रसंग ऐसे भी होते हैं, जब जीवित प्राणियों की अतिवृद्धियुक्त और तीव्र प्रवृत्ति की अपेक्षा मरण का बल अधिक प्रभावशाली सिद्ध होता है। ऐसे प्रसंग पर मृत्यु मानो किसी गुप्त शक्ति को मुक्त कर देती है, ऐसा लगता है। यह शक्ति देहधारण की अवस्था में सारे प्रयत्न करते हुए भी पूरी तरह यशस्वी नहीं हो रही थी। परन्तु देह छूट जाने के बाद थोड़े ही समय में जीवन की प्रगति में बाधा पहुँचानेवाली रुकावटों को वह अलग हटा देती है। तटस्थतापूर्वक विचार करते हैं, तो ऐसा मालूम होता है कि मृत्यु भी जीवित अवस्था की भाँति ही जीवन को बनानेवाला एक साधन है। संभव है कि जिस काम को कराने में प्राण की शक्ति सफल न हो सकी, उसीको सफल करने के लिए देश के कितने ही अच्छे-से-अच्छे पुत्रों-पुत्रियों की स्वेच्छा-मृत्यु की आवश्यकता हो। हाँ, इसे शक्तिरूप बनाने के लिए इसका निश्चय शान्तिपूर्वक खूब सोच-विचार के बाद अथवा पारिभाषिक शब्दों में कहें, तो अहिंसा की एक योजना के रूप में होना चाहिए। आवेश में अथवा निराशा में की गयी आत्महत्या के रूप में यह नहीं किया जाना चाहिए।"

आश्रम में इस बात को तो सभी जानते थे कि किसी विशेष परिस्थिति में प्राणत्याग करना धर्म हो सकता है। परन्तु वहाँ भी सबको ऐसा ही लगता था कि यह प्रसंग और समय आमरण उपवास करने लायक नहीं है। इसके समस्त कारण बताकर यह कदम न उठाने के लिए महादेव भाई आदि ने बापू से प्रार्थना की। व्यक्तिगत सत्याग्रह के समय भी बापू उपवास का विचार कर रहे थे। तब महादेव भाई की एक दलील का उन पर असर पड़ा था और उन्होंने उपवास का विचार छोड़ दिया। उनकी दलील यह थी कि आप उपवास करते हैं, तो उसका अर्थ यह होता है कि कार्यकर्ताओं और जनता पर आपका विश्वास नहीं है। वे सरकार से लड़ने के लिए तैयार हैं और इसके फलस्वरूप जो मुसीबतें आयें, उन्हें भी झेलने के लिए तैयार हैं। परन्तु अपने उपवास द्वारा उन्हें आप इसका अवसर देने से इनकार कर रहे हैं और उनके प्रति अन्याय कर रहे हैं। इस बार भी जब बापू ने उपवास की बात छेड़ी, तब यह तथा अन्य दलीलें देते हुए कितने ही साथियों ने बापू को पत्र लिखे। किशोरलाल भाई ने भी उन्हें

एक पत्र भेजा। यह पत्र उनके विचार और पद्धति का द्योतक होने के कारण यहाँ दिया जा रहा है:

ता० २८-७-'४२

"पूज्य बापू की सेवा में,

"आप पर उपवास और प्रायोपवेशन (आमरण उपवास) के संस्कार बचपन से हैं। उनके प्रयोग करके उनके बारे में विशेष ज्ञान भी आपने प्राप्त कर लिया है। फिर आपका सम्पूर्ण जीवन बड़े-बड़े आन्दोलन चलाने में बीता है। इसलिए मैं इतना तो जान गया हूँ कि आपके जीवन का अंत एक सामान्य वृद्ध मनुष्य की भाँति बीमार पड़कर मृत्यु के द्वारा तो शायद नहीं होगा। इसलिए व्यक्तिगत भावनाओं को अलग रखकर तटस्थता के साथ मैं विचार कर सकता हूँ और अपने-आपको व्याकुल नहीं होने देता।

"परन्तु मरण के द्वारा कोई शक्ति प्रकट करनी है, तो वह केवल तर्कपूर्वक नहीं, बल्कि गंभीर चिंतन और दर्शन के साथ होनी चाहिए। दर्शनरहित श्रद्धा को मैं श्रद्धा ही नहीं मानता। यह मैं अनुयायियों के लिए नहीं, गुरु के लिए कह रहा हूँ। अनुयायियों के लिए तो गुरु की आज्ञा पर्याप्त हो सकती है। क्योंकि उसका ध्येय आलम्बन के बगैर चढ़ने का होता ही नहीं। गुरु को जो दीखे, वही उसकी श्रद्धा और वही उसका दर्शन होता है।

"इसका अर्थ यह है कि ऐसे मनुष्य के सामने मरण का आवाहन करने के प्रकार और प्रसंग का स्पष्ट दर्शन होना जरूरी है और यह उसके जीवनभर के आदेश के अनुरूप होना चाहिए। खून के समान आत्महत्या भी हिंसक तथा अहिंसक दोनों प्रकार की शक्ति को उत्पन्न कर सकती है।

"प्रधानरूपेण आप किस भाव के पैगम्बर हैं? अंग्रेजी सल्तनत के विनाश के? भारत की स्वतन्त्रता के? अन्याय-निवारण के? अहिंसा के? सत्य के? अंग्रेजों के प्रति मित्र-भाव के? युद्ध-विरोध के? कौमी एकता के? अस्पृश्यता-निवारण के? आपके जीवन का जो मुख्य सन्देश हो, वही मरण में भी मुख्य दृष्टिगोचर होना चाहिए। यदि अंग्रेजी सल्तनत का नाश करने के लिए आप मृत्यु का आवाहन करेंगे, तो वही शक्ति आपकी मौत का कारण बनेगी।

अहिंसा आदि गौण हो जायँगे। अंग्रेजों के प्रति अशत्रुता और जापानियों के प्रति विरोध गौण बन जायँगे।

"ऊपर का प्रत्येक भाव भिन्न-भिन्न आदमियों का मुख्य ध्येय हो सकता है। और उस-उस ध्येय के लिए जीने-मरने का अवसर उसे मिलेगा, तो वह अपने को कृतार्थ मानेगा और उसकी मृत्यु भी जीवन का रचनात्मक बल बन सकती है। ऐसे अवसर का दर्शन सेनापति के रूप में आप हर मनुष्य को करवा सकते हैं। इनमें से किस ध्येय को आप अपने जीवन का प्रधान भाव मानते हैं, उस पर से अपनी मृत्यु को खोज लेने की दृष्टि आपको स्थिरतापूर्वक मिल जानी चाहिए।

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं, त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥*

इस श्लोक का सही अर्थ यही है। इसमें 'स्मरन्' शब्द शायद अधूरा भी कहा जा सकता है। यहाँ शायद 'समाचरन्' शब्द अधिक सही होगा।

"जो शक्ति विह्वलता और निराशा पैदा करती है, उसमें से उत्पन्न शक्ति अहिंसक नहीं रह सकती। इसी प्रकार यह भी निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि उसमें से सन्तोषजनक फल नहीं उत्पन्न हो सकता। यदि आप कांग्रेस को साथ में रखकर उपवास का कदम उठायेंगे, तो कांग्रेस के मुखियों में जितनी लम्बी छलांग मारने की शक्ति होगी और 'दुर्जनस्तुष्यतु' इस न्याय से जितना कम-से-कम छोड़ने से सरकार का काम चल जाने की स्थिति होगी, बस, उतने ही पर समझौता हो जायगा। और यह तो किसीसे छिपा नहीं है कि कांग्रेस के मुखिया कोई समझौता कर लेने की फिराक में हैं। वे कह देंगे कि इतने से हमारा सन्तोष हो गया है। तब आपको भी उसीमें सन्तोष मानकर बैठ जाना पड़ेगा और उन लोगों को भी, जो आपके पीछे मूक बलिदान देने के लिए तैयार रहते हैं। परन्तु यदि उनका सन्तोष नहीं हुआ, तो वे नेताओं के द्वेष्टा बन जाते हैं। इसीमें से फॉरवर्ड ब्लॉक जैसी संस्थाओं का निर्माण होता है। इतनी-

---

* हे कौन्तेय! मनुष्य जिस-जिस स्वरूप का ध्यान धरता है, अंतकाल में उसी स्वरूप का स्मरण करता हुआ वह देह छोड़ता है और उस भाव से भावित होने के कारण वह उसी स्वरूप को प्राप्त होता है।

सी प्राप्ति तो आपके उपवास की महँगी कीमत चुकाये वगैर भी हो सकती ह। क्रिप्स-योजना में थोड़ा-बहुत सुधार करवा लेना असंभव नहीं है। उससे कांग्रेस के नेताओं को सन्तोष हो जायगा। जिनको असन्तोष है, वे सब कांग्रेस से वाहर—मूक कार्यकर्ता और मूक जनता—हैं। आज उनका समय नहीं है। अथवा उनमें आज यह शक्ति नहीं कि अपने बल पर अपने ध्येय को पेश कर सकें। इसलिए वे मन मसोसकर रह जाते हैं। अधूरे समझौतों से उनकी आत्मा को कृतार्थता का समाधान नहीं मिलता। फिर भी आप वही ध्येय उनके सामने एक तात्कालिक कदम के रूप में रखकर उनके द्वारा प्राप्त करवा सकते हैं। इसके लिए आवश्यक वलिदान वे खुशी-खुशी कर देंगे। इसके लिए आपको उपवास जैसी कीमत चुकाने की जरूरत नहीं है। आपके उपवास से अनुयायियों का बल नहीं बढ़ेगा, क्योंकि कांग्रेस के मुखियों का लक्ष्य छोटा है।

"मरण की शक्ति का आप उपयोग करें, इसमें मुझे कुछ भी दोष नहीं दिखाई देता। परन्तु अभी तो आपको सेनापति की हैसियत से ही यह काम करना है। आपका अपना वलिदान करने का जब क्षण आयेगा, तब वह इतना असंदिग्ध होगा कि एक छोटा-सा बच्चा भी उसकी अनिवार्यता को समझ सकेगा। कौमी निर्णय इस प्रकार के उपवास के लिए अवश्य ही उपयुक्त कारण था।

आज्ञांकित

किशोरलाल के दण्डवत् प्रणाम"

दूसरे साथियों के पत्रों में मुख्य दलील यह थी कि "आज यदि अधीर होकर आप अपना वलिदान देने जायँगे, तो उसमें अंग्रेजों के प्रति आप जीवनभर जो उदारता प्रकट करते आये हैं, उसे खो देंगे। यदि कहीं आपको अपने प्राण अर्पण कर देने पड़े, तो भारतीयों और अंग्रेजों के बीच हमेशा के लिए दुश्मनी की दीवार खड़ी हो जायगी।"

समस्त साथियों की दलीलें अपना काम कर गयीं। अथवा उस समय बापू को उपवास करना अनिवार्य नहीं मालूम हुआ या यह भी कह सकते हैं कि उन्हें इस समय ईश्वरीय प्रेरणा नहीं हुई। तात्पर्य यह कि उपवास नहीं किया गया।

सन् १९४२ के युद्ध में किशोरलाल भाई पर एक बड़ी जिम्मेदारी यह आयी कि ता० ९ अगस्त को बहुत से नेता गिरफ्तार कर लिये गये और 'हरिजन' पत्रों का संचालन उनके हाथों में आ गया। उस समय बहुत से लोग विध्वंसात्मक आन्दोलन चलाना चाहते थे। उनका मार्ग-दर्शन किस प्रकार किया जाय, यह प्रश्न था। किशोरलाल भाई के संचालन में 'हरिजन' पत्रों के केवल दो ही अंक प्रकाशित हो सके थे। ता० २२ की सुबह उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया, परन्तु अहिंसा की मर्यादा में रहकर सरकार को तोड़ने के लिए क्या-क्या किया जा सकता है, इस प्रश्न का उत्तर ता० १४ को लिखे एक पत्र में उन्होंने बताया था। यह विध्वंस करनेवालों के लिए बहुत अनुकूल हो गया और इसकी लाखों प्रतियाँ सारे देश में पहुँचा दी गयीं। उनका उत्तर यह था :

"मैं अपनी व्यक्तिगत राय दे सकता हूँ। मेरा खयाल है कि आफिस, बैंक, गोदाम आदि लूटे या जलाये नहीं जाने चाहिए। परन्तु अहिंसक रीति से अर्थात् किसीके प्राणों को खतरा न हो, इस ढंग से वाहन-व्यवहार और सन्देश-व्यवहार बन्द किया जा सकता है। हड़तालों की योजना सबसे अच्छा साधन होगा। यदि वे सफल सिद्ध हो सकें, तो केवल वे ही प्रभावकारी और पर्याप्त हो सकती हैं। यह ऐसी अहिंसा होगी, जिस पर किसीको आपत्ति नहीं हो सकती। तार काटना, रेल की पटरियाँ उखाड़ना भी इस अंतिम फैसला करनेवाली लड़ाई में आपत्ति-जनक नहीं माने जा सकते। केवल एक बात का पूरा खयाल रहे कि किसीके प्राणों की हानि न होने पाये। यदि जापान का आक्रमण हो जाय, तो अहिंसक बचाव की दृष्टि से हमें यह सब करना चाहिए; इसमें कोई सन्देह नहीं। सारांश यह कि धुरी राष्ट्रों के प्रति अहिंसक क्रान्तिकारी जो व्यवहार करें, वही व्यवहार अंग्रेजों के प्रति भी हो और वही कदम जापान के विरुद्ध भी उठायें।"

इसके साथ ही उन्होंने यह भी चेतावनी दी थी :

"गांधीजी के लिए तो सत्य और अहिंसा एक सिक्के की दो बाजुएँ हैं, और दोनों एक साथ रहते हैं। एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता और यदि इन्हें अलग करना संभव हो भी, तो अहिंसा की अपेक्षा सत्य ही श्रेष्ठ है। अब सत्य ऐसी वस्तु है कि जो गुप्तता अथवा भय के साथ नहीं रह सकती। अहिंसक

गांधीवादी कार्यकर्ता जो भी कदम उठाये अथवा उठाने का विचार भी करे, वह सब खुल्लमखुल्ला हो और इसके कारण अपने शरीर पर अथवा जायदाद पर जो भी संकट आये, उसमें से छूटकर भागने का जरा भी प्रयत्न न करे। वह परदे के भीतर बैठकर सूत्र-संचालन अथवा योजनाएँ बनाकर देने का काम न करे। हम जो कर रहे हैं, इसके परिणामों को जो जानते नहीं, अथवा जो अत्याचारों के सामने दब जायँ, ऐसे लोग इसमें न फँस जायँ; इस बात का वे पूरा खयाल रखें। मेरी सूचना है कि अनजान ग्रामीणों और मजदूरों को ऐसे कामों में नहीं फँसाना चाहिए। इसी प्रकार इस सारे कार्यक्रम से यह तो सावधानी रखनी ही है कि कहीं किसीकी प्राणहानि न होने पाये।"

युद्ध के बीच लोगों को किस प्रकार अपना बर्ताव रखना चाहिए, इस विषय में कुछ नियम बताते हुए उन्होंने कहा था :

"यह मानकर हम काम करें कि आपके सामने अंग्रेज सरकार है ही नहीं, उसके अधिकारियों और डाकुओं अथवा आक्रमण करनेवालों में कोई भेद नहीं है। इनका समस्त अहिंसक साधनों और तरीकों से मुकाबला कीजिये। अपनी स्वतंत्र व्यवस्था खड़ी करके उसकी स्थापना कीजिये। आपकी शक्ति में हों, ऐसे सारे उपाय करके ऐसा यत्न करें कि पंद्रह दिन के अन्दर हमारे गांधीजी हमारे बीच वापस पहुँचा दिये जायँ।"

सन् १९४८ के जनवरी मास में इन सूचनाओं पर टीका करते हुए उन्होंने कहा था :

"इन दोनों सूचनाओं में जन-स्वभाव का पूरा विचार नहीं किया गया है। इसलिए व्यवहार की दृष्टि से वे अमल में आने लायक नहीं थीं। इसमें अधिकारियों की तुलना डाका डालनेवालों और हमला करनेवालों के साथ की गयी है। इसी प्रकार पंद्रह दिन के अन्दर गांधीजी को छुड़ा लेने की प्रेरणा इनमें है। इस तरह उत्तेजित किये जाने के बाद यह आशा रखना बहुत अधिक है कि लोग अहिंसक साधनों से ही चिपटे रहेंगे।"

परन्तु उन दिनों किशोरलाल भाई की वृत्ति ऐसी थी कि अंग्रेज सरकार के लिए राज चलाना अशक्य कर दिया जाय। ऐसी भावना जिस समय बहुत तीव्र होती है, तब अहिंसा का खूब सूक्ष्म रीति से पालन करने की वृत्ति

रखना बहुत कठिन होता है। उस समय तो अहिंसा की व्याख्या को ढीला करने की वृत्ति होना ही अधिक स्वाभाविक है।

इसके बाद सरकार ने 'सन् १९४२-४३ के उपद्रवों में कांग्रेस की जिम्मेदारी' इस नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की। इसमें किशोरलाल भाई के लेखों के विषय में इस तरह टीका की गयी थी :

"इसके बाद 'हरिजन' के दो अंक प्रकाशित हुए। इनके सम्पादक गांधीजी के मुखरूप (Mouthpiece) श्री कि० घ० मशरूवाला थे। इनमें लड़ाई के विविध अंगों का संचालन किस प्रकार किया जाय, इस विषय में तफसीलों के साथ सूचनाएँ दी गयी हैं। (कांग्रेसनी जवाबदारी पृ० १९)

"हरिजन' की भिन्न-भिन्न भाषाओं के संस्करणों के संपादक श्री गांधी के विचारों से सर्वथा भिन्न विचार प्रकट करने की हिम्मत शायद ही कर सकते थे। फिर भी इनमें तार काटना, रेल की पटरियाँ उखाड़ना, पुलों को तोड़ना और पेट्रोल की टंकियों को आग लगाना—ये सब काम अहिंसा में शुमार करने लायक बताये गये हैं।" (वही पुस्तक पृ० ३७)

इस सरकारी पुस्तक का गांधीजी ने ता० १५-७-१९४७ को विस्तृत जवाब दिया है। (देखिये, गांधी-सरकार पत्र-व्यवहार १९४२-४४) उसमें से प्रस्तुत भाग नीचे दिया है :

"५९. दूसरा उदाहरण ता० २३ अगस्त १९४२ के 'हरिजन' से श्री कि० घ० मशरूवाला के लेख से एक उद्धरण लेखक ने दिया है। श्री मशरूवाला एक आदरणीय साथी हैं। वे अहिंसा को इस हद तक ले जाते हैं कि जो उन्हें व्यक्तिशः पहचानते हैं, वह हार जाते हैं। फिर भी जो वाक्य उद्धृत किये गये हैं, उनका बचाव मैं नहीं करूँगा। उन्होंने यह कहकर कि यह तो मेरी व्यक्तिगत राय है, गलतफहमी को रोकने का यत्न किया है। पुल, पटरियाँ आदि को तोड़ना अहिंसा है या नहीं, इन प्रश्नों की चर्चा करते हुए शायद उन्होंने मुझे कभी सुना हो। *

---

* गांधीजी के मन पर यह छाप है कि पुल तोड़ने आदि के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए मैंने शायद उन्हें सुना हो। मैं आदरपूर्वक कहता हूँ कि मुझे याद नहीं कि मैंने उनके मुँह से ऐसी कोई चर्चा सुनी हो।—कि० घ० म०

परन्तु मुझे हमेशा इस बात का सन्देह रहा है कि ऐसी तोड़फोड़ अहिंसक रह सकती है या नहीं। इस तरह की तोड़फोड़ अहिंसक रह सकती है, ऐसी हम कल्पना कर सकते हैं और मैं मानता हूँ कि वह ऐसी रह सकती है। परन्तु आम जनता से यह आशा नहीं रखी जा सकती कि वह ये काम अहिंसा के साथ कर सकती है। उसके सामने यह बात रखना भी खतरनाक है। फिर लड़ाई के सम्बन्ध में ब्रिटिश सत्ता को जापान की पंक्ति में रखा जा सकता है, ऐसी मेरी धारणा नहीं है।

"एक संभावित (प्रतिष्ठित) साथी की राय का परीक्षण कर लेने के बाद मैं कहना चाहता हूँ कि श्री मशरूवाला की राय को हिंसक हेतु के प्रमाण के रूप में पेश नहीं किया जा सकता। बहुत अधिक तो इसमें निर्णय की भूल है, जो सभी क्षेत्रों में अहिंसा का आचरण करने की योग्यता जनता में किस हद तक है; इसका विचार करने में स्वभावतः हो सकती है। बड़े-बड़े सेनापतियों और राजनैतिक पुरुषों से भूलें होती हमने कई बार देखी ही हैं। परन्तु इस कारण उन्हें किसीने नीचे की पंक्ति में नहीं गिना है, अथवा उन पर दुष्ट हेतु का आरोपण नहीं किया है।"

जिस दिन गांधीजी ने यह जबाब सरकार को भेजा, उसी दिन एक विचित्र योगायोग की बात है कि किशोरलाल भाई नागपुर सेण्ट्रल जेल में मध्यप्रदेश के चीफ सेक्रेटरी के नाम इसी विषय पर एक पत्र तैयार कर रहे थे। यह पत्र ता० १६ जुलाई को उन्होंने जेल के अधिकारियों को सौंपा। वह नीचे लिखे अनुसार है।

श्री चीफ सेक्रेटरी,
मध्यप्रदेश तथा बरार की सरकार,
नागपुर

"साहब,

संक्षेप की दृष्टि से उपर्युक्त पत्रकों तथा पत्रों की ओर मैं आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ। इसके अन्दर जो प्रार्थना की गयी है, वह नामंजूर होने के बाद मैंने यह निर्णय किया था कि ईश्वरेच्छा से जब तक मैं मुक्त नहीं हो जाता, तब तक इस विषय में फिर से कुछ नहीं कहूँगा। यदि अंतःकरण की प्रेरणा मुझे

तुरन्त लिखने की आज्ञा नहीं देती, तो मेरी इच्छा यही थी कि मैं इसी निर्णय पर कायम रहूँ।

"अहिंसा में किन-किन वातों का समावेश हो सकता है, यह मैंने प्रकाशित किया था। यह पत्र उसीके सम्बन्ध में है। यदि किसी मानवी अदालत में मुझे अपना जवाव देना होता, तो अपने वचाव में मैं वहुत-सी वातें पेश कर सकता था। उदाहरणार्थ, मुझे गलत प्रेरणा देने के जिम्मेवार स्वयं श्री एमरी हैं। ता० ९ अगस्त १९४२ को नेताओं को गिरफ्तार करने के वाद उन्होंने जो भाषण किया, उसमें से किस-किस कार्यक्रम की योजना की जा सकती है; इसकी जानकारी सवसे पहले मुझे उनके भाषण से ही हुई*। मुझे वाद में मालूम हुआ कि कई दूसरे लोगों की भी मेरे समान ही स्थिति हुई। श्री एमरी ने यह भी खास तौर पर कहा था कि तथाकथित आन्दोलनकारी इस कार्यक्रम को अहिंसक रीति से ही पूरा करना चाहते थे। इसलिए इस कार्यक्रम पर विचार करने के लिए मुझसे प्रार्थना की गयी। इसमें से कितनी ही वातों का तो मैंने असंदिग्ध शब्दों

---

*श्री एमरी के भाषणवाला लंदन से ता० ९ अगस्त को भेजा गया तार ता० ११ अगस्त के 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' में प्रकाशित हुआ था। उसमें प्रस्तुत मजमून इस प्रकार छपा था :

"असली चिन्ता कांग्रेस की माँग के विषय में नहीं है। वह तो गम्भीर है। उस पर विचार नहीं किया जा सकता। परन्तु कांग्रेस ने जो कदम उठाने का निश्चय किया है और जिसके लिए वह वहुत समय से तैयारी कर रही है, असल में वह चिन्ता करने योग्य वात है। इस कदम में उद्योग, व्यापार, राज्यशासन, अदालतों, शालाओं तथा कॉलेजों में हड़तालों को प्रोत्साहन देने की वात है। वाहन-व्यवहार तथा लोकोपयोगी अन्य प्रवृत्तियों को वन्द कर देने, तार तथा टेलीफोन के तार काटने और फौजों तथा फौजी भरती के दफ्तरों पर धरना देने की योजनाएँ हैं।

"यह सव अहिंसक रीति से किया जायगा। परन्तु अनुभव ने सिद्ध कर दिया है कि उत्तेजित झुण्डों की अहिंसक प्रवृत्तियाँ कितनी आसानी से हिंसक प्रवृत्तियों, दंगों और खून-खरावियों के रूप में वदल जाती हैं।"

में निषेध किया है। उदाहरणार्थ, दफ्तर, वैंक आदि को लूटने और आग लगाने का। दो वातों (तार-व्यवहार और वाहन-व्यवहार तोड़ने) के वारे में मेरा जवाव कमजोर था। जहाँ तक मुझे याद है, मेरे जवाव के वाद के पैरे (इनको सरकार ने प्रकाशित नहीं किया) उन सव वातों को सौम्य कर देते हैं, जिनको मैंने स्वीकारयोग्य कहा है। यही नहीं, उनके प्रति इनमें मेरी नापसन्दी भी प्रकट होती है।

"परन्तु यह पत्र मैं अपने वचाव के लिए नहीं लिख रहा हूँ। मैं तो अपना दिल साफ करना चाहता हूँ। (इस दृष्टि से) मैं आज देखता हूँ कि इन दो वातों के विषय में मेरी नापसन्दगी वहुत ढीली थी और दृढ़ता के साथ अपनी राय प्रकट न करने में मैंने कमजोरी प्रकट की थी। मुझे लगता है कि श्री एमरी ने जो कार्यक्रम प्रकट किया था, उसकी जाँच करते समय मुझे तार्किक पृथक्करण का आधार नहीं, अपने हृदय में जलती हुई ज्योति की ही मदद लेनी चाहिए थी। मुझे यह लग रहा है कि अपने हृदय की ज्योति के प्रकाश में न चलने का प्रमाद मैंने किया। यही नहीं, वल्कि उस समय जितने ही साथी हाजिर थे, उनकी राय की भी मैंने पूरी परवाह नहीं की। आज मुझे मालूम होता है कि जिस प्रकार मैंने लूटने और आग लगानेवाले कार्यक्रम का निषेध किया, उसी प्रकार तार तोड़ने, पटरियाँ उखाड़ने, पुल तोड़ने और वाहन तथा तार-व्यवस्था को विगाड़नेवाली दूसरी क्रियाओं का भी मुझे स्पष्ट शब्दों में निषेध करना चाहिए था।

"मैं जानता हूँ कि यह इकवाल भेजने में वहुत देर हो गयी है। परन्तु मैं तो केवल इतना ही कह सकता हूँ कि मुझे इसका भान होने के वाद मैंने जरा भी विलम्व नहीं किया है। गत आषाढी एकादशी अर्थात् ता० १४ जुलाई की रात में मुझे यह जाग्रति हुई तथा इसकी सूचना आपके पास भेजने की प्रेरणा भी हुई।"

इस पत्र का सरकार की तरफ से किशोरलाल भाई को कोई उत्तर नहीं मिला। जेल से छूटने के वाद ता० २६-१०-१९४४ को उन्होंने एक जाहिर निवेदन के साथ यह पत्र भी प्रकाशित कर दिया।

इस सारे प्रकरण की समालोचना करते हुए ता० २१-१-'४८ को किशोरलाल भाई ने लिखा था :

"मेरे मन में मुख्य विचार यह था कि 'हरिजन' की जिम्मेवारी मुझ पर आ गयी है। इसलिए इसमें सत्य और अहिंसा की मर्यादा रखते हुए भी मुझे इसमें कोई ऐसी कमजोरी की वात नहीं लिखनी चाहिए, जो पीछे काम करनेवालों को सुस्त या ढीला वना दे अथवा उनके मन में संशय पैदा कर दे। खरी-खोटी जैसी भी हो, परन्तु स्पष्ट सूचना देने की हिम्मत करनी चाहिए। इन लेखों में प्रकट की गयी राय के वारे में आज मेरे क्या विचार हैं, यह मैं वता दूँ, तो अनुचित नहीं होगा।

"मुझे लगता है कि मुझे हिंसा-अहिंसा की चर्चा में नहीं पड़ना चाहिए था, क्योंकि इस कार्यक्रम को अहिंसक वताने पर भी मैंने यह राय दी है कि व्यावहारिक दृष्टि से यह कार्यक्रम करने लायक नहीं है। तात्त्विक चर्चा करने के वजाय केवल व्यावहारिकता का निर्णय ही मैं देता, तो अच्छा होता। अव भले ही मैं इसका भार भगवान् पर डालकर अपने मन को इस तरह समझाऊँ कि भगवान् इस लड़ाई को इसी तरह चलाना चाहता था और उसमें प्रेरक के रूप में वह मेरा उपयोग करना चाहता था। इस कारण यद्यपि मैं स्पष्ट निर्णय देना चाहता था, फिर भी मेरे द्वारा द्विमुखी निर्णय दे दिया गया। परन्तु भगवान् पर यह भार न डालूँ, तो मुझे स्वीकार करना चाहिए कि मेरी विवेक-वुद्धि पर आवरण पड़ गया था।

"तत्त्वतः ऐसे काम अहिंसक तरीकों से हो सकते हैं, यह राय गांधीजी ने भी प्रकट की है और मैंने भी कहा है। इसका अर्थ यह है कि उस समय हम दोनों के विचार एक-से थे। परन्तु आज (वल्कि सरकार को मैंने १६ जुलाई १९४३ को वह पत्र लिखा, तव से) विचार करने पर मुझे लगता है—और शायद गांधीजी भी आज यही कहें—कि तात्त्विक दृष्टि से भी यह अहिंसा का कार्यक्रम नहीं था। यह तो विरोधी को पराजित करने का कार्यक्रम था। उसमें विरोधी के प्रति अहिंसक भावना—मैत्री अथवा करुणा नहीं थी, उपेक्षा भी नहीं थी। वल्कि इसमें तो उसे मार गिराने की आकांक्षा थी। इसे अहिंसक कार्यक्रम नहीं कहा जा सकता।"

किशोरलाल भाई सन् १९४२ के सितम्वर में जवलपुर सेण्ट्रल जेल में थे। तव 'क' श्रेणी के राजवन्दियों के प्रति जेल-अधिकारियों के अमानुषिक व्यवहार

के समाचार वाहर आये थे। जेल के दूसरे कैदियों तथा वाहर के लोगों की शंकाओं एवं भय के निवारणार्थ जेल के अधिकारियों के द्वारा इसके कोई समाचार प्रकट नहीं किये गये। यहाँ तक कि जेल का निरीक्षण करने के लिए नियुक्त कमेटी के गैर-सरकारी सदस्यों तक को जेल में जाने से मना कर दिया गया। इसके विरोध में कैदियों ने अपनी वैरकों में वन्द होने से इनकार कर दिया। तव हथियारवन्द पुलिस वुलायी गयी। उसने कैदियों को घसीट-घसीटकर तथा मार-पीटकर वैरकों में वन्द कर दिया। इस पर वहाँ उन्होंने खाना लेने से इनकार कर दिया। यह समाचार मिलने पर किशोरलाल भाई तथा उनके वर्ग के अन्य कैदियों ने यह माँग की कि उन्हें इन कैदियों के वार्ड में जाने की इजाजत मिले, ताकि वे उनसे मिलकर वहाँ की स्थिति की जानकारी खुद प्राप्त कर सकें। जिला मैजिस्ट्रेट ने इस माँग को अस्वीकार कर दिया। तव ता० २३-९-१९४२ को जवलपुर-जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट को उन्होंने नीचे लिखा पत्र भेजा :

"प्रिय मित्र,

"मैंने और मेरे साथी नजरवन्दों ने कल एक अर्जी भेजी थी, जो नामंजूर कर दी गयी। मुझे लगता है कि इन परिस्थितियों में मैं अपनी मानसिक शान्ति की अधिक समय तक रक्षा नहीं कर सकूंगा। इसलिए मैंने निश्चय किया है कि जव तक मेरी वात नहीं मान ली जायगी अथवा मुझे छोड़ नहीं दिया जायगा, मैं अन्न तथा जल नहीं ग्रहण करूँगा। आपसे मेरी केवल इतनी ही प्रार्थना है कि मुझे शान्ति से पड़ा रहने दें और ऐसे कोई प्रयत्न न करें, जिनसे मुझे शारीरिक या मानसिक कष्ट हो। जव सत्ताधारियों को ऐसा लगे कि मेरा जीवन केवल वोझा मात्र और पीड़ा ही पीड़ा रह गया है, तव इस पत्र द्वारा मैं जेल के अधिकारियों को इजाजत देता हूँ कि वे मुझे आवश्यक जहर देकर मेरे जीवन का अंत कर दें। इस सम्वन्ध में सारी जिम्मेदारी से मैं उन्हें इस पत्र द्वारा मुक्त करता हूँ। इसके साथ मैं उनसे यह भी कह देना चाहता हूँ कि—वे मुझे मुँह के द्वारा या अन्य किसी प्रकार से शराव, प्राणियों के शरीर से वनी कोई दवा, खुराक अथवा इंजेक्शन उदाहरणार्थ एड्रिनेलिन, कॉडलिवर, लिवर के सत्त्व और खून आदि देकर मेरे शरीर को अपवित्र न करें।

"यह कहना तो कठिन है कि मैंने किसी भी व्यक्ति के प्रति अनजान में भी

द्वेषभाव नहीं रखा। परन्तु ऐसे भावों को टालने का मेरा प्रयत्न जरूर रहा है। मैं आशा करता हूँ कि होश खोने से पहले ऐसे भावों से मैं पूर्णतः मुक्त हो जाऊँगा। परमात्मा मुझे, आपको और सरकार को सन्मार्ग पर चलने की बुद्धि दे।

मित्रभावपूर्वक आपका

कि० घ० मशरूवाला"

यह पत्र मिलने के बाद सरकार ने किशोरलाल भाई को छोड़ा तो नहीं, परन्तु उन्हें दूसरी जेल में भेज दिया। कहने की जरूरत नहीं कि 'क' वर्ग के उन कैदियों की शिकायतें भी दूर कर दी गयीं।

◆◆◆

'हरिजन'-पत्रों के सम्पादक : २२ :

गांधीजी ने जब से 'नवजीवन' पत्र शुरू किया, तब से किशोरलाल भाई उसमें जब-तब लिखते रहते थे। १९३२ के अंत में उन्होंने 'हरिजन' और बाद में 'हरिजन-बन्धु' शुरू किया। तब किशोरलाल भाई जेल में थे। परन्तु जेल से छूटने के बाद अस्पृश्यता-निवारण पर तथा ग्रामोद्योगों पर वे लिखने लगे। बापू ने जब वर्धा-शिक्षा-योजना जनता तथा सरकार के सामने रखी, तो उस पर भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण लेख लिखे। किसी भी विषय का सूक्ष्मता के साथ पृथक्करण करने तथा उसके मर्म तक पहुँचने में किशोरलाल भाई का दिमाग खूब चलता था। इसलिए बापू की बातों को जनता के समक्ष स्पष्टता के साथ रखने में किशोरलाल भाई का विवरण बड़ा मददगार होता। 'गांधी-विचार-दोहन' के बारे में बापू ने लिखा है कि "भाई किशोरलाल को मेरे विचारों का असाधारण परिचय है।" कितनी ही बातों में किशोरलाल भाई के विचार और मान्यताएँ बापू से भिन्न थीं। परन्तु कुल मिलाकर यों कहा जा सकता है कि बहुत से विषयों में उनके और बापू के विचार एक-से थे।

सन् १९४२ में ता० ९ अगस्त के बाद के दो हफ्ते अत्यंत नाजुक और चित्त को क्षोभ पहुँचानेवाले थे। ऐसे समय 'हरिजन' पत्रों के सम्पादन का भार उन्हीं पर पड़ा था।

उस समय लोगों का मार्गदर्शन करने में उन्होंने कमजोरी प्रकट की, यह बात उन्होंने बाद में स्वीकार की थी। इसका विवरण पिछले प्रकरण में आ ही गया है।

इसके बाद सन् १९४६ में जब बापू ने नोआखाली की पदयात्रा शुरू की, तब उन्हें लगा कि 'हरिजन'-पत्रों का संपादन-कार्य तथा विशाल पत्र-व्यवहार का सारा काम वे खुद नहीं सँभाल सकेंगे। तब यह काम उन्होंने चार आदमियों को सौंपा—काकासाहब, किशोरलाल भाई, विनोबा तथा मैं। हम चारों में से इस काम का मुख्य भार तो किशोरलाल भाई ने ही उठाया और इसके लिए

वे मेरे पास सावरमती-आश्रम आकर रहने लगे। यहाँ उनकी तन्दुरुस्ती अच्छी नहीं रहती थी, फिर भी लगभग चार महीने उन्होंने 'हरिजन'-पत्रों के सम्पादन में महत्त्वपूर्ण भाग लिया।

वापू के देहान्त के वाद चार अंक प्यारेलालजी ने निकाले। इसके वाद उन्होंने प्रकट किया कि "जैसा कि पिछले हफ्ते राजाजी ने कहा था, यह तो स्पष्ट है कि वापू के जाने के वाद 'हरिजन' उसके वर्तमान स्वरूप में नहीं चलाया जा सकता, इसलिए मित्रों और गुरुजनों की सलाह से जव तक इस विषय में हम अंतिम निर्णय पर नहीं पहुँच जाते, तव तक 'हरिजन' का वर्तमान रूप में प्रकाशन बन्द करने का मैंने निश्चय किया है।" इस पर से 'हरिजन'-पत्रों के व्यवस्थापक भाई जीवणजी देसाई ने लिखा कि प्रस्तुत पत्रों को पुनः शुरू करने या न करने के विषय में अंतिम निर्णय अगले महीने वर्धा में किया जायगा। इस प्रकार ता० २२ फरवरी से ४ अप्रैल तक पत्रों का प्रकाशन वंद रहा और इसके वाद वे किशोरलाल भाई के संपादकत्व में पुनः शुरू कर दिये गये। उस समय सरदार वल्लभभाई ने लिखा था :

"गांधीजी तथा उनके आदर्शों के साथ सहानुभूति रखनेवाले और प्रशंसक सारे संसार में फैले हुए हैं। इन सवकी यह इच्छा है कि गांधीजी की प्रवृत्तियाँ भारत में किस प्रकार चल रही हैं, इसकी उन्हें जानकारी मिलती रहे तथा इनके साथ उनका संपर्क वना रहे। इसके लिए कोई साधन निर्माण करना चाहिए, ऐसी माँगें उनकी तरफ से आती रहती हैं। उनकी इस स्वाभाविक माँग की पूर्ति यदि न की गयी, तो अनुचित होगा।"

किशोरलाल भाई ने इन पत्रों का संपादन करना स्वीकार किया, इस पर उन्होंने लिखा था :

"श्री किशोरलाल मशरूवाला ने अपने स्वास्थ्य की भारी मर्यादा की परवाह न करते हुए 'हरिजन' के कार्य में कूदने का साहसपूर्ण निर्णय किया, इसी कारण 'हरिजन'-पत्रों का पुनः प्रकाशन संभव हो सका है। अपने सम्पूर्ण जीवन में गांधीजी के आदर्शों का केवल अध्ययन ही नहीं, इन आदर्शों को अपने जीवन में उतारने का अनवरत यत्न करनेवाले श्री विनोवा के समान हमारे पास वे एक निष्ठावान् सत्य-शोधक हैं। अपनी मर्यादाओं को वे खूव अच्छी तरह जानते हैं।"

'हरिजन'-पत्रों का भार अपने सिर पर लेते हुए किशोरलाल भाई ने अपने 'भगवान् भरोसे' शीर्षक लेख में लिखा था :

"हरिजन'-पत्रों के संपादन का भार मैं भगवान् के भरोसे ही उठा रहा हूँ। यह मैं नम्रता से शिष्टाचार की भाषा में नहीं कह रहा हूँ। व्यवहार-बुद्धि से देखा जाय, तो मैं यह एक साहस का ही कार्य कर रहा हूँ। मेरी अपनी शक्ति को देखते हुए केवल लेख लिखने और संपादन का भार उठाने में बहुत बड़ा अंतर है।

"एक बात पहले से ही साफ कर देना जरूरी है। कुछ दिन पहले जो बात विनोबा ने अपने बारे में कही थी, वह मैं खुद अपने बारे में भी सही पाता हूँ। बहुत-सी बातें मैंने गांधीजी से ली हैं। बहुत-सी दूसरों से भी ली हैं। मेरे अंतःकरण में ये सब घुल-मिल गयी हैं और मेरे मानस के रूप में बन गयी हैं। इस कारण जो विचार मैं पेश करूँगा, वे सब गांधीजी के अनुसार ही होंगे; ऐसा नहीं कहा जा सकता। उन्हें आप मेरे अपने विचार ही समझें। मैं कभी-कभी शायद यह भी लिख जाऊँ कि ये विचार गांधीजी के हैं। इसके लिए खुद गांधीजी के प्रत्यक्ष लेखन को ही यदि मैं उद्धृत न करूँ, तो आप यही समझें कि मैंने गांधीजी के विचारों को जिस प्रकार समझा है; केवल उसी प्रकार मैं बता रहा हूँ। जो बात मैंने अपने विषय में कही, वही दूसरे लेखकों के बारे में भी समझी जाय।"

ता० ११-४-१९४८ के अर्थात् अपने संपादकत्व के दूसरे अंक में ही उन्होंने लिखा :

"किसी भी पत्र का संपादक बनकर उसे चलाने का उत्साह मुझमें नहीं है। परन्तु गांधीजी ने मुझ पर जो विश्वास किया, जो प्रेम मुझ पर बरसाया; वह ऋण अपनी सेवा द्वारा उनके रहते मैं पूरी तरह से अदा नहीं कर सका। मेरा यह दुर्भाग्य मुझे सदा दुःख देता रहता है और उसीने मुझे इस भार को उठाने से इनकार करने से रोका है। मैं इनकार कर दूँ और नवजीवन कार्यालय को संपादन की दूसरी सन्तोषजनक व्यवस्था के अभाव में गांधीजी का पत्र बन्द करने का निर्णय करना पड़े, तो यह मेरे लिए लज्जा की बात होगी।"

किशोरलाल भाई ने 'हरिजन'-पत्रों का संपादन लगभग साढ़े चार वर्ष किया। इस बीच उन्होंने गांधीजी के विचारों, भावनाओं और आदर्शों का विवरण इतनी यथार्थता तथा प्रभावपूर्वक किया कि कितने ही पाठक तो यही

कहते कि मानो गांधीजी उनके हृदय में बैठकर यह सब उनके द्वारा लिखवा रहे हैं। पाठकों को इतना सन्तोष होने पर भी किशोरलाल भाई को एक बात बहुत खटकती रहती थी। वह यह कि गांधीजी जो भी कुछ लिखते, उसे अमल में लाने के लिए इतनी जबरदस्त हलचल उठा देते थे और ऐसा वातावरण उत्पन्न कर देते थे कि जनता के बहुत बड़े भाग को तथा सरकार को भी लगता कि यह वस्तु किये बगैर काम नहीं चलेगा। उदाहरणार्थ—उन्होंने अनाज पर लगी बहुत-सी बन्दिशें (कण्ट्रोल) और परिमाण (राशनिंग) निश्चित करने के विरुद्ध जबरदस्त हलचल खड़ी कर दी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि सरकार को ये बन्दिशें लगभग उठा देनी पड़ीं। इनके उठ जाने पर जनता को साथ में लेकर गरीब जनता को अनाज की तकलीफ न हो, ऐसी योजनाएँ, यदि गांधीजी अधिक जिये होते, तो जरूर बनाते। परन्तु बहुत जल्दी उनका देहान्त हो गया और फिर बन्दिशों के बगैर काम चल ही नहीं सकता, इस विचार के माननेवाले अर्थशास्त्रियों और अधिकारियों ने इतना शोर मचाया और कठिनाइयाँ बतायीं कि सरकार को ये बन्दिशें फिर लगा देनी पड़ीं। किशोरलाल भाई ने सरकार की इस नीति के विषय में लिखने में कुछ बाकी नहीं रखा। इसमें से काला बाजार पैदा होता है, रिश्वत और भ्रष्टाचार के दरवाजे खुल जाते हैं, यह सब उन्होंने लिखा। परन्तु इसका कोई परिणाम नहीं हुआ। फिर भी विचारों का मूल्य कम नहीं होता। कोई भी सद्विचार आगे-पीछे अंकुरित हुए बिना और आचार में परिणत हुए बिना नहीं रहता। सरकार किसी प्रकार का नियन्त्रण न रखे, यह उनका आशय नहीं था। परन्तु उनके कहने का हेतु यह था कि यदि नियन्त्रण लगाने हैं, तो बड़े मालदारों पर नियन्त्रण लगाने की अधिक जरूरत है। 'नियन्त्रण का वाद' इस शीर्षक से उन्होंने 'हरिजन' के ता० २-१२-१९५० के अंक में जो लिखा है, वह आज भी विचार करने योग्य है :

"मेरा मतलब यह नहीं कि नियन्त्रणों (कण्ट्रोलों) की जरूरत नहीं है। खानगी संपत्ति और आय पर नियन्त्रण लगाने की जरूरत तो है ही। कितने बड़े पैमाने पर कारखाने खोलने दिये जायँ तथा एक ही स्थान में किस हद तक कारखान बनाने दिये जायँ; इस पर भी नियन्त्रण लगाना जरूरी है। नियन्त्रण इस बात पर भी लगाना जरूरी है कि बड़े-बड़े कारखाने उसी प्रकार का माल

बनानेवाले छोटे उद्योगों का गला न घोट दें और हजारों आदमियों की रोजी न छीन लें। उद्योग दो तरह के होते हैं। एक तो वे, जो विलास, स्वैराचार, उत्तेजना तथा हलकी वृत्तियों को उभाड़ते हैं और आबादी तथा धन द्वारा शहरों को बढ़ाते हैं। दूसरे प्रकार के उद्योग वे हैं, जो जीवन के लिए महत्त्व की जरूरत की चीजें पैदा करते हैं और आरोग्य, बल, आत्म-संयम, ज्ञान, उद्योग-परायणता को बढ़ाते हैं और देश की आबादी का वितरण उचित प्रकार से करते हैं।

"वितरण पर भी नियन्त्रण लगाने की जरूरत है। परन्तु आज जिस प्रकार के नियन्त्रण लगे हुए हैं, उस प्रकार के नहीं। हमसे कहा जाता है कि जब तक वितरण के लिए आवश्यक संपत्ति का उत्पादन नहीं होता, तब तक वितरण का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। पहले हमें अपना उत्पादन इतना बढ़ा लेना चाहिए कि जिससे प्रत्येक मनुष्य को वितरण करने लायक वस्तु तैयार हो जाय।

"यह दलील भुलावे में डालनेवाली और मुख्य मुद्दे को हवा में उड़ाकर बुद्धि में भ्रम उत्पन्न करनेवाली है। यदि हम यह मान लेते हैं कि आज वितरण के प्रश्न पर विचार भी करने की जरूरत नहीं है, तब तो फिर भाव-नियन्त्रण, माल का मर्यादित वितरण, दूकानदारों को सरकार की ओर से लैसन्स देने की झंझट, माल के आने-जाने की बन्दी—आदि अनेक कदमों के लिए कोई कारण ही नहीं रह जाता। परन्तु फिर भी ये सारे कदम उठाये जा रहे हैं, क्योंकि इनकी जड़ में यह भावना है कि उत्पादन पर्याप्त हो या न हो, फिर भी जितना भी माल उत्पन्न होता है, उसका वितरण न्यायपूर्वक होना हमेशा जरूरी है। और सच तो यह है कि जब पर्याप्त उत्पादन होता है, तब की अपेक्षा उत्पादन जब अपर्याप्त होता है, तब न्यायपूर्वक वितरण का विशेष ध्यान रखने की जरूरत होती है।

"वितरण के पहले उत्पादन पर जोर देना चाहिए—इस तरह की जो दलील पेश की जाती है, वह बड़े उद्योगों के लाभ के लिए ही की जाती है। खेती और खास तौर पर अनाज के विषय में यदि कोई प्रान्त या किसान ऐसी दलील पेश करे कि अपने प्रान्त की जरूरतें पूरी करने के बाद जो बचेगा, उतना ही अनाज

वह वाहर भेज सकेगा, तो उस पर स्वार्थ या संकुचितता का आरोप लगाया जायगा। अनाज की कमीवाले प्रान्त के लोगों को जव केवल छह औंस राशन दिया जा रहा हो, तव पूरे अनाजवाला प्रान्त या किसान भरपेट खाने का विचार कैसे कर सकता है ? मतलब यह कि अनाज की कमी भी सवको वाँट लेनी चाहिए। यही सिद्धान्त उद्योगों के मुनाफे और माल पर भी लागू किया जाना चाहिए।

"सच तो यह है कि वितरण के नियन्त्रण को एक कदम और आगे जाना चाहिए। मान लीजिये कि एक जमींदार है और उसके पास पिछले वर्ष के अनाज का काफी वड़ा संग्रह है और देश में नयी फसल पर्याप्त मात्रा में नहीं हुई है, तो उसे नयी फसल में से कुछ भी नहीं दिया जाना चाहिए। हाँ, वह पुराने अनाज के वदले में नया अनाज ले सकता है। इसी प्रकार जिन्होंने पूँजी एकत्र कर ली है, उन्हें धंधे के मुनाफे या कमीशन में से कुछ भी नहीं दिया जाना चाहिए, वल्कि उन्हें यह कहा जाना चाहिए कि जव तक हम उत्पादन निश्चित परिमाण में नहीं वढ़ा लेते, तव तक उन्हें अपनी सेवाएँ देश को मुफ्त में देनी चाहिए। ताकि गरीव लोगों के लिए कीमतें कुछ कम और उनकी मजदूरी की दरों में वृद्धि की जा सके। यह करना केवल न्याय करने के वरावर होगा।

"यदि हम नियन्त्रणों का उपयोग उत्पादन के साधनों और खानगी संपत्ति और आय पर नहीं करेंगे और केवल माल के भाव और वितरण के क्षेत्र में ही करते रहेंगे, तो व्यवहार में इस नीति का परिणाम विपरीत ही होगा। वितरण पर लगाये गये ये नियन्त्रण उन लोगों के लिए मददगार होने के वदले हानिकर सिद्ध होते हैं, जिनका जीवन-स्तर और आय कम होती है तथा जिनकी आजीविका के साधन अल्प हैं, क्योंकि इसमें उनकी अवगणना है। इस नियन्त्रण के परिणाम अधिक खराव होते हैं।"

आजकल वात-वात में गांधीजी के नाम का उपयोग किया जाता है और गांधीजी के अनुयायी कहे जानेवाले लोग भी एक-दूसरे पर गांधीजी के प्रति वेवफा होने का आरोप लगाते हैं। इस विषय में ता० १२-२-१९५० के 'हरिजन वन्धु' में किशोरलाल भाई लिखते हैं :

"जहाँ तक यह वात मुझ पर लागू होती है, मुझे स्वीकार करना चाहिए

कि कितनी ही बार मैंने ऐसे विचार प्रकट किये हैं, अथवा ऐसे काम भी किये हैं, जिनके कारण कितने ही लोगों की दृष्टि में मैं गांधीजी के प्रति बेवफा सिद्ध हुआ हूँ। इस आक्षेप का पात्र शायद मैं बन गया हूँगा। गांधीजी थे, तब भी उनका पूरी तरह से अनुयायी होना मेरे भाग्य में नहीं लिखा था। कई बार उनके विचारों से सहमत होने में मुझे जरा भी देर नहीं लगती थी और इन विचारों को विकसित करने में मैं कुछ भाग भी ले सकता था। कई बातें ऐसी भी खड़ी होतीं, जिनका प्रारम्भ में मैंने विरोध किया अथवा जिन्हें स्वीकार करने में मैंने बड़ी देर लगायी और तब तक तटस्थ भाव रखा। परन्तु कई बातें ऐसी भी थीं कि जिनके बारे में मैं गांधीजी के विचारों से अजातप्रत्यय रहा अर्थात् उन पर अपने मन में श्रद्धा नहीं उत्पन्न कर सका, अन्त तक असहमत ही रहा। स्वयं गांधीजी मेरी इस स्थिति को अच्छी तरह जानते थे। और मैं जैसा कि मैं था, उसी रूप में उन्होंने मुझे स्वीकार कर लिया था।........

"समाज-सेवा के सहारे लगभग आधी सदी तक गांधीजी के जीवन का विकास होता रहा है। कुछ-कुछ विषयों की तफसीलों के बारे में उनके विचारों में कई बार फेरफार होते रहे हैं। जिसका जीवन निरन्तर विकासशील रहा है, उसके जीवन में विचारों का परिवर्तन अनिवार्य है। इसलिए हर तफसील की बात में उनके वचनों में प्रामाण्य की खोज करना उचित नहीं। असल महत्त्व की बात तो विचार और आचार के आधार हैं। सत्य, अहिंसा, हर क्षेत्र में संयम और जहाँ नैतिक तथा आर्थिक हितों में विरोध हो, वहाँ नैतिक हित को पसन्द करना—ये हैं उनके विचार और आचार की बुनियादें।

"गांधीजी के प्रति बेवफा होने का आक्षेप करने का आजकल एक फैशन-सा चल पड़ा है। इसका एक खास कारण है। हमारे कितने ही भाइयों को 'गांधी', 'सर्वोदय', 'सत्य' और 'अहिंसा' आदि शब्दों का बार-बार उच्चारण करने की ऐसी आदत हो गयी है कि अब ये शब्द अर्थहीन पादपूरक बन गये हैं। हर नेता अथवा अध्यक्ष को यही लगता रहता है कि जब तक वह यह नहीं कहेगा कि 'हमारे राष्ट्रपिता का यही उपदेश था' अथवा 'संसार का कल्याण गांधीजी के बताये मार्ग पर चलने में ही है', तब तक उसके भाषण की बुनियाद कच्ची ही रह जायगी।

"राष्ट्रपिता के नाम का बार-बार सहारा लेने के बजाय हम अपने हृदय में बैठे हुए सत्य और प्रेमस्वरूप परमात्मा का आधार लें, तो अधिक अच्छा हो। क्योंकि गांधीजी ने जो कुछ कहा अथवा किया, वह उनकी सत्य की खोज और उनके हृदय में बसी हुई अहिंसा में से ही प्रकट होता रहता था।"

जिस प्रकार गांधीजी के नाम का सहारा न लेने के बारे में वे कहा करते थे, उसी प्रकार रचनात्मक कार्यकर्ताओं को वे बार-बार सावधान किया करते थे कि वे सरकार पर आधार न रखें:

"रचनात्मक कार्य करनेवाले सेवकों और सुधारकों के दिमाग में एक बात मैं पुनः-पुनः अंकित कर देना चाहता हूँ कि वे सरकारी तंत्र से अधिक आशा-अपेक्षा न करें। अच्छी-से-अच्छी सरकार बहुत हुआ, तो सेवकों के मार्ग की रुकावटों को दूर कर सकती है। जनता के पुनरुद्धार का, बल्कि उसके भीतर नवीन प्राणों का संचार करने का काम तो अपनी इच्छा से लोकसेवा करनेवाले सेवकों का ही है।......

"सरकार को सभी काम करने चाहिए, ऐसी वृत्ति नहीं रखनी चाहिए। इससे जनता पंगु और सरकार की मुहताज बन जायगी।

"रचनात्मक कार्यकर्ताओं को चाहिए कि वे अपने-आपको तथा अपनी प्रवृत्तियों को सरकार की मदद पर आधारित न बना लें।"

खादी और ग्रामोद्योगों के प्रति सरकार की नीति यद्यपि थोड़ी-बहुत सहानुभूतिपूर्ण है, तथापि उनमें उसकी पूर्ण श्रद्धा नहीं है। यह बात कार्य-कर्ताओं को पूरी तरह स्पष्ट करते हुए उन्होंने जो सावधानी की सूचना दी है, वह स्मरणीय है:

"खादी के पीछे पागल हम सब लोगों को जो चिन्ता रहा करती है, उसे मैं समझ सकता हूँ। परन्तु मुझे भय है कि हम वर्तमान सरकार के मानस को समझने में भूल कर रहे हैं। उसकी लम्बी नीति तो स्पष्ट ही है। वह हर क्षेत्र में पूरी तरह से उद्योगीकरण चाहती है। इस क्षेत्र में वह प्रगति नहीं कर रही है, इसका कारण इच्छा का अभाव नहीं है; बल्कि यह है कि बड़े यन्त्र मिल नहीं रहे हैं, अथवा उनके खरीदने अथवा उन्हें यहीं बनाने के साधन उसके पास नहीं हैं।

"परन्तु संपूर्ण उद्योगीकरण को अभी समय लगेगा। फिर उद्योगीकरण के पहले बीच के समय में बहुत बड़ी संख्या में लोग एकाएक बेकार हो जायँगे। उन्हें काम देने का सवाल खड़ा होगा। पश्चिम के लोग रोजीघर (Work house) अथवा सदाव्रत शालाओं के द्वारा इस समस्या को हल करते हैं। रोजीघर भी तो वास्तव में कामचलाऊ धन्धे के नाम पर सदाव्रत ही हैं।....

"सरकार चरखा-संघ की ओर न्यूनाधिक परिमाण में स्थायी रोजीघर की दृष्टि से ही देखे। हमारा देश इतना विशाल है और बेकारी, अकाल आदि प्रश्न इतने महान् और व्यापक हैं कि आनेवाले कितने ही वर्षों तक भारत के भिन्न-भिन्न भागों में न्यूनाधिक रूप में खादी का काम चलाते ही रहना पड़ेगा। परन्तु इसका अर्थ हमें यह नहीं करना चाहिए कि सरकार देश की सारी जनता को खादीधारी बना देना चाहती है। फिर जो थोड़ी-बहुत खादी पैदा होगी, उसे बेचना भी पड़ेगा ही। इसलिए हमारे जैसे लोग, जो अपनी इच्छा से उसके प्रचारक बनेंगे, उन्हें आदर की दृष्टि से देखा जायगा और जो सार्वजनिक संस्थाएँ खादी को आश्रय प्रदान करेंगी, उनकी तरफ भी सरकार कृपादृष्टि रखेगी।

"सरकार की इस दृष्टि को यदि हम समझ लेंगे, तो उसके कामों और निवेदनों को देखकर हमें आश्चर्य नहीं होगा। हमारी विचार करने की पद्धति भले ही भिन्न हो, परन्तु हमें इतना तो समझ ही लेना चाहिए कि यदि इस विचारसरणी का अभाव हमें सरकारी तंत्र के द्वारा करवाना है, तो इसके लिए पूरी तरह से हमारे विचारों को माननेवाली सरकार ही होनी चाहिए। परन्तु यह तब तक संभव नहीं है, जब तक कि जनता भी इसी विचार को मानने न लग जाय। तात्पर्य यह कि हमें सरकार से किसी प्रकार की आशा नहीं करनी चाहिए। बल्कि लोगों में इस विचारसरणी के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए परिश्रम करना चाहिए।" ('हरिजन-बंधु' ता० १७-६-१९५०)

पिछले चुनावों के समय कांग्रेस की ओर से जो घोषणा-पत्र जारी किया गया था, उसका विवेचन करते हुए इस वस्तु को उन्होंने और भी स्पष्टता के साथ कहा है। यह घोषणा-पत्र सरकार का नहीं, कांग्रेस-पक्ष का था। इसलिए बात कुछ दूसरे शब्दों में कही गयी है। परन्तु भाव तो वही है:

"कांग्रेस मान्य करती है कि यद्यपि (गाँवों के) कितने ही लोगों को बड़े उद्योगों में स्थान मिल जायगा, तथापि उन्हें रोजी देनेवाले मुख्य साधन तो छोटे पैमाने के और घरेलू उद्योग ही होंगे। कांग्रेस यह भी मानती है कि :

"इन गृहोद्योगों का भारत में खास करके विशेष महत्त्व है और राज्य की ओर से उनका विकास किया जाना चाहिए तथा उनको रक्षण मिलना चाहिए और इसी तरह के दूसरे उद्योगों के साथ उनका समन्वय भी कर दिया जाना चाहिए।"

परन्तु खादी और ग्रामोद्योगों का काम करनेवाली गांधीजी की संस्थाओं के कार्यकर्ताओं के दिलों में कहीं झूठी आशाएँ न खड़ी हो जायँ, इसलिए स्पष्ट कर दिया गया है :

"परन्तु यह बात हमेशा ध्यान में रहनी चाहिए कि छोटे पैमाने के तथा घरेलू उद्योगों को अधिक उत्पादक और आर्थिक दृष्टि से लाभदायक बनाने के लिए उनमें अच्छी-से-अच्छी पद्धतियों का उपयोग करना होगा।

"गृहोद्योगों को संशोधन और प्रोत्साहन देकर और जहाँ संभव होगा, औद्योगिक सहकारी मण्डलों की रचना द्वारा उनकी मदद की जायगी। परन्तु उसने चरखा और ग्रामोद्योगों का नाम छोड़ दिया है। फिर भी हाथ-करघों पर बुननेवालों को सान्त्वना देने के लिए वह आतुर है। उन्हें पूरा आवश्यक सूत देने का प्रबन्ध करने का आश्वासन घोषणा-पत्र में है। घोषणा-पत्र ने चरखे को साफ शब्दों में फेंक तो नहीं दिया है, परन्तु उसका इशारा तो स्पष्ट ही है। चरखा, घानी, चक्की और ढेंकी आदि को भावी कांग्रेस-सरकार से प्रोत्साहन की आशा नहीं रखनी चाहिए। घोषणा-पत्र पर से मैं यह सार निकालता हूँ कि गृहोद्योगों में काम करनेवालों को इस तरह के बड़े उद्योगों के अनुकूल होकर काम करना होगा। यह समझकर ही उन्हें उनमें जाना चाहिए।

"कुल मिलाकर कहूँ, तो घोषणा-पत्र सर्वोदय की अपेक्षाओं को नहीं पहुँचता। रचनात्मक कार्यक्रम के कितने ही महत्त्वपूर्ण अंग—उदाहरणार्थ शराबबंदी, ग्रामोद्योग, नयी तालीम आदि के प्रति उसकी दृष्टि ढीली अथवा प्रत्याघाती भी है। फिर उसके सामने कुछ लक्ष्य है—उदाहरणार्थ भाव-नियंत्रण

और अनाज के वितरण के द्वारा कीमत की दरें घटाना या वढ़ाना। परन्तु अनिष्टों के मूल कारणों पर ध्यान नहीं दिया गया है। इस कारण इसकी सफलता में मुझे सन्देह है।

"हमारे देश की वर्तमान अवस्था में घोपणा-पत्र में दिये गये आश्वासनों की पूर्ति नहीं, वरन् सरकारी तन्त्रों की शुद्धि और उम्मीदवारों का अपना शुद्ध चरित्र, प्रामाणिकता और लोकसेवा की निष्ठा—ये चीजें अधिक महत्त्व रखती हैं।" ('हरिजन-वन्धु' ता० २८-७-१९५१ तथा ४-८-१९५१)

उन चुनावों में रचनात्मक कार्यकर्ता उम्मीदवारों को वोट कैसे दें, इस विपय में भी उन्होंने स्पष्ट रूप से मार्गदर्शन किया था :

"गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम में विश्वास रखनेवाले लोगों को समझ लेना चाहिए कि इस समय एक भी ऐसा पक्ष नहीं हो सकता, जो गांधीजी के कार्यक्रम को सोलहों आने चला सके और ऐसा भी नहीं होगा, जो उसे एकदम फेंक दे। इसलिए उन्हें अपने वोट का उपयोग करने से पहले दो बातें देखनी चाहिए :

(१.) उम्मीदवार साम्प्रदायिक मानसवाला न हो।

(२.) वह शुद्ध-चरित्र और ईमानदार हो।

"यदि कोई पक्ष हमारे क्षेत्र में ऐसा उम्मीदवार खड़ा न कर सके, तो अच्छा है कि आप वोट देने जायँ ही नहीं।" ('हरिजन-वन्धु' ता०२४-६-१९५०)

कांग्रेस के अध्यक्ष-पद के लिए श्री टण्डनजी, आचार्य कृपालानी और श्री शंकरराव देव, तीनों के बीच होड़ पैदा हुई, तव गांधीजी की विचारसरणी को माननेवाले एक भाई ने प्रश्न पूछा कि "इन तीन उम्मीदवारों में से किसे पसन्द किया जाय?" इसका उन्होंने यह उत्तर दिया :

"वहुत दिन पहले मैंने अपनी यह राय प्रकट की थी कि प्रधानमन्त्री अर्थात् देश के वास्तविक नेता को ही अपने पक्ष का प्रमुख होना चाहिए। कुछ दिन पहले श्री मोहनलाल सक्सेना ने भी यही विचार दूसरे प्रकार से प्रकट किया था। उन्होंने कहा था कि कांग्रेस के अध्यक्ष को ही भारत का प्रधानमन्त्री होना चाहिए। हाँ, रोज-ब-रोज के काम के लिए वे अपनी पसन्द के किसी आदमी को कार्यवाहक अध्यक्ष के तौर पर नियुक्त कर सकते हैं। परन्तु यदि यह

संभव न हो, तो कांग्रेस का अध्यक्ष ऐसा योग्य व्यक्ति हो, जो प्रधानमन्त्री को वल, समर्थन और सलाह दे सके। दोनों के वीच अत्यन्त निकट का सम्वन्ध और भिन्न प्रश्नों तथा दूरगामी प्रश्नों के प्रति उनकी दृष्टि जितनी भी संभव हो, एक-सी होनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं होगा, तो कांग्रेस के अध्यक्ष और प्रधानमन्त्री शायद ही सरकार के साथ-साथ काम कर सकेंगे और आगे-पीछे दोनों में से किसी एक को या तो अलग होना पड़ेगा या दूसरे के नीचे दवकर रहना पड़ेगा।" ('हरिजन-वन्धु' ता० २६-८-१९५०)

किशोरलाल भाई का उपर्युक्त जवाव जव प्रकाशित हुआ, तव वहुत से कांग्रेसी नेताओं को वुरा लगा कि किशोरलाल भाई अपनी तवीयत के कारण वाहर नहीं घूम सकते, इसलिए उन्हें वर्तमान राजनैतिक परिस्थिति की जानकारी नहीं है। फिर भी ऐसे विचार प्रकट करके वे कठिनाइयाँ पैदा कर दिया करते हैं। किशोरलाल भाई वाहर नहीं घूम सकते थे, यह वात सही है। परन्तु उनका पत्र-व्यवहार इतना विशाल था कि उन्हें देश की परिस्थिति की पूरी-पूरी जानकारी रहती थी और अन्त में तो उन्हींकी राय सही सावित हुई। टण्डनजी अध्यक्ष चुने गये। परन्तु वहुत जल्दी उन्हें त्यागपत्र दे देना पड़ा। फिर इस पद पर पं० जवाहरलालजी आये, तव जाकर कांग्रेस का ठिकाना लगा।

'हरिजन'-पत्रों के सम्पादक की हैसियत से उनके पास शासन-प्रवन्ध के वारे में भी वहुत-सी शिकायतें आती रहतीं। उस विषय में उन्होंने यह नीति रखी थी कि शिकायत जिस महकमे से सम्वन्ध रखती, उसके पास उसे भेज देते और इस विपय में उसका क्या कहना है, वह जान लेते। इस पद्धति से यह होता कि यदि शिकायत झूठ होती, तो मालूम हो जाता और यदि सच्ची होती, तो शिकायत करनेवाले को वाला-वाला राहत मिल जाती। परन्तु इसके लिए उन्हें वहुत पत्र-व्यवहार करना पड़ता। लेख लिखने की अपेक्षा इस पत्र-व्यवहार का वोझ उन पर अधिक था। परन्तु इस पत्र-व्यवहार को संपादक की हैसियत से वे अपना मुख्य कर्तव्य समझते थे।

इस पत्र-व्यवहार से एक खेदजनक लापरवाही का किस्सा प्रकाश में आ गया। वह उल्लेख करने योग्य है। पश्चिम खानदेश के तलोदा नामक एक गाँव में एक दीवानी कोर्ट स्थापित करने के वारे में सन् १९५० के नवम्वर

में हुक्म जारी हुआ। उसके लिए एक मकान भी ले लिया गया और जज को छोड़कर कोर्ट के कारकून आदि कर्मचारियों की नियुक्तियाँ भी हो गयीं, जिनकी तनख्वाह मासिक लगभग एक हजार की थी। परन्तु छह महीने वीतने पर भी जज की नियुक्ति नहीं हुई। इतने दिन वीत जाने पर भी जव जज की नियुक्ति नहीं हुई, तव एक छोटे-से व्यापारी ने किशोरलाल भाई को यह वात लिख भेजी। इस मित्र के साथ पत्र-व्यवहार करने में भी कितने ही महीने वीत गये। तव २६-२-१९५२ को किशोरलाल भाई ने वम्वई हाईकोर्ट के अपील-विभाग के रजिस्ट्रार के साथ पत्र-व्यवहार शुरू किया। उसका जवाव नहीं मिला, तव ता० १० मार्च को हाईकोर्ट के वड़े जज को पत्र दिया। इसके परिणामस्वरूप ता० १७-३-१९५२ को वहाँ एक मुन्सिफ भेज दिया गया और इस ढील का दोप हाईकोर्ट ने वम्वई-सरकार पर डाला। तव किशोरलाल भाई ने वम्वई-सरकार को लिखा। इसका जवाव उन्हें एक महीने में मिला। उसमें सरकार ने यह दोप हाईकोर्ट पर डाला। असल वात यह थी कि न्याय-विभाग और शासन-प्रवन्ध-विभाग दोनों की ओर से इसमें लापरवाही रही। इसके परिणामस्वरूप सोलह महीने तक मासिक एक हजार के हिसाव से निरर्थक खर्च हुआ।

सरकारी नौकरों के वारे में भी उनके पास वहुत-सी शिकायतें आती रहतीं। इस पर से सरकारी नौकरों को सम्वोधन करते हुए 'हरिजन-वंधु' के ता० २१-८-१९४९ के अंक में उन्होंने एक लेख में लिखा था :

"मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि भिन्न-भिन्न सरकारों के प्रधानमन्त्री भले ही आपकी योग्यता, सेवा और वर्ताव से सन्तुष्ट हों, परन्तु आपके विपय में लोकमत तो इससे उलटा ही है। इतना ही नहीं, यह भी शिकायत है कि जनता के प्रति आपका व्यवहार पिछले शासन से भी अधिक असन्तोपप्रद है। आपका महकमा पहले की अपेक्षा अधिक उद्धत, अधिक सड़ा हुआ, कम कुशल, अधिक ढीला, धन और रिश्तों का अधिक खयाल करनेवाला वन गया है। सन् १९४७ में आपके हाथों में शासन-प्रवन्ध था, उसकी अपेक्षा आपका आज का शासन-प्रवन्ध जनता के लिए अधिक कष्टदायक हो गया है।...

"मैं आपको बता दूँ कि मेरे पास केवल जनता की तरफ से ही शिकायतें नहीं आ रही हैं, कितने ही सरकारी नौकरों ने भी इसी प्रकार की शिकायतें भेजी हैं। उदाहरणार्थ, रेलवे और राशन की दूकानों में जो-जो तरकीबें, रिश्वतखोरी और बेईमानियाँ चल रही हैं; उनकी खबरें मुझे इन महकमों में काम करनेवाले आदमियों के द्वारा ही मिली हैं।......

"मैंने तो यहाँ सामान्य चित्र और असर का वर्णन किया है। जो प्रामाणिक सेवक हैं, वे भी इस पर गंभीरता के साथ विचार करें।

"आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप अपने जीवन और आचार में भगवान् को बसाइये। ऐहिक समृद्धि बढ़ाने की लालसा में आपने अपने घर और ऑफिस से भगवान् को रुखसत दे दी है और मान लिया है कि वृद्धावस्था में भगवान् की अपेक्षा धन अधिक अच्छा मित्र है। परन्तु आपकी यह मान्यता गलत है। यह आपके और समग्र देश के नाश को निमन्त्रण देगी। परमात्मा आपको ऐसा बल और बुद्धि दे कि आप जनता के अधिक सच्चे और अधिक अच्छे सेवक बन सकें।" ('हरिजन-बन्धु' ता० २१-८-१९४९)

सिनेमा के गंदे चित्र, रेडियो के अश्लील गीत, गंदे उपन्यास और कहानियाँ, कामोद्दीपक दवाएँ, बीभत्स चित्रोंवाले विज्ञापन, हलके मनोरंजक चित्र, समाचार और शब्दों की प्रतियोगिता जैसे जुए आदि सामाजिक अनिष्टों ने आजकल देश में घर-सा कर लिया है और छोटे-बड़े, पढ़े-लिखे, अपढ़, अमीर-गरीब, शहरी-देहाती—सभी इनमें से किसी-न-किसी बुराई के जाल में फँस जाते हैं। इस विषय में भी उन्होंने सुधारकों को अच्छी चेतावनी दी है। सुधारक चाहते हैं कि इस अनिष्ट को बंद करने में सरकार भी उनकी मदद करे। इस विषय में उन्होंने लिखा है:

"आपको समझ लेना चाहिए कि अच्छी प्रजातंत्री सरकार नैतिक दृष्टि से भी ऊँची होती है, ऐसी बात नहीं है। प्रजातंत्री सरकार तो नैतिक दृष्टि से ऊँचे या नीचे लोकमत का प्रतिबिम्ब होती है और उसीका अनुसरण करती है। बहुत अधिक हुआ, तो यह इतना कर सकती है कि जनता के आध्यात्मिक या नैतिक स्तर को ऊँचा चढ़ाने में कोई बाधाएँ हों, तो उन्हें दूर कर दे। परन्तु यदि इसके लिए भी लोकमत तैयार न हो, तो यह इतना भी सफलतापूर्वक नहीं

कर सकेगी। हाँ, सरकार की शासकीय नीति भले ही इन बुराइयों के विरुद्ध कोई कानून न बना सके, परन्तु हमारे मन्त्री और नेता ऐसे नाटकों, नृत्यों के समारोहों में उपस्थित न रहें, ऐसे सिनेमाघरों और नाटकघरों का उद्घाटन न करें; तो इस प्रकार नैतिक सुधार के कामों में अवश्य कुछ कर सकते हैं। परन्तु इसके लिए भी लोकमत का असर होना चाहिए। इसलिए नैतिक सुधारकों को पहले जनता में इसके लिए खूब काम करना चाहिए और व्यापक लोकमत पैदा करना चाहिए। इसके बाद ही इस सम्बन्ध में कोई कानून बनाने के लिए सरकार से कहा जा सकता है।" ('हरिजन-बन्धु' ता० २९-१२-१९५१)

वनस्पति घी के विषय में सरकार की नीति से उन्हें बड़ा असन्तोष और दुःख था। ता० १५-८-१९४८ के 'हरिजन बन्धु' में उन्होंने लिखा था :

"मैं इस प्रश्न को नैतिक दृष्टि से देखता हूँ। उसके सामने इसके आरोग्य सम्बन्धी और आर्थिक पहलू गौण हो जाते हैं। वनस्पति घी और किसी अन्य काम की अपेक्षा घी में मेल करने के काम में सबसे अधिक आता है। इस पर इसका आर्थिक महत्त्व बहुत अधिक अवलम्बन करता है। यह वस्तु ग्रामवासियों तथा व्यापारियों की नीयत को भ्रष्ट कर रही है। केवल वनस्पति घी के रूप में इसका उपयोग करनेवालों की संख्या बहुत कम है। शुद्ध घी खरीदने के लिए आदमी बाजार में जाता है। परन्तु वहाँ उसे थोड़े-से शुद्ध घी के साथ मिला हुआ यह वनस्पति घी ही मिलता है—और सो भी वनस्पति की अपेक्षा अधिक ऊँची कीमत पर। इस बात को जानते हुए भी लोग वनस्पति की तरफ झुकते ही जाते हैं। बहुत-से लोग अभी तक शुद्ध घी खरीदने का आग्रह रखते हैं और उसके लिए वनस्पति की अपेक्षा बहुत ऊँची कीमत चुकाते रहते हैं। फिर भी मिलता है, उन्हें वही मिलावटी घी। किसान भी उसे मक्खन के साथ मिलाने की कला सीख गये हैं। परिणामस्वरूप मक्खन खरीदनेवाले को भी शुद्ध मक्खन नहीं मिल सकता। इस तरह यह वनस्पति घी ठगी और बेईमानी को बढ़ावा देता है। इसके उत्पादन को रोकने के लिए और दूसरा कोई कारण न भी हो, तो भी यह एक पर्याप्त कारण माना जाना चाहिए।

"इस पदार्थ के कारण पशु-पालन का काम अधिक कठिन बन गया है।

शुद्ध घी पैदा करनेवाले को अपने माल की पूरी कीमत न मिलने के कारण वह अपने पशुओं की उपेक्षा करने लगता है। इस कारण आरोग्य और दूध भी बिगड़ता जा रहा है। जिस तरह झूठा सिक्का असली सिक्के को बाजार में से निकाल देता है, उसी प्रकार यह वनस्पति घी शुद्ध घी को बाजार में से भगा रहा है।...... पोषक तत्त्वों के संशोधन का काम मक्खन, घी, वगैर शुद्ध किया हुआ तेल और शुद्ध किया हुआ तेल—इन सबके गुणों के ज्ञान के लिए अवश्य महत्त्व की वस्तु है। परन्तु हाइड्रोजन की प्रक्रिया से गुजरे हुए तेल की बात अलग है। कितने ही लोग कहते हैं कि शहर में रहनेवाले लोग तेल के बजाय वनस्पति की माँग करते हैं। क्योंकि वनस्पति दानेदार दीखता है। शुद्ध घी के अभाव में वनस्पति खाने से उन्हें शुद्ध घी खाने-जैसा कुछ सन्तोष प्राप्त होता है। यदि सचमुच ऐसे कुछ लोग हों, तो जो वस्तु गुणकारी नहीं है, वह उन्हें देने के बजाय अधिक उचित यह होगा कि उन्हें उनकी भूल बता दी जाय और सच्चा ज्ञान दिया जाय। जो लोग महँगे के कारण घी का उपयोग नहीं कर सकते, वे वनस्पति का उपयोग करने के बजाय शुद्ध तेल का उसके असली रूप में ही उपयोग करें। क्योंकि वनस्पति भले ही घी के जैसा दीखता हो, परन्तु गुण में वह शुद्ध तेल से कम ही होता है। जिस प्रकार हमें अफीम का व्यापार चलने नहीं देना चाहिए, उसी प्रकार हाइड्रोजन की प्रक्रिया से गुजरे हुए खाद्य तेल का भी व्यापार हमें चलने नहीं देना चाहिए।"

सन् १९५१ के आरम्भ में अहमदाबाद की अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक में वनस्पति पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए सरकार से प्रार्थना करने का प्रस्ताव बहुत बड़े बहुमत से मंजूर किया गया था। परन्तु, चूंकि प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू तथा कुछ अन्य बड़े नेता इसके विरोध में थे; इसलिए सरकार ने उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इसी दरमियान श्री ठाकुर-दास भार्गव वनस्पति-निषेध पर संसद् में एक बिल पेश करना चाहते थे, परन्तु प्रधानमन्त्री ने आश्वासन दिया कि घी में होनेवाली मिलावट को रोकने के लिए आवश्यक उपाय सुझाने के लिए एक कमेटी की नियुक्ति कर दी जायगी। इस पर उन्होंने इस बिल को रोक लिया। प्रधानमंत्री के आश्वासन में तीन बातें थीं : (१) सरकार स्वीकार करती है कि घी में बहुत

मिलावट होती है। (२) सरकार इसे रोकने के लिए चिन्तातुर है। (३) जमे हुए तेल पर किये गयेप्र योगों से सिद्ध हो गया है कि वह हानिकर नहीं है। इस पर टीका करते हुए किशोरलाल भाई ने ता० ६-१-१९५१ के 'हरिजन-वन्धु' में लिखा था :

"कहना होगा कि सरकार की यह कृपा है कि उसने सीधे-सीधे स्वीकार कर लिया कि घी में मिलावट बहुत अधिक होती है और इस वात को सिद्ध करने का भार जनता पर नहीं डाला। परन्तु इस विषय में हमें पूरी शंका है कि घी में होनेवाली मिलावट को रोकने के लिए सरकार चिन्तातुर है, इस वात को स्वीकार करने की कृपा जनता करेगी या नहीं। क्योंकि सरकार को सचमुच ऐसी कोई चिन्ता है, इस वात को सिद्ध करनेवाली कोई वात जनता के देखने में नहीं आयी। इस मेल को रोकने के लिए कार्य-समिति द्वारा आदेश जारी हुए अठारह महीने से भी अधिक समय वीत गया है, परन्तु उसके विषय में अभी तक कुछ भी नहीं किया गया है। सरकार आज जो समिति नियुक्त करने की वात कर रही है, कम-से-कम उसकी नियुक्ति भी तो कर देती। इसी प्रकार इतमीनान दिलानेवाली तीसरी वात में जनता को वैज्ञानिकों के तथा-कथित प्रयोगों से कुछ भी सन्तोष नहीं होगा। कहूँ तो शायद वुरा लगेगा कि यदि जवाहरलाल नेहरू के स्थान पर इस विषय में भिन्न राय रखनेवाले व्यक्ति—उदाहरणार्थ डॉ० प्रफुल्लचन्द्र घोष—भारत के प्रधानमन्त्री होते, तो शायद परिणाम कुछ दूसरा ही दिखाई देता। संभव है कि प्रधानमन्त्री को सामान्य जनता की अपेक्षा वनस्पति के उत्पादन में लगे हुए व्यापारियों की अधिक चिन्ता है। इससे इन व्यापारियों को यह निश्चय हो जायगा कि इस सरकार के हाथों में उनका उद्योग सुरक्षित है।"

उनके सम्पादन-काल के अंतिम दिनों में विनोवा के भूदान-यज्ञ-आन्दोलन को गति देने के लिए उन्होंने बहुत लिखा। ता० २३-८-१९५२ के 'हरिजन-वन्धु' में उन्होंने लिखा था :

"विनोवा इस प्रश्न पर जितनी उत्कटता दिखा रहे हैं तथा शक्ति लगा रहे हैं, उसका सौवाँ हिस्सा भी कोई सरकार अथवा सार्वजनिक संस्था करती हो, ऐसा नहीं लगता। ग्रामीण जनता में जो नवीन चेतना पैदा हो गयी है,

उसका ध्यान बहुत कम लोगों को है। अभी तक उन्हें होश ही नहीं है। इनमें कितने ही मुख्य-मुख्य रचनात्मक कार्यकर्ता भी हैं। वे नहीं जानते कि वर्तमान स्थिति पके हुए फोड़े की तरह है। यदि इसे समय रहते नश्तर नहीं लगाया गया, तो इसका मवाद खून में मिल जायगा और सारे शरीर में इसका विष फैलने में देर नहीं लगेगी। आज तो स्वयं विनोवा ने इस स्थिति का सही-सही और स्पष्ट दर्शन कर लिया है और अपने निर्वल शरीर की बगैर परवाह किये और दूसरे तमाम कार्य छोड़कर इसे उन्होंने 'करो या मरो' का जीवन-कार्य वना लिया है। यदि प्रत्येक पक्ष और प्रत्येक मुख्य कार्यकर्ता भूदान-यज्ञ के कार्य में इसी लगन से लग जाय, तो पाँच वर्ष के अन्दर हम जमीन के प्रश्न को हल कर सकते हैं। विनोवा ने कहीं कहा भी तो है न कि सन् १७५७ और सन् १८५७ के वर्ष इस देश के लिए क्रान्तिकारी सावित हुए हैं। दोनों का रूप हिंसक था। इसी कारण भारत विदेशियों का गुलाम बन गया। अव विदेशी हुकूमत चली गयी। परन्तु जनता की मुक्ति-साधना तो अभी वाकी ही है। गांधीजी के मार्ग-दर्शन में हम विदेशी हुकूमत से मुक्त हो गये। अव जिस मार्ग से विनोवा के मार्गदर्शन में जमींदारों का हृदय-परिवर्तन हो रहा है, उसी पर चलकर सन् १९५७ तक जनता की मुक्ति के प्रश्न को भी हम हल कर लें।"

अन्त में 'गांधीवाद का विसर्जन' शीर्षक लेख लिखकर उन्होंने वड़ी वीरता दिखायी थी। इसमें गांधीजी तथा गांधीवाद के समस्त अनुयायियों से उन्होंने हार्दिक प्रार्थना की थी कि "हम यह कहना शुरू कर दें कि अहिंसा, लोकशाही या साम्यवाद अथवा अन्य किसी भी प्रश्न पर मेरे ये विचार हैं। यह न कहें कि गांधीजी कहते थे कि यह 'गांधीवाद' है। गांधीजी ने जिस प्रकार 'गांधी-सेवा-संघ' का विसर्जन कर दिया, उसी प्रकार हम गांधीवाद का विसर्जन कर दें।

"इसका मतलव यह नहीं कि गांधीजी के जीवन और उनके लेखों का हम वारीकी से अध्ययन न करें या उनके विचारों को लिख न लें। उनके उदात्त जीवन और विशाल साहित्य के अध्ययन की तो सदा आवश्यकता रहेगी और पढ़नेवाले को उससे लाभ ही होगा।"

किशोरलाल भाई के 'हरिजन वन्धु' में छपे लेखों में से कुछ उद्धरण ऊपर दिये हैं। 'हरिजन'-पत्रों को वे यशस्वी रीति से सँभालते थे, फिर भी पत्रों की

ग्राहक-संख्या प्रतिवर्ष घटती ही जाती थी। 'नवजीवन-ट्रस्ट' को वहुत नुकसान होने लगा, तव फरवरी १९५२ में उन्होंने इन पत्रों को वन्द करने का अपना निर्णय प्रकट किया। परन्तु जनता की ओर से माँग आयी कि ये पत्र तो जारी रहने ही चाहिए। कितने ही भाइयों ने ग्राहक वढ़ाने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया और जव ग्राहक-संख्या काफी वढ़ गयी, तव 'नवजीवन-ट्रस्ट' ने फिर घोषणा कर दी कि पत्र जारी रहेंगे। किशोरलाल भाई ने ता० २३-२-१९५२ के अंक में लिखा :

"ट्रस्ट का निर्णय वदलवाकर पत्रों को जारी रखने का निर्णय करवाकर जनता ने खुद अपनी, मेरी तथा ट्रस्ट की जिम्मेवारी को वहुत वढ़ा लिया है। ये पत्र मेरी लिखने की या संपादक-पद की हविस पूरी करने के लिए पहले भी नहीं थे। ट्रस्ट ने तो यह मानकर पत्रों को चालू रखने का निश्चय किया कि वापू के पत्र चालू रहें, ऐसा जनता चाहती है। मैंने भी यही समझकर यह जिम्मेदारी उठायी थी। परन्तु अनुभव से यह शंका हो गयी कि जनता की इच्छा उतनी नहीं है, जितनी कि मान ली गयी थी; नहीं तो ग्राहक इतने कम नहीं होने चाहिए थे।.........

"अव जनता की माँग पर पत्रों को जारी रखा जा रहा है। इसलिए उनको जारी रखने की जनता की जिम्मेवारी वढ़ जाती है।

"और इस कदम ने मेरी जिम्मेवारी को जितना वढ़ा दिया है, उसका जव विचार करता हूँ; तव तो मेरा दिमाग ही थक जाता है। मेरा शरीर और इस कारण मेरा दिमाग भी यह वोझ उठाने में दिन-व-दिन अधिकाधिक असमर्थ होता जा रहा है। फिर भी यह स्थिति मुझे वेचैन कर देती है कि ये पत्र इसलिए जारी रहें कि मैं उनका संपादक वना रहूँ।"

जव पत्रों को वंद करने की वात चल रही थी, तव किशोरलाल भाई वम्वई में थे। वहाँ से वे वर्धा गये। तव से उनकी तवीयत दिन-व-दिन विगड़ती ही गयी। देहान्त के एक-डेढ़ महीने पहले उन्होंने मुझे एक पत्र में लिखा था कि "अव ऐसा नहीं लगता कि अधिक समय काम हो सकेगा।" इसके वाद तो उनकी वीमारी और कष्टों को देखकर खुद 'नवजीवन ट्रस्ट' ने ही निश्चय कर लिया कि उन्हें इस जिम्मेवारी से मुक्त कर दिया जाय। ॰॰॰

देहान्त :२३:

किशोरलाल भाई को पिछले लगभग सैंतीस वर्ष से दमे की बीमारी थी। इस बीमारी के रहते हुए भी उन्होंने जो काम किया, वह किसी निरोग मनुष्य से कम नहीं है।

'हरिजन'-पत्रों के सम्पादन-भार से मुक्त होने की सूचना प्रकाशन के लिए लिखने के दूसरे ही दिन दमे का प्राण-घातक दौर उन पर हुआ। वे नहीं चाहते थे कि काम करते-करते ही प्राण निकलें, बल्कि उनकी इच्छा यह थी कि काम से निवृत्त होकर शेष जीवन चिन्तन और मनन में बिताया जाय। परन्तु प्रभु की इच्छा नहीं थी कि वे निवृत्त जीवन का उपभोग करें।

तारीख ९-९-१९५२ मंगलवार की शाम के पौने छह बजे उन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया। उस रोज शाम के पाँच बजे तक उन्होंने काम किया। लगभग साढ़े चार बजे मुझे पत्र लिखा, जिसमें 'भूदान-यज्ञ' और 'इकॉनॉमिक होल्डिंग' (लाभकर जोत) के विषय में चर्चा की थी और अन्त में लिखा था कि "पिछले दो-तीन दिनों से मेरा स्वास्थ्य अधिक खराब है। इस क्षण कुछ ठीक-सा है। मैं तो अब सार्वजनिक प्रवृत्तियों से पूर्णतः निवृत्त होने जा रहा हूँ। दूसरे विषयों पर भी कोई लेख आदि कहीं भेजने की इच्छा नहीं है।" फिर भी हम कह सकते हैं कि अन्तिम क्षण तक उन्होंने बापू का काम किया।

भाई हरिप्रसाद व्यास 'हरिजन'-पत्रों में उनके साथ काम करते थे। किशोरलाल भाई के अन्तिम क्षणों का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है :

"पाँच बजने के बाद उनकी तबीयत में फेरफार शुरू हो गया। तकलीफ बढ़ने लगी। पू० गोमती बहन ने आदमियों को भेजकर हम साथियों को बुलवा लिया। हम दौड़ते हुए ही आये। किशोरलाल भाई बन्द कमरे में अपनी चौकी के पास कमोड पर शौच के लिए बैठे थे। शौच जाते समय उनका दम फूल जाया करता था। इस समय भी दम फूल रहा था। उन्होंने कहा कि शौच नहीं हो रहा है। इसके बाद कमोड पर से उठकर अपने लिखने की

चौकी पर आ बैठे। गोमती बहन ने कमरे के दोनों दरवाजे खोल दिये। बजाजवाड़ी-अतिथिगृह के लोग बाहर खड़े थे। वे अन्दर आये। उनमें बहनें भी थीं। इस समय किशोरलाल भाई की धोती कुछ ऊपर चढ़ी हुई थी। बहनों को देखकर उसे खुद उन्होंने नीचे कर लिया। इसके बाद एक-दो बार पीकदानी में थूंका और चौकी पर रखे हुए तकिये पर सिर टेककर और पैर नीचे लटकाकर बैठे रहे। इतने में गोमती बहन ने आकर उनसे दवा के बारे में पूछा। वे दवा लेने के लिए अन्दर गयीं। मेरे साथी श्री नांदुरकरजी तकिये के पास खड़े थे। किशोरलाल भाई ने सिर जरा ऊँचा किया और मेरी ओर लुढ़क गये। उन्हें मैंने अपने हाथ का सहारा दिया। परन्तु उनके पैर तो अभी तक चौकी के नीचे ही लटक रहे थे, इसलिए फिर बैठ गये। पैर ठीक किये और फिर धीरे से मेरी ओर लुढ़के। मैंने फिर उन्हें हाथ का सहारा दिया। परन्तु उनके पैर अभी तक नीचे ही लटक रहे थे, ठीक नहीं हुए थे। इसलिए फिर उठ बैठे, पैर ठीक किये और फिर मेरी तरफ लुढ़के। मैंने फिर हाथ का सहारा देकर धीरे-धीरे अपनी गोद में उनका सिर ले लिया। मेरा हाथ उनकी बाजू में आ गया। वहाँ गति मालूम हो रही थी। परन्तु अब उनकी बायीं आँख फिरी। यह मैंने देखा और नांदुरकरजी ने गोमती बहन को पुकारा। उन्होंने आकर 'देव' 'देव' कहा और 'स्वामीनारायण, स्वामीनारायण' का उच्चारण करने लगीं। इस समय किशोरलाल भाई के होंठ भी हिलते दीख पड़े। परन्तु शब्द बाहर नहीं आ रहे थे। अन्त में उन्होंने 'राम' शब्द का उच्चारण किया। गोमती बहन ने उनका हाथ अपने हाथ में लेकर नब्ज देखी। परन्तु वह तो बंद थी। तकिये पर से नीचे सिर लेने में और 'राम' बोलने के बीच में मुश्किल से दो मिनट बीते होंगे। मंगलवार ता० ९-९-१९५२ की शाम के पौने छह बजे उन्होंने देहत्याग किया। हिन्दू तिथि के अनुसार दूसरे दिन उनकी बरसगाँठ थी। पूरे बासठ वर्ष की उम्र में उनका निर्वाण हुआ।"

किशोरलाल भाई की भाभी (मु० नानाभाई की पत्नी) सन् १९५२ के जुलाई मास में शान्त हुई, तब किशोरलाल भाई अकोला गये थे। उन्हें मृत्यु के समय अतिशय वेदना और कष्ट हुए थे और ठेठ अन्तिम क्षण तक बराबर जाग्रति रही थी। यह देखकर मृत्यु के समय की स्थिति के बारे में

किशोरलाल भाई को अनेक विचार उत्पन्न हुए थे। इस सम्वन्ध में उन्होंने श्री दामोदरदास मूंदड़ा के मार्फत विनोवा से अनेक प्रश्न पूछे थे। यह प्रश्न अथवा चिन्तन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण नीचे दिया जा रहा है :

"परन्तु ऑक्सिजन का भी फेफड़ों के अन्दर जाना कठिन हो गया। अन्त में फेफड़ों की क्रिया एकदम वन्द हो गयी, तव हृदय की गति भी वंद हो गयी। इसके वाद अपनी वेदना को प्रकट करने में वे असमर्थ हो गयीं, तव हमने मान लिया कि अव मृत्यु हो गयी। मेरे मन में यह विचार उठा कि वेदना प्रकट करने की शक्ति नहीं रही। परन्तु इससे भीतर से वेदना अनुभव करने की शक्ति भी चली गयी, यह मानने के लिए हमारे पास क्या सवूत है? किसीकी मुश्कें वाँधकर और मुँह में कपड़ा ठूंसकर यदि उसे मारा जाय और सताया जाय, तो वह भी अपनी वेदना प्रकट नहीं कर सकता। परन्तु इसका मतलव यह थोड़े ही है कि उसे कोई वेदना नहीं होती या उसे इसकी जानकारी नहीं है। इससे भी अविक जोर से मुश्कें वँधी हों और नाक भी वन्द कर दी गयी हो, तो मुँह पर की रेखाओं से भी वह अपनी वेदना प्रकट नहीं कर सकता। हृदय वंद हो जाने के वाद शरीर द्वारा वेदना प्रकट करना वन्द हो गया। फिर इस शरीर को जो चाहे करते रहें, उसका विरोव अशक्य हो गया। उसके वाद उसे वाँधकर आग लगा दी। वह भी उसने सह लिया। परन्तु चित्त जिस वेदना के साथ तन्मय हो गया था, उसकी तन्मयता और जानकारी भी चली गयी, इसका हमारे पास क्या सवूत है?

"विजया भाभी की अंतकाल के समय जो वेदनामय स्थिति हो गयी थी, वह उनके लिए तो पहली और अन्तिम वार की ही थी। परन्तु मुझे तो इस स्थिति का तीव्र, मध्य और मंद अनुभव हमेशा होता रहता है। जिस वीमारी के अनुभव से आप सव चिन्तातुर हो गये थे, उसमें इस अनुभव के सिवा और क्या था? विनोवाजी ने कहीं लिखा है कि हवा लेने के लिए भी कहीं कोई मेहनत करनी पड़ती है? नाक खुली रहे, तो हवा तो आती और जाती ही रहेगी। यह पढ़कर मैंने मन ही मन कहा कि विनोवा क्या जानें कि केवल इस हवा को अन्दर लेने और वाहर निकालने के लिए कितनी हॉर्स पॉवर (अश्व-शक्ति) की जरूरत होती है? मेरे लिए तो इतना करते रहने में ही

शरीर-श्रम के व्रत का पालन हो जाता है और अन्त में बेचारा हॉर्स (हृदय) थककर गिर पड़ता है।

"इसमें से एक और तात्त्विक प्रश्न मन में उठता है। विनोबा ने अपने 'गीता-प्रवचन' में अंतकाल की जाग्रति पर बहुत जोर दिया है। अंतकाल तक मनुष्य को आसपास कौन खड़ा है, इसका भान है, मुंह से आवाज नहीं निकल पाती, किन्तु इशारे से अथवा धीमी आवाज से वह पानी माँगता है। युकेलिप्टस की गंध से उसे कुछ आराम मालूम होता है, इसलिए हाथ को नजदीक लाने या दूर हटाने का इशारा करता है। जब बहुत भीड़ हो जाती है, तब सबको चले जाने के लिए इशारा करता है। इसे पूर्ण जाग्रति नहीं, तो और क्या कहा जाय? परन्तु वेदना के साथ चित्त इतना तन्मय हो जाता है कि उससे वह अलग नहीं हो पाता।

"मुझे भी जब बहुत तकलीफ होती है, तब मन को कितना भी रोकने की इच्छा करूँ, फिर भी वेदना की तीव्रता के कारण कराह निकल ही जाती है और मैं चिल्ला भी उठता हूँ। उस समय मैं दूसरों को घबड़ाने से खुद रोक नहीं सकता। उस समय भी यह स्मृति तो रहती ही है कि मैं तो वेदना का केवल साक्षीमात्र हूँ। मैं तो जो हूँ, सो ही हूँ। फिर भी मैं यह अनुभव नहीं कर सकता कि वेदना के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। चिल्लाते हुए मुझे शर्म भी आती है। परन्तु जब वेदना बहुत तीव्र होती है, तब मैं अपने-आपको रोक नहीं सकता। आसपास के लोगों को जो चिन्ता होती है, सो न्यूनाधिक परिमाण में—इसीके कारण बीच-बीच में वेदना होते हुए भी मैं दूसरी बातों की ओर ध्यान दे सकता हूँ और कभी-कभी विनोद भी कर लिया करता हूँ। परन्तु इसका कारण तो मैं यह मानता हूँ कि उस समय वेदना इतनी कष्टमय नहीं होती, जितनी कि मैं अथवा दूसरे समझ लेते हैं। बापू बहुत बार कहते कि जब वेदना सचमुच असह्य हो जाती है, तब मनुष्य को मूर्च्छा आ जाती है। यह ईश्वर की कृपा है। भाभी की अंतकाल की स्थिति से ऐसा मालूम होता है कि यदि ऐसा न हो, तो भी वेदना के साथ एकरूपता—अद्वैत—हो सकता है। तब क्या मूर्च्छा वेदना के साथ एकरूपता होने के कारण ही तो नहीं होती? और क्या जाग्रति भी इसी कारण से नहीं होती? दोनों स्थितियाँ वांछनीय

नहीं मालूम होतीं। जाग्रति होने पर भी वेदना को शान्ति के साथ सह लेने की शक्ति होनी चाहिए।

"हाँ, ऐसे भी आदमी होते हैं, जो ऐसा कर सकते हैं और हँसते-हँसते मृत्यु का स्वागत कर सकते हैं। वे कठोर वेदना सह सकते हैं। परन्तु इतने से यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने 'ब्राह्मी स्थिति' को प्राप्त कर लिया। शायद किसी दूसरे ही ध्येय के साथ उनकी एकरूपता होती है। इन सब स्थितियों की तुलना किस प्रकार की जाय ?

"मेरे अपने मन में उत्तम स्थिति को साधने की इच्छा बढ़ती ही जा रही है। यह तो मान ही लेना चाहिए कि अब मेरे शरीर को अधिक समय तक नहीं टिकना है। वर्षों से प्रातःस्मरणवाले श्लोकों में से तीसरा श्लोक—'प्रातर्नमामि तमसो' वाला—मैं नहीं बोलता था। गुजराती अनुवाद में भी मैंने उसे छोड़ दिया है। क्योंकि 'रज्ज्वां भुजंगम् इव प्रतिभासितं वै' यह उपमा मुझे जँचती नहीं। परन्तु आजकल इसीकी तरफ मेरा ध्यान सबसे अधिक जाता है।"

अन्तकाल की स्थिति के बारे में स्वामी सहजानंद ने दो स्थानों पर अपने विचार प्रकट किये हैं :

"अन्ते या मतिः सा गतिः'—इस उपनिषद्-वाक्य के बारे में उनसे पूछा गया था कि 'यदि अन्त समय भगवान् में मति रखने से सद्गति मिल सकती है, तो फिर सारी जिन्दगीभर भक्ति करने में क्या विशेषता है ?' इसके उत्तर में उन्होंने कहा था : 'जिसे साक्षात् भगवान् की प्राप्ति हो गयी है, उसे अंतकाल में स्मृति रहे या न रहे, तो भी उसका अकल्याण नहीं होगा। स्वयं भगवान् उसकी रक्षा कर लेते हैं। और जो भगवान् से विमुख हैं, वे यदि चलते-बोलते देह छोड़ दें, तो भी उनका कल्याण नहीं हो सकता। वे यमपुरी में ही जायँगे। यदि कोई कसाई जैसा पापी बोलता-चालता मर जाय और दूसरा कोई भगवान् का भक्त अंतकाल में विस्मृति के वश होकर मर जाय, तो क्या इससे भक्त का अकल्याण और अभक्त का कल्याण होगा ? हरगिज नहीं। इस पर से मैं इस स्मृति का यह अर्थ करता हूँ कि अभी अर्थात् जीवन-काल में उसकी जैसी मति होगी, वैसी ही उसकी गति अन्तकाल में होगी। (अन्ते मतिः सा गतिः,

अर्थात् अधुना या मतिः अन्ते सा गतिः) इसलिए जो भक्त है, भगवान् का पूरा दास है, जिसे सन्तों की प्राप्ति हो गयी है, वह किसी भी अवस्था में मरे, उसका कल्याण ही होगा। दूसरी ओर जिसके मन में यह भाव रहा कि मुझे भगवान् नहीं मिलेंगे, संत नहीं मिले, मैं अज्ञानी हूँ, मेरा कल्याण नहीं होगा, उसका कल्याण सचमुच कभी नहीं होगा। जो भगवान् का दास है, जिसे कुछ प्राप्तव्य नहीं रहा, जिसके दर्शन से दूसरों का भी कल्याण होता है, उसके कल्याण के विषय में शंका हो ही क्यों? यह सही है कि भगवान् का दासत्व प्राप्त करना बहुत कठिन है। उसके दास का लक्षण यह है कि वह अपनी देह को मिथ्या मानता है, अपनी आत्मा को ही सत्य मानता है और अपने स्वामी (भगवान्) के उपभोग की चीजों की अपने भोग के लिए कभी कामना नहीं करता। इसी प्रकार भगवान् को जो आचरण पसन्द नहीं, वह कभी नहीं करता। यही हरि का दास है। परन्तु अपने को हरि का दास कहते हुए भी जो देहाभिनिवेश से युक्त है, वह केवल प्राकृत भक्त है।'

"उनसे दूसरा प्रश्न यह किया गया था कि कभी-कभी भगवान् के दृढ़ भक्त को अन्तकाल में बड़ी पीड़ा होती देखी गयी है, उसमें बोलने की भी शक्ति नहीं रहती। दूसरी ओर एक आदमी ऐसा होता है, जो परिपक्व भक्त नहीं होता, फिर भी मरते समय उसमें पर्याप्त शक्ति होती है। वह भगवान् की महिमा गाता हुआ सुख से शरीर छोड़ता है। इसका कारण क्या है? जो उच्च होता है, उसकी मृत्यु शोभादायक नहीं होती और जो कच्चा होता है, उसकी मृत्यु शोभादायक हो जाती है। ऐसा क्यों?"

इसका उत्तर देते हुए सहजानंद स्वामी ने कहा:

"मनुष्य की मृत्यु देश, काल, क्रिया, संग, ध्यान, मन्त्र, दीक्षा और शास्त्र—इन आठ वस्तुओं के अनुसार होती है। ये सब अनुकूल हों, तो मति अच्छी होती है। प्रतिकूल हों, तो मति खराब हो जाती है। फिर मनुष्य के हृदय में परमेश्वर की माया से प्रेरित चारों युगों के धर्मों का चक्र चलता रहता है। इस कारण किसी मनुष्य के अन्तकाल के समय यदि सत्ययुग की बारी आ जाती है, तो उसकी मृत्यु बड़ी शोभादायक हो जाती है। त्रेता तथा द्वापर में इससे कम शोभा होती है। और कलि का आवर्त होने पर मृत्यु बहुत खराब देखी जाती

है। इस प्रकार अन्त समय में जैसे काल का बल होता है, वह भली या बुरी मृत्यु का कारण बन जाता है। इसके अलावा एक कारण और है। वह है, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था का स्वप्न। पापी भी अन्त समय यदि जाग्रत अवस्था में हो, तो उसकी मृत्यु बोलते-चालते होती है। स्वप्नावस्था में हो, तो वह बड़बड़ाते हुए मरता है और सुषुप्तावस्था में हो, तो मूर्च्छित अवस्था में उसकी मृत्यु होती है। परन्तु जो इन तीनों अवस्थाओं से परे आत्मस्थिति को पहुँचा होता है, वह विरल भक्त ईश्वर के समान सामर्थ्य प्रकट करता हुआ स्वतंत्र रीति से अपनी देह का त्याग करता है। उसकी तो बात ही निराली होती है। ऐसी सिद्धि केवल भक्त को ही प्राप्त होती है। विमुख को नहीं हो सकती, भले ही वह पूर्ण जाग्रति में मरे। तात्पर्य यह कि जाग्रति में मरने से शुभ गति मिलती है और स्वप्न अथवा सुषुप्ति की अवस्था में मरनेवाले को अशुभ गति ही मिलती है; ऐसी कोई बात नहीं है। तीनों स्थितियों में अभक्त का तो अशुभ ही है और भक्त को अन्तकाल में चाहे जितना शरीर-कष्ट हो और ऊपर से देखने पर वह भले ही भारी कष्ट पा रहा हो, तो भी प्रभु के प्रताप से उसके भीतर आनन्द का स्रोत बहता ही रहता है।

"ये सारे उद्गार मुमुक्षु को अवश्य ही साहस दिलानेवाले हैं। परन्तु क्या उन्होंने यह केवल साहस देने के लिए ही कहा होगा? मुझे तो लगता है कि इसमें 'न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति' का अच्छा विवरण है। जिसने भक्ति की है, वह कभी दुर्गति को प्राप्त हो ही नहीं सकता। फिर वह किसी भी अवस्था में क्यों न मरे। यदि वह अपूर्ण है, तो इस कारण उसे योगभ्रष्ट तो मानना ही पड़ेगा। जो चरम सीमा को पहुँच गया है—संभव है—वह सामर्थ्य के साथ मरे। गीता के आठवें अध्याय के पाँचवें और छठे श्लोक* कुछ दूसरे प्रकार के प्रतीत होते हैं। उनका समाधान विनोबा किस प्रकार करते हैं? ऊपर का कथन उन्हें सही मालूम होता है?

---

*अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥(८–५)

अंतकाल में मेरा ही स्मरण करते हुए जो देह छोड़ता है, वह मेरे ही स्वरूप को प्राप्त करता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं।

"गीता के आठवें अध्याय के दसवें श्लोक* का भी अर्थ इसीके साथ करना चाहिए। उसमें योगवल की ओर विशेष रूप से संकेत किया गया है।

"इस दसवें श्लोक में जो विधि वतायी गयी है, उसके अनुसार तो योग का अभ्यास किये विना केवल अत्यंत भक्तिमान् पुरुष ही देह का विसर्जन कर सकता है न? उदान वायु किस प्रकार ऊपर जाने का यत्न करते-करते ठेठ हृदय तक पहुँच जाती है, इसका अनुभव अपनी वीमारियों में मुझे कभी-कभी होता है। और अंतकाल में वह किस प्रकार काम करता है, इसका भी अनुमान मैं कुछ-कुछ कर सकता हूँ। परन्तु मुझे यह आत्म-विश्वास नहीं है कि अपनी इच्छा के अनुसार मैं उदान वायु को ऊपर चढ़ा सकता हूँ या चढ़ने से रोक सकता हूँ। अंत समय में यदि मुझे भान रहे, तो शायद मैं अंदर ही अन्दर इसकी गति का अनुभव कर सकूँ। परन्तु भान रहना, न रहना तो इस पर निर्भर है कि कफ आदि का कोप कितना होता है। जिसका समस्त जीवन निरोग रहा है, उसे शायद अपने शरीर की क्रियाओं पर ऐसा स्वामित्व प्राप्त हो सके। परन्तु मुझे लगता है कि प्राण जा रहा है, कैसे जा रहा है, कव जाता है, क्या यह चिन्ता ही ब्रह्म से द्वैतभाव को प्रकट नहीं करती? यदि मैं प्राण नहीं हूँ, चित्त नहीं हूँ, केवल शुद्ध ब्रह्म ही हूँ, तो शरीर में प्रवेश करना या शरीर में से निकल जाना और किस समय जाना तथा किस प्रकार जाना, इसकी चिन्ता क्यों हो? यह विचार भी

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥(८–६)

अथवा हे कौन्तेय, मनुष्य जिस-जिस स्वरूप का ध्यान धरता है, अंतकाल में उसी स्वरूप का स्मरण करते हुए वह देह भी छोड़ता है और उस-उस स्वरूप से भावित अर्थात् पुष्ट होने के कारण उस स्वरूप को ही वह प्राप्त करता है।

*प्रयाणकाले मनसा चलेन, भक्त्या युक्तो योगवलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्, सन्तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥(८-१०)

जो मनुष्य मृत्यु के समय अचल मन से भक्तियुक्त होकर और योगवल से प्राण को भ्रकुटि के वीच अच्छी तरह स्थापित करके मेरा स्मरण करता है, वह दिव्य परम पुरुष को प्राप्त करता है।

आता है। ज्ञानेश्वर आदि का यही निर्णय है, ऐसा कुछ संस्कार मेरे मन पर है। इस विषय में विनोवा के विचार क्या हैं ?"

विनोवा ने इसका उत्तर यों दिया :

ता० १३-७-'५२
वनारस

"श्री किशोरलाल भाई,

मृत्यु निमित्त चिंतन पर पत्र पढ़ा। अंत में आपने निष्कर्ष निकाला है। जाग्रति रहते हुए वेदना को शांति से सहन करने की शक्ति चाहिए। लेकिन इतना होने पर भी वह ब्राह्मी दशा नहीं, यह भी आपने संभव माना है। यह संभव तो है ही। मुझे लगता है, ब्राह्मी दशा को सहन शक्ति से भिन्न पहचानना ही पड़ेगा। दोनों का भेद समाधि और प्रज्ञा के जैसा कह सकते हैं। लेकिन मुझे तो प्रज्ञा भी ब्राह्मी दशा से भिन्न लगती है।

'रज्ज्वा भुजङ्गमिव' यह उपमा इतनी परिचित हो गयी है कि अतिपरिचय के कारण वह कोई असर नहीं कर रही है। लेकिन उस परिचय से अगर हम मुक्त हो सके, तो वह इतनी गहराई में ले जाती है कि उतनी गहराई में और कोई विचार-सरणी नहीं पहुँचाती, ऐसा मुझे लगता है।

गीता में 'धीर' शब्द दोहरे अर्थ में आया है। (अ० २ श्लोक १३, १५) एक 'धृति' पर से (श्लोक १५) और दूसरा 'धी' पर से (श्लोक १३) दोनों के योग के विना अपने राम का काम नहीं वनेगा, ऐसा विनोवा ने समझ लिया है।

विनोवा का प्रणाम"

किशोरलाल भाई का अंतकाल इस प्रकार एकाएक आया और प्राण इतनी सरलता से चले गये, लगभग अंत तक उन्हें जाग्रति रही और अंत में 'राम' शब्द का उच्चारण भी कर सके, यह सब वताता है कि योगाभ्यास न करने पर भी उन्हें योगी की मृत्यु प्राप्त हुई।

◆◆◆

साहित्य-प्रवृत्ति

: २४ :

किशोरलाल भाई जब कॉलेज में पढ़ते थे, तभी से कुछ-न-कुछ लेखन-कार्य करते रहते थे। कॉलेज की चर्चा-सभा में उन्होंने प्राथमिक शिक्षा पर एक निबन्ध पढ़ा था। कॉलेज-जीवन में और उसके बाद भी वे 'सुन्दरी-सुबोध' में 'रतन डोसीनी वातो' (रतन बुढ़िया की बातें) इस शीर्षक से छोटे-छोटे लेख लिखते थे। इसमें वे पुरानी बुढ़ियों की मर्यादा-प्रियता का, रोने-पीटने के शौक का तथा हिन्दू-समाज के रीति-रिवाजों का ठण्डा मजाक किया करते। कभी-कभी कविताएँ भी बनाते। परन्तु उन्हें शायद ही कभी छपाते।

आश्रम में आने के बाद विद्यार्थियों तथा शिक्षकों के हस्तलिखित मासिक-पत्रों में वे लेख लिखते। इनमें धार्मिक शिक्षा, शुद्ध लेखन, पाठ्यक्रम में अंग्रेजी का स्थान, राष्ट्रीय शिक्षा के विविध अंग, इस तरह अनेक विषयों पर उन्होंने लिखा। श्री इंदुलाल याज्ञिक 'नवजीवन और सत्य' नाम का एक मासिक निकालते थे। बाद में साप्ताहिक 'नवजीवन' के रूप में प्रकाशित करने के लिए वह गांधीजी को दे दिया गया। इसमें भी वे लिखते रहते थे। सन् १९२० में गुजराती साहित्य-परिषद् का अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ था। इसमें उन्होंने 'स्वामीनारायण-संप्रदाय' पर एक निबन्ध पढ़ा था, जो साहित्य-परिषद् के विवरण में छपा है।

इस प्रकार लेखन की रुचि तो उनमें विद्यार्थी-काल से ही थी। परन्तु उनकी गंभीर लेखन-प्रवृत्ति तो सन् १९२१ के बाद से शुरू हुई, जब उन्होंने साधना के लिए एकान्त का सेवन किया था और उसमें से उन्हें एक निश्चित जीवन-दृष्टि मिली थी।

उन्होंने जो चिन्तन किया, उसमें से अवतारों के विषय में उनकी दृष्टि क्या है, यह उन्होंने—'राम और कृष्ण', 'बुद्ध और महावीर', 'सहजानंद स्वामी' तथा 'ईसा'—इन पुस्तकों के द्वारा समाज के सामने उपस्थित की है। इन पुस्तकों में उन्होंने यह बताने का यत्न किया है :

"यदि हम अपने आशयों को उदार वना लें, अपनी आकांक्षाओं को ऊँची कर लें और प्रभु की शक्ति का ज्ञानपूर्वक सहारा लेने लगें, तो हम और अवतार माने जानेवाले पुरुष तत्त्वतः भिन्न-भिन्न नहीं हैं। ......परम तत्त्व हममें से हर मनुष्य के हृदय में विराज रहा है। उसकी सत्ता के द्वारा या तो हम क्षुद्र वासनाओं की पूर्ति कर सकते हैं, अथवा महान् और चरित्रवान् वनकर संसार को पार कर सकते हैं और इसमें (संसार पार करने में) दूसरों की सहायता भी कर सकते हैं।

"महापुरुषों ने अपनी रग-रग में अनुभव होनेवाले परमात्मा के वल से स्वयं पवित्र होने, पराक्रमी वनने और दूसरों के दुःखों का निवारण करने की आकांक्षा रखी। इस वल के सहारे सुख-दुःख से परे, करुणहृदय, वैराग्यवान्, ज्ञानवान् और प्राणिमात्र का मित्र वनने की इच्छा की। स्वार्थ के त्याग से, इन्द्रियों की विजय द्वारा, मन के संयम की सहायता से, चित्त की पवित्रता से, प्राणिमात्र के प्रति प्रेम के द्वारा दूसरों के दुःखों का नाश करने के लिए अपनी सारी शक्ति अर्पण करने की तत्परता द्वारा, निष्काम भाव से, अनासक्ति से और निरहंकारिता के द्वारा गुरुजनों की सेवा करके, उनके कृपापात्र वनकर मनुष्यमात्र के लिए वे पूजनीय वन गये।

"यदि हम निश्चय कर लें, तो हम भी इस प्रकार पवित्र और कर्तव्यपरायण वन सकते हैं, हम भी अपने भीतर ऐसी करुणा का विकास कर सकते हैं, हम भी ऐसे निष्काम, अनासक्त और निरहंकारी वन सकते हैं। इनकी उपासना का उद्देश्य यही है कि ऐसे वनने के लिए हम निरंतर प्रयत्नशील रहें। जितने अंश में हम उनके जैसे वनेंगे, उतने ही अंशों में यह कहा जायगा कि हम उनके निकट पहुँचे। यदि उनके जैसा वनने का प्रयत्न हम नहीं कर रहे हैं, तो हमारा सारा नाम-स्मरण वृथा वन जाता है। ऐसे नाम-स्मरण से उनके निकट पहुँचने की आशा करना भी व्यर्थ है।"

इस जीवन-चरित्र-माला का नाम 'नवजीवन-प्रकाशन-मंदिर' ने अवतार-लीला लेख-माला रखा था। किशोरलाल भाई को ऐसे नाम के विषय में शंका तो थी ही। इसलिए दूसरे संस्करण में यह नाम उन्होंने हटा दिया। इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा था :

"–अवतार शब्द के विषय में हिन्दू मात्र के मन में जो विशेष कल्पना है, वह मुझे मान्य नहीं है। इस कल्पना के साथ पोषित भ्रामक मान्यता को हटा देने पर भी रामकृष्णादि महापुरुषों के प्रति पूज्यभाव बनाये रखना इन पुस्तकों का उद्देश्य है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा आदि को भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के लोग देव, अति-मानव बनाकर पूजते रहे हैं। उन्हें आदर्श मानकर उनके जैसे बनने की अभिलाषा करके, प्रयत्नवान् बनकर अपना अभ्युदय करने की नहीं; बल्कि उनका नामोच्चारण करके, उनमें उद्धारक शक्ति का आरोप करके, उसमें विश्वास करके अपने अभ्युदय की अभिलाषा रखना आज तक की हमारी रीति रही है। यह तो न्यूनाधिक परिमाण में अन्ध-श्रद्धा—अर्थात् जहाँ बुद्धि काम नहीं देती, केवल वहाँ तक श्रद्धा—की रीति है। विचार के सामने यह टिक नहीं सकती।......

"राम ने शिला को अहिल्या बना दिया, अथवा पानी पर पत्थर तैराये, इन बातों को हटा दें, कृष्ण केवल मानुषी शक्ति से ही जिये–ऐसा कहें, ईसा ने एक भी चमत्कार नहीं बताया, ऐसा मान लें; फिर भी राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा आदि पुरुष मनुष्य-जाति के लिए क्यों पूजनीय हैं, इस दृष्टि से ये चरित्र लिखने का मैंने प्रयत्न किया है। संभव है, कुछ लोगों को यह अच्छा न लगे। परन्तु मुझे तो निश्चय है कि इनकी ओर देखने की यही सही दृष्टि है। इसलिए इस पद्धति को न छोड़ने का मैंने निश्चय किया है।"

सहजानंद स्वामी के चरित्र की निरूपण-पद्धति में उन्होंने किंचित् भेद कर दिया है। इसका कारण यह है कि पहलेवाले महापुरुषों के जीवन-चरित्र प्रसिद्ध हैं, जब कि सहजानंद स्वामी का चरित्र स्वयं सत्संगियों में भी कम प्रसिद्ध होता जा रहा है। सत्संगियों के बाहर तो और भी कम लोग उसे जानते हैं। फिर उसमें कुछ सांप्रदायिक अनास्था भी मिल गयी है। इसलिए उनका चरित्र उन्होंने अधिक विस्तार के साथ लिखा है। ये तफसीलें उन्होंने सन् १९२० की साहित्य-परिषद् में रखी थीं। अधिकांश रूप में उन्हींको उन्होंने इसमें बनाये रखा है। यद्यपि सन् १९२० में सहजानंद स्वामी के प्रति उनकी भक्ति में जो दृष्टिबिन्दु था, उसमें सन् १९२३ में बहुत अंतर हो गया था।

यह चरित्र इतने अधिक विस्तार के साथ क्यों लिखा, इसके कारण वताते हुए किशोरलाल भाई लिखते हैं :

"सहजानंद स्वामी गुजराती जनता के एक वड़े भाग के इष्टदेव हैं। इस कारण उनके जीवन से सवको परिचित हो जाना आवश्यक है। इसके अलावा उन्होंने गुजरात को गढ़ने और संस्कारवान् वनाने में भी जो महत्त्वपूर्ण भाग लिया, उस दृष्टि से भी उनका जीवन सवको ज्ञात होना चाहिए। लगभग ३० वर्ष तक उन्होंने गुजरात, काठियावाड़ और कच्छ में सतत परिश्रम करके लोगों को शुद्ध मार्ग पर आरूढ़ किया। गुजरात की ऊँची-नीची, हिन्दू-अहिन्दू सभी जातियों में अपना सन्देश पहुँचाने में उन्होंने जिस योजक वुद्धि का परिचय दिया, जो खतरे उठाये और जितने साधक तैयार किये, ये सव वुद्धदेव का स्मरण दिलाते हैं। ....दोनों का तरीका अपनी साधुता द्वारा सुधार करने का था।

"अपने समय के प्रसिद्ध पुरुषों में सहजानंद स्वामी सवसे महान् थे। उस समय के मुमुक्षुओं में पुरुषोत्तम के रूप में उपासना करने लायक थे। पूर्वदेश में जन्म पाकर उन्होंने गुजरात को अपना घर वनाया, यह गुजरात का सौभाग्य था।

"मोहावरण को दूर करके मेरी अशुद्ध कल्पनाओं को मेरे गुरुदेव ने शुद्ध किया। उन्होंने मुझे एक अंध अनुयायी नहीं रहने दिया। परन्तु मोह दूर होने पर यदि सहजानंद स्वामी के प्रति मेरी भक्ति कम हो जाय, तो मैं कृतघ्न हूँगा और गुरु-कृपा का अनधिकारी सिद्ध हूँगा। संप्रदाय के भीतर कुछ अशुद्धियाँ मेरे देखने में आयीं, संप्रदाय के कितने ही वादों में और तत्त्व-निरूपण की पद्धति से मैं पूरी तरह सहमत नहीं हूँ और इस चरित्र में जहाँ इनका जिक्र किये वगैर काम नहीं चल सकता था, वहाँ मैंने इनका उल्लेख भी किया है।

"परन्तु इस तरह तो मेरे कुटुम्व में, मैंने शिक्षण पाया है उन शालाओं में, जहाँ मैं काम करता हूँ उन संस्थाओं में और जिस देश में मेरा जन्म हुआ है, उसमें भी अशुद्धियाँ हैं और ऐसी वातें हैं, जिससे आदमी सहमत नहीं हो सकता। परन्तु इतने से कुटुम्व के प्रति स्नेह, शालाओं के प्रति राग, संस्थाओं के प्रति कर्तव्य-निष्ठा और जन्मभूमि के प्रति मेरा ऋण कम नहीं हो सकता। इसी प्रकार उपर्युक्त मतभेदों के कारण मेरी भक्ति कम नहीं हो सकती। मेरे भीतर जो

कुछ भी अच्छाई है, उसका बीज उन्होंने कितने अधिक अंश में बोया है, इसका माप नहीं किया जा सकता।"

इनमें से 'राम और कृष्ण' तथा 'बुद्ध और महावीर' इन दो पुस्तकों के चार-चार संस्करण निकल चुके हैं। 'ईसा' और 'सहजानंद स्वामी' के दो-दो संस्करण छपे हैं।

सन् १९२५ में उन्होंने 'केळवणीना पाया' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक में किशोरलाल भाई ने शिक्षा के विषय में अपने मौलिक तथा क्रान्तिकारी विचार पेश किये हैं। इसमें 'जीवन में आनंद का स्थान' और 'इतिहास विषयक दृष्टि' ये दो निबन्ध प्रचलित दृष्टि से सर्वथा भिन्न दृष्टि उपस्थित करते हैं। किशोरलाल भाई ने इतिहास की पढ़ाई के विषय में 'जड़मूल से क्रान्ति' में तथा अन्यत्र जो विचार उपस्थित किये हैं, उनकी ओर बहुत से शिक्षाशास्त्रियों तथा शिक्षकों का ध्यान आकर्षित हुआ है। परन्तु 'केलवणीना पाया' में उन्होंने इन्हीं विषयों पर अधिक विस्तार से लिखा है। उस ओर लोगों का ध्यान इतना नहीं गया है। यह संपूर्ण पुस्तक शिक्षाविषयक क्रान्तिकारी विचार-सरणी से भरी हुई है। फिर भी इसकी ओर समाज का ध्यान पूरी तरह से नहीं जा सका है।

किशोरलाल भाई के संपूर्ण तत्त्वज्ञान का विस्तृत प्रतिपादन तो 'जीवन-शोधन' नामक उनके ग्रन्थ में आया है। इसमें रूढ़ परंपरा को छोड़कर अनेक विषयों में उन्होंने अपने स्वतंत्र विचार प्रकट किये हैं। इसमें वीरता के साथ उन्होंने यह कह देने का साहस किया है:

"आर्य तत्त्वज्ञान की रचना परिपूर्ण हो गयी, अब इसमें नये शोध और खोज की आवश्यकता नहीं, शुद्धि-वृद्धि की कोई गुंजाइश नहीं, अब तो प्राचीन शास्त्रों को भिन्न-भिन्न भाष्यों द्वारा अथवा नये भाष्यों की रचना करके केवल समझाना मात्र रह गया है, ऐसा मैं नहीं मानता। नये अनुभव और नये विज्ञान की दृष्टि से पुराने में संशोधन-परिवर्धन करने और जरूरत मालूम हो, तो उससे मतभेद रखने का भी अधिकार आधुनिकों को है। इस अधिकार को छोड़कर आज भारत 'अचलायतन' बन रहा है। मैं मानता हूँ कि बादरायण के समय से भारतीय तत्त्वज्ञान का विकास लगभग रुक गया है। उन्होंने प्राचीन को सूत्रबद्ध करके

तत्त्वज्ञान का दरवाजा वन्द कर दिया है और शंकराचार्य तथा उनके वाद के आचार्यों ने इन दरवाजों पर ताले लगा दिये हैं। ये ताले खोलने ही पड़ेंगे। नये सांख्य के लिए अवकाश है। योग पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। वेदान्त के प्रतिपादन में शुद्धि हो सकती है। इस सवके फलस्वरूप ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग और योगमार्ग का स्वरूप दूसरा हो जाय, तो ऐसा होने देना आवश्यक है।"

यह पुस्तक किस भावना से लिखी गयी, यह भी उन्होंने बताया है :

"तत्त्वज्ञान मेरी दृष्टि से केवल वौद्धिक विलास की वस्तु नहीं है। इसके आधार पर जीवन की रचना होनी चाहिए। इसलिए जिन मान्यताओं का जीवन के साथ कोई सम्वन्ध नहीं है, उनमें मुझे कोई रुचि नहीं है। वुद्धि के लिए केवल अखाड़ों के रूप में तत्त्वज्ञान की चर्चा मैं नहीं करना चाहता। इसलिए इस पुस्तक में मैंने जो भी खण्डन-मण्डन करने का यत्न किया है, वह प्रत्यक्ष जीवन को वदलने की दृष्टि से ही किया है, केवल मान्यताओं को वदलने की दृष्टि से नहीं।

"संभव है, कुछ लोगों को ये लेख धृष्टतापूर्ण और कुछ को आघात पहुँचानेवाले मालूम हों। दूसरों को संभवतः ऐसा भी लगे कि मैं हिन्दू-धर्म की विशिष्टताओं का उच्छेद करने जा रहा हूँ। किन्तु मैं तो इस विषय में केवल इतना ही कह सकता हूँ कि ये लेख लिखते समय मेरी वृत्ति संपूर्ण भक्तिभाव की रही है। मैं समझता हूँ कि आज हमारा अपार और अमूल्य कर्तृत्व व्यर्थ नष्ट हो रहा है। उसे देखकर मुझे दुःख हो रहा है। उससे प्रेरित होकर और सत्योपासना की दृष्टि से मैं यह लिख रहा हूँ।"

इसके वाद भगवान वुद्ध की वाणी को मानो प्रतिध्वनित करते हुए वे लिखते हैं :

"पाठको, मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह परम्परागत नहीं है, परन्तु केवल इस कारण वह गलत नहीं है। आपकी परम्परा में परिवर्तन करने की वह माँग कर रहा है, इसलिए उसे त्याज्य न मानें। चित्त को आकर्षण करने लायक यह सुन्दर और आसान नहीं है, इसलिए इसे आप गलत न मान लें। दीर्घकाल से जिस श्रद्धा का आप पोषण करते आ रहे हैं, उस दृढ़ श्रद्धा का यह उन्मूलन करता है, इस कारण कहीं यह न मान लें कि यह आपको गलत मार्ग पर ले जायगा।

मैं कोई सिद्ध, तपस्वी, योगी अथवा श्रोत्रिय नहीं हूँ, केवल इसलिए मेरी बातों को गलत न मान बैठें। बल्कि आप तो मेरे इन विचारों को अपने विवेक की कसौटी पर चढ़ाकर देखें। इसमें यदि आपको वे सत्य और उन्नतिकर मालूम हों, जीवन के व्यवहार में और पुरुषार्थ में उत्साह भरनेवाले मालूम हों, प्रसन्नता में वृद्धि करनेवाले हों और आपके अपने तथा समाज के श्रेय को बढ़ानेवाले प्रतीत हों, तो उन्हें स्वीकार करने में न डरें।"

अंत में उन्होंने कहा है :

"इन लेखों में जितना सत्य विवेक-बुद्धि से स्वीकार करने योग्य हो और पवित्र प्रयत्नों को पोषण देनेवाला हो, केवल वही रह जाय और अधिक अनुभव तथा विचार से जो भूलभरा, पवित्र प्रयत्नों को नुकसान पहुँचानेवाला हो, उसका अनादर और नाश हो, ऐसा मैं चाहता हूँ।"

इस पुस्तक की प्रस्तावना किशोरलाल भाई के गुरु श्री नाथजी ने लिखकर उसमें प्रकट किये गये विचारों पर अपनी मुहर लगा दी है।

'गांधी-विचार-दोहन' और 'गीता-मन्थन'—इन दो ग्रन्थों की रचना सन् १९३० से १९३४ के स्वातंत्र्य-संग्राम के बीच सन् १९३१ के संधिकाल में विले पारले में गांधी विद्यालय के निमित्त से हुई थी। इस विद्यालय में उन कार्यकर्ताओं के लिए कुछ मास का एक प्रशिक्षण-वर्ग जारी किया गया था, जो गाँवों में जाकर सेवा-कार्य करना चाहते थे। उसमें एक विषय 'गांधीजी के विचारों और सिद्धान्तों का परिचय' इस नाम का भी था। यह विषय किशोरलाल भाई को सौंपा गया था। उसके लिए की गयी तैयारी के फलस्वरूप 'गांधी-विचार-दोहन' का जन्म हुआ। जैसे-जैसे वे इसके प्रकरण लिखते जाते थे, वैसे-वैसे वे गांधीजी के पास भेज दिये जाते थे, ताकि वे उन्हें देख लें, उनमें सुधार कर दें और उन्हें प्रमाणभूत बना दें। इस पुस्तक का पहला संस्करण सन् १९३२ में गांधीजी को बगैर बताये ही छप गया था। दूसरा संस्करण गांधीजी के देखने के बाद सन् १९३५ में छपा था। इस पर अपनी राय देते हुए गांधीजी ने लिखा था :

"इस विचार-दोहन को मैं पढ़ गया हूँ। भाई किशोरलाल का मेरे विचारों से असाधारण परिचय है। जितना परिचय है, वैसी ही उनकी ग्रहण-शक्ति भी

है। इसलिए मुझे बहुत कम फेरफार करना पड़ा है। बहुत-सी बातों में हम दोनों के विचार एक-से हैं। यद्यपि इसमें भाषा तो भाई किशोरलाल की ही है, फिर भी प्रत्येक प्रकरण में उस पर अपनी स्वीकृति देने में मुझे कोई आपत्ति नहीं मालूम होती। बहुत से विचारों को भाई किशोरलाल थोड़े में दे सके, यह उनकी अपनी विशेषता है।"

इस पुस्तक का तीसरा संस्करण सन् १९४० में प्रकाशित हुआ। इसमें कितने ही नये प्रकरण जोड़ दिये गये। इनको भी गांधीजी ने देख लिया था। सन् १९४४ में इसका फिर नया संस्करण हुआ, जो बहुत वर्षों से समाप्त हो गया है। फिर भी जब 'नवजीवन' की तरफ से पुनर्मुद्रण के लिए माँग की गयी, तब किशोरलाल भाई को लगा कि सन् १९४० के बाद तो गांधीजी ने बहुत लिखा है और अपने विचारों को नये रूप में प्रस्तुत किया है। इसलिए इस पुस्तक को फिर से लिखना पड़ेगा। परन्तु पुस्तक फिर से लिखने लायक उनका स्वास्थ्य नहीं था। इसलिए उन्होंने यह काम मेरे सिपुर्द कर दिया। मैंने चार-पाँच प्रकरण नये सिरे से तैयार किये। इन्हें किशोरलाल भाई देख गये। परन्तु संयोगवश यह काम हमें स्थगित करना पड़ा। यह अब किया भी गया, तो भी बापू की राय इस पर नहीं मिल सकती। इसलिए अब ऐसा लगता है कि उनके विचारों का दोहन उन्हींके विचारों में दिया जाय, तो अधिक अच्छा होगा।

'गीता-मन्थन' की उत्पत्ति इस प्रकार हुई कि अपने अस्वास्थ्य के कारण किशोरलाल भाई गांधी विद्यालय की सुबह की प्रार्थना में नहीं आ सकते थे। इसलिए उन्होंने ऐसा क्रम बना लिया कि रोज दो-तीन चौथाई कागज पर गीता का संवाद थोड़े-थोड़े में लिखकर भेज दिया करते। जो एकदम अपढ़ नहीं हैं, बिलकुल बच्चे भी नहीं, बहुत विद्वान् भी नहीं हैं, ऐसे भाई-बहनों को ध्यान में रखकर वे ये संवाद लिखते थे। परन्तु पाँच-छह अध्याय लिखने के बाद वे गिरफ्तार हो गये। तब शेष भाग उन्होंने इसी क्रम से और इसी पद्धति से जेल में पूरा कर दिया। सन् १९३३ के मार्च में इसका पहला संस्करण प्रकाशित हुआ। इसके बाद इसके तीन संस्करण और छपे।

सन् १९३० में जब किशोरलाल भाई नासिक-जेल में थे, तो मॉरिस मेटरलिंक

की 'लाइफ ऑफ दी व्हाइट एण्ट' नामक पुस्तक का 'उधईनुं जीवन' (दीमक का जीवन) इस नाम से उन्होंने गुजराती में अनुवाद किया। इसकी प्रस्तावना में उन्होंने लिखा था :

"दीमक यूरोप में एक अजनबी जंतु है। ठण्डे देशों में यह जीवित नहीं रह सकती, जब कि गुजरात में शायद ही कोई ऐसा बच्चा मिले, जिसने दीमक न देखी हो। फिर भी दीमक के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें यूरोप में लिखी पुस्तकें पढ़नी पड़ती हैं। यह है हमारी लज्जाजनक स्थिति !

"ऐसा होने पर भी यदि इस पुस्तक में केवल शास्त्रीय और रुखी जानकारी होती, तो इसका अनुवाद करने की इच्छा मुझे शायद ही होती। परन्तु इस पुस्तक के लेखक जितने बड़े विज्ञानशास्त्री हैं, उतने ही बड़े विचारक और सत्य के जिज्ञासु भी हैं। इस युग के कवियों और तत्त्वज्ञानियों में वे प्रथम पंक्ति के पुरुष हैं। दीमक के जीवन का अध्ययन उन्होंने केवल जंतुशास्त्र के कुतूहल को लेकर ही नहीं किया, बल्कि इसके द्वारा उन्होंने जीवन के विषय में, आत्मा के विषय में तथा दीमक के जीवन से मनुष्य-जीवन के लिए क्या-क्या बोध ग्रहण किया जा सकता है, इस विषय में बहुत विचार किया है और इन विचारों को बड़ी सरस भाषा में इस पुस्तक में पेश किया है। फलस्वरूप यह पुस्तक जंतुशास्त्र सम्बन्धी पाठ्य पुस्तक जैसी नहीं, बल्कि ऐसी बन गयी है, जैसी किसी महापुरुष का जीवन सबके पढ़ने लायक और उपयोगी होता है।"

इस पुस्तक के दूसरे भाग में 'सारशोधन' शीर्षकवाले प्रकरण में दीमक के विषय में अपने विचार भी दे दिये हैं और उसके साथवाले दो परिशिष्टों में दीमक सम्बन्धी साहित्य आदि की तथा भारतीय दीमक के बारे में भी संक्षिप्त जानकारी दे दी है।

दीमक के जीवन से किशोरलाल भाई ने यह सार निकाला है :

"दीमक के जीवन में हमने देखा कि उसके नर, मादा, सैनिक, मजदूर सब वर्ग अपने को (समाज का) भोग्य मानकर ही हर काम करते हैं। इसका लाभ भी ये जीव अनुभव करते हैं। इनमें भले ही सबको सतत काम करना पड़ता है, परन्तु इनमें कोई केवल भोगी न होने के कारण एक भी दीमक—चाहे वह रानी,

मजदूर, सैनिक, जिस किसी वर्ग की हो और स्वावलम्बी हो या परावलम्बी—रोगी, कमजोर या भूख से पीड़ित नहीं दिखाई देती।

"इस प्रकार किसी भी दृष्टि से देखिये, तो सुख का मार्ग—संपूर्णतः सुख का नहीं, तो भी संतोष का मार्ग तो इस सत्य को स्वीकार करके उसके अनुसार आचरण करने में ही है। सत्य यही है कि किसी भी जीव का जीवन भोग के बगैर संभव नहीं है, फिर भी वह भोगी बनने के लिए नहीं है। बल्कि अपने अलावा शेष विश्व के उपयोग के लिए धीरे-धीरे अथवा एक ही बार में उसके लिए मर-मिटने के लिए है। अथवा यों कहिये कि 'भोग' शब्द का अर्थ है—दूसरों के लिए मर-मिटने का आनंद। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'।"

सन् १९३२-३३ की जेल में उन्होंने टॉल्स्टॉय के 'दी लाइट शाइन्स इन डार्कनेस' नामक नाटक का गुजराती में रूपान्तर किया। टॉल्स्टॉय के नाटक-संग्रह में यह उन्हें सर्वोत्तम नाटक प्रतीत हुआ। बर्नार्ड शॉ की राय में भी यही टाल्स्टाय का सर्वोत्तम नाटक है। परन्तु वह तो इसे कला की दृष्टि से सर्वोत्तम मानता था, पर किशोरलाल भाई ने कला की दृष्टि से सर्वोत्तम होने के कारण इसे पसन्द नहीं किया था। उन्हें तो इसमें जो धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि पेश की गयी है, वह बहुत कीमती मालूम हुई और उन्हें लगा कि हमारे देश के लोग भी इसे समझें तो अच्छा, इस दृष्टि से उन्होंने इसे पसन्द किया। फिर यदि कला की दृष्टि से अनुवाद करना था, तो मूल नाटक जैसा था, उसी रूप में उसका अनुवाद करना चाहिए था। परन्तु उन्हें तो लगा कि नाटक में जो कला प्रकट की गयी है, उसकी अपेक्षा उसमें जो सत्यासत्य का विवेचन आया है, वह अधिक महत्त्व की वस्तु है। इसलिए सामान्य पाठक भी समझ लें, इस हेतु से उन्होंने नाटक को गुजराती पोशाक पहना दी। उन्होंने लिखा है :

"टॉल्स्टॉय ने इस नाटक में जो प्रश्न छेड़े हैं, वे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि किसी विशिष्ट समाज से ही नहीं, समस्त मानव-जाति से सम्बन्ध रखते हैं। ये प्रश्न सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि सार्वभौम व्रतों और मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाले सिद्धान्तों में से उत्पन्न होते हैं। परन्तु इस विषय में सभी प्रचलित धर्म, राज्य और समाज सत्य से बहुत दूर चले गये हैं और प्रत्येक समाज किसी धर्मशास्त्र, कानून और सुव्यवस्था को इसका कारण बताता है।

इसलिए इसमें टॉल्स्टॉय ने ईसाई-धर्म पर जो आक्षेप किये हैं, उनसे कोई धर्म मुक्त नहीं कहा जा सकता। ये आक्षेप वैदिक धर्म पर किस प्रकार लागू होते हैं, यह इस रूपान्तर द्वारा बताने का यत्न किया गया है। टॉल्स्टॉय का यह नाटक सर्वोत्तम समझा जाता है, इसका कारण मेरी समझ से यह है कि इसमें टॉल्स्टॉय ने कला की नहीं, सत्य की उपासना की है।"

टॉल्स्टॉय इस नाटक को पूरा नहीं कर पाये थे। पाँचवें अंक का तो केवल ढाँचा मात्र तैयार कर सके थे। इसके आधार पर, परन्तु स्वतंत्र रूप से किशोरलाल भाई ने पाँचवाँ अंक खुद लिखा है। इस कारण पाँचवाँ अंक टॉल्स्टॉय की मूल योजना से दूसरे प्रकार का बन गया है।

सन् १९३५ में उन्होंने खलील जिब्रान के 'दी प्रॉफेट' का 'विदाय वेलाए' नाम से अनुवाद किया। यह अनुवाद करने की इच्छा उन्हें क्यों हुई, इस विषय में उन्होंने लिखा है :—

"कवि का बहुत-सा कथन सत्य और सुन्दरता के साथ पेश किया गया सत्य है। यदि ऐसा मुझे नहीं लगता, तो केवल काव्यानंद के लिए मैं यह अनुवाद नहीं करता।"

सन् १९४२ के आन्दोलन के जेल-प्रवास में उन्होंने और काका साहब ने मिलकर अमेरिकन लेखक पेरी बर्जेस का 'हू वॉक अलोन'* नामक उपन्यास का 'मानवी खंडियरो' (मानवीय खँड़हर) नाम से अनुवाद किया। मूल लेखक अमेरिकन लेप्रसी फाउण्डेशन (कुष्ठ-संघ) के अध्यक्ष हैं और एक महारोगी (कोढ़ी) की आत्मकथा के रूप में यह उपन्यास उन्होंने लिखा है। युद्ध में उत्साह के साथ वह शरीक होता है और बाद में अपने पिता के बढ़ते हुए व्यवसाय का मालिक बन जाता है। जेन जैसी प्रेमल तथा कलारसिक तरुणी से विवाह करके वह धरती पर स्वर्ग लाने के सपने देखता है। भाई का नाम है टॉम, जो बड़ा निःस्पृह और चतुर है। उसके सहयोग से सांसारिक दृष्टि से खूब आगे बढ़ने की उम्मीद करता है। परन्तु इतने में कोढ़ का एक छोटा-सा दाग इसके

* इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद सर्व-सेवा-संघ द्वारा शीघ्र प्रकाशित होनेवाला है।

सारे जीवन-प्रवाह को सुखा देता है और इसे निराशा की खाई में ढकेल देता है। फिर भी इस निराशा में से भी वह धीरे-धीरे अपने को सँभाल लेता है। स्वदेश (अमेरिका) और स्वजनों से दूर 'फिलिपाइन्स' द्वीप-समूह में खास तौर पर महारोगियों के लिए निश्चित क्यूलियन नामक टापू में वह जाकर बसता है। वहाँ के निवासियों के साथ एकरूप होकर जीने का शक्तिभर प्रयास करता है और इस प्रकार विनाश में भी नवीन जीवन-रस उत्पन्न करके नयी सृष्टि की रचना करता है। इस प्रकार के जीवन-वीर के सात्त्विक और अद्भुत जीवन-कार्य की यह एक कहानी है।*

कहना नहीं होगा कि किशोरलाल भाई द्वारा अनुवाद के लिए पसन्द की गयी ये चारों पुस्तकें अत्यंत सत्त्वशील और जीवन के निर्माण में मदद करने-वाली हैं।

सन् १९२६ में 'सत्यमय जीवन और सत्यासत्य-विचार' नाम की उनकी एक पुस्तक प्रकाशित हुई। लॉर्ड मोर्ले की एक पुस्तक है—'ऑन काम्प्रोमाइज'। महादेव भाई ने इसका 'सत्याग्रह की मर्यादा' के रूप में अनुवाद किया था। उन्होंने एक बार कहा था कि लॉर्ड मोर्ले के साथ आपके विचार कहाँ तक मिलते हैं, यह देखने के लिए आप इसका दूसरा प्रकरण पढ़कर देख लें और फिर आप इसकी समालोचना कर सकें, तो अच्छा हो। किशोरलाल भाई ने यह स्वीकार किया और तदनुसार सन् १९२७-२८ में यह पुस्तक लिखी। सन् १९३२ में जब वे जेल गये, तब उन्हें इच्छा हुई कि इसे एक बार दोहरा लेना चाहिए। इसलिए इसे वे अपने साथ ले गये। वहाँ उन्होंने इस पुस्तक का रूप ही बदल दिया। शुरू में यह समालोचना के रूप में लिखी गयी थी। अब यह एक स्वतंत्र और विस्तृत निबन्ध बन गया।

किशोरलाल भाई ने लिखा है:—

"मेरी यह पुस्तक संक्षेप में इस प्रकार की है—सत्य के उपासक को विचार, वाणी और व्यवहार में किस प्रकार बरतना चाहिए और हमारे देश के भिन्न-भिन्न प्रश्नों के विषय में हमारा बर्ताव कैसा होना चाहिए और आज कैसा है,

---

* देखिये 'कुष्ठसेवा'—एक दर्दभरी कहानी।

इस बारे में सिद्धान्त तथा व्यवहार, इन दोनों दृष्टियों से इस पुस्तक में विचार किया गया है। चर्चा की पद्धति में इसमें मोर्ले का अनुसरण किया गया है। इस कारण इसमें मोर्ले की पुस्तक का आवश्यक सार और उस पर मेरी टीका भी आ गयी है। परन्तु इसमें उनकी पुस्तक का पूरा सार भी नहीं है। इसी प्रकार उनसे जहाँ-जहाँ मेरा मतभेद है, वह भी दे दिया गया है।"

अपने असत्य आचरण का केवल बचाव करने के लिए ही नहीं, बल्कि यह बताने के लिए कि यही करना उचित है, कई लोग प्रश्न करते कि यदि अपने स्वार्थ के लिए नहीं, परन्तु सार्वजनिक हित के लिए हम किसी सरकारी नौकर को फोड़ें, तो इसमें क्या बुराई है? अथवा निःस्वार्थ प्रेम के लिए किसी सिद्धान्त को जरा अलग रख दें, तो इसमें कौन बड़ा दोष हो जाता है? निःस्वार्थ प्रेम भी तो सत्य के ही समान महत्त्व रखता है। इस तरह के प्रश्नों का सीधा जवाब इस पुस्तक में है। इस दृष्टि से यह पुस्तक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। परन्तु किशोरलाल-भाई की अन्य पुस्तकों के समान इस पुस्तक का गुजराती के पाठकों में प्रचार हुआनहीं दीखता।

किशोरलाल भाई की पुस्तकों में जिसका शायद सबसे अधिक प्रचार हुआ है, वह है उनका गीता का समश्लोकी अनुवाद 'गीता-ध्वनि'। इसके विशेष प्रचार का कारण हमारे समाज में मूल गीता ग्रन्थ की अत्यधिक लोकप्रियता भी शायद हो। किशोरलाल भाई ने पहलेवाले पद्यानुवादों से भी लाभ तो उठाया ही है। इनमें भी वे सबसे अधिक ऋणी कवि श्री नानालाल के हैं। उन्होंने लिखा है कि "वर्षों तक उनके अनुवाद का उपयोग करने के बाद ही मुझे यह अनुवाद करने की बुद्धि हुई है।"

हमारे देश के आर्थिक प्रश्नों पर भी किशोरलाल भाई ने अत्यंत मौलिकता के साथ विचार किया है। सबसे अधिक विचार उन्होंने सिक्के के प्रश्न पर किया है और इस पर 'सुवर्णनी माया' नाम की एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी है। इसमें इन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि प्रजा का या प्रजातंत्र का धन वही है, जिसे निर्माण करने की शक्ति जनता के हाथों में हो। अपने लेन-देन के व्यवहार में अथवा राज्य के कर चुकाने के लिए इस धन का उपयोग वे कर सकें, तो इनकी माँग को वे पूरी कर सकते हैं। परन्तु इसके बदले अपने इन व्यवहारों

में एक छोटा-सा भी सिक्का देना उनके लिए लाजिमी कर दिया जाय, जिसे वे अपने खेत, नदी, समुद्र अथवा कारखानों में पैदा नहीं कर सकते हैं और उसे प्राप्त करने के लिए उन्हें किसी दूसरे आदमी का मुँह ताकना पड़ता हो, तो अकेला यह छोटा-सा सिक्का उन्हें पामाल कर सकता है। किसी भी देश में आर्थिक व्यवहारों का साधन वही धन होना चाहिए, जिसे जनता का बहुत बड़ा हिस्सा अपने परिश्रम से पैदा कर सकता हो। आगे चलकर वे लिखते हैं :

"यदि इस निबन्ध में प्रतिपादित सिद्धान्त सही हो, तो सोने, चाँदी तथा सिक्कों के व्यापारियों (अर्थात् सर्राफों, लेन-देन का धन्धा करनेवालों आदि) को छोड़कर जनता के शेष भाग को समृद्ध बनाने में हम केवल एक हद तक ही सफल हो सकते हैं। हमारे सारे प्रयत्नों के बावजूद इन दोनों का हाथ ही ऊपर रहेगा और सारा मक्खन यही लोग खा जायँगे।"

इस निबन्ध में प्रतिपादित सिद्धान्त उन्हें पहले-पहल टॉल्स्टॉय की 'तब करें क्या ?' नामक पुस्तक से सूझा था।

सन् १९३७ में उनकी 'स्त्री-पुरुष मर्यादा' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। यह एक स्वतंत्र पुस्तक नहीं है। पिछले दस वर्षों में इस विषय पर उन्होंने समय-समय पर जो लेख लिखे, उनका यह संग्रह है। सहजानंद स्वामी ने सत्संगियों के लिए इस विषय में जो नियम बना दिये थे, अधिकांश में उन्हीं पर यह सारी रचना की गयी है। किशोरलाल भाई लिखते हैं :

"इन नियमों को यदि घिन (सूग) 'बू' का नाम दिया जाय, तो कहा जा सकता है कि संसारी समाज को भी कुछ मर्यादारूपी घिन की छूत सहजानंद स्वामी ने अवश्य लगायी। यह छूत मेरे पिताजी को भी विरासत में मिली थी और उन्होंने इसका विचारपूर्वक पोषण किया था और हमें भी लगाने की कोशिश की थी। मेरी शक्ति के अनुसार मुझमें भी यह 'घिन' टिक सकी है और मैं मानता हूँ कि उसके टिके रहने में मेरा और समाज का हित ही हुआ है।

"'सूग' शब्द का व्यवहार तो सहजानन्द स्वामी ने व्याजोक्ति के रूप में किया है। वास्तव में स्त्री-जाति के प्रति उनके मन में कभी अनादर नहीं था। यही नहीं, व्यक्तिगत रूप में वे स्त्रियों के साथ कभी घृणा का बर्ताव नहीं करते थे। इसके

विपरीत स्त्रियों की उन्नति के लिए उन्होंने ऐसी कितनी ही प्रवृत्तियाँ शुरू की थीं, जो उस जमाने में नयी कही जा सकती थीं। संस्था में भी खड़ी की थीं। मेरे पिताजी के मन में भी स्त्री-जाति के प्रति अनादर या घिन नहीं थी। हमारे परिवार में घूंघट, ससुर से बातचीत न करना, ससुर या जेठ के सामने पति के साथ बातचीत न करना इत्यादि मर्यादाओं का पालन नहीं किया जाता था और गृहस्थी का लगभग सारा कारोबार स्त्रियों के ही हाथों में था। इस कारण परिवार में नये सुधारों का प्रवेश करने में हमें कभी कोई कठिनाई नहीं आयी। रोना-पीटना, श्राद्धादि का भोजन, जातिभोज, वर का जुलूस, स्वदेशी, खादी, अस्पृश्यता-निवारण, मूर्ति-पूजा, उत्सव आदि बातों में जो सुधार हमारे परिवार में किये गये, उनको लेकर हमारे पिताजी को या हम भाइयों को स्त्री-वर्ग से शायद ही कभी कोई झगड़ा करना पड़ा हो। स्त्री-जाति के प्रति मन में अनादर या घृणा होती, तो मेरा खयाल है कि ऐसा नतीजा नहीं आ सकता था।"

इस पुस्तक का 'आमुख' (प्रस्तावना) काका साहब ने 'आर्य आदर्श की दृष्टि से' इस शीर्षक से लिखा है। उसमें वे कहते हैं :

"किशोरलाल भाई की भूमिका और विवेचन-पद्धति मौलिक, निश्चयात्मक और ओजःपूर्ण है। यदि आप कहें कि यह शिथिलता निर्दोष मानी जा सकती है, तो वे पूछ सकते हैं कि यह ठीक हो, तो भी इससे लाभ क्या? क्या उसके बगैर काम नहीं चल सकता? फिर यह शिथिलता की हिमायत किसलिए? तब मनुष्य निरुत्तर-सा हो जाता है।

"आज के जमाने की हवा इससे बिलकुल उल्टी है। स्वतंत्रता के नाम पर, जीवन की पूर्णता के नाम पर और इसी तरह के अनेक सिद्धान्तों के नाम पर आज का जमाना अधिक-से-अधिक छूट लेने में और उसे उचित सिद्ध करने में भी विश्वास रखता है। इसलिए बहुत-से लोगों को लगेगा कि किशोरलाल भाई की यह फिलॉसफी काल-प्रवाह से उल्टी दिशा में जानेवाली है। फिर भी उनके कट्टर विरोधियों के दिल में भी उनकी भूमिका के प्रति आदर उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगा। विवेकशील मनुष्य अपनी भूमिका को कुछ सौम्य बनाकर किशोरलाल भाई के साथ यथासंभव मेल बैठाने का भी प्रयत्न करेगा।"

सन् १९३८ में इनकी 'नामानां तत्त्वो' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई।

यह पुस्तक उन्होंने भाई जेठालाल गांधी की मदद से लिखी है। अंग्रेजी और भारतीय हिसाब की पद्धति के तत्त्वों के वीच के भेद को समझकर उनके वीच समन्वय स्थापित करने का इसमें प्रयत्न किया गया है। धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से हमारे सामाजिक प्रश्नों की चर्चा करते-करते हिसाव रखने की पद्धति पर पुस्तक लिखने की वात किशोरलाल भाई को कैसे सूझी, इस तरह का प्रश्न कोई कर सकता है। इसका खुलासा उन्होंने इस प्रकार किया है :

"अध्यात्मविषयक भ्रमों में एक यह भ्रम भी हमारे देश में घर कर वैठा है कि आध्यात्मिक जीवन विताने की इच्छा करनेवाले लोगों को हिसाव-किताव के प्रति उदासीनता रखनी और वतानी चाहिए। आध्यात्मिक वृत्ति-वाले मनुष्य का हिसाव रखना, उससे हिसाव माँगना या देना भी और यदि वह हिसाव न दे सके, तो उसे उलाहना देना उसका अपमान करने के समान है। इस तरह के विचार अवुद्धि के हैं। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि उनमें कहीं भी आध्यात्मिकता नहीं है। मनुष्य की वृत्ति आध्यात्मिक हो या दुनियादारी की, यदि वह एक पाई का भी लेन-देन करता है और इस लेन-देन से दूसरों का सम्वन्ध आता है, तो उसे हिसाव की सावधानी अवश्य ही रखनी चाहिए। इस विषय में जो व्यक्ति लापरवाह रहता है, वह केवल समाज के ही नहीं, अपने आध्यात्मिक विकास के प्रति भी गुनहगार है। हिसाव में सावधानी और अर्थलोभ, ये दो अलग-अलग चीजें हैं—एक नहीं।"

हिसाव-किताव पर आज के युग के लिए उपयोगी ऐसी दूसरी कोई पुस्तक अभी तक गुजराती भाषा में प्रकाशित नहीं हुई है।

लिपि-सुधार के प्रश्न से किशोरलाल भाई को वड़ी दिलचस्पी थी। संस्कृत भाषा में रचित वर्णानुक्रम अधिक व्यवस्थित है। इस कारण संस्कृत परिवार की लिपियाँ उच्चारण में वड़ी सरल हैं। परन्तु लिखने तथा छापने की सरलता की दृष्टि से विचार करते हैं, तो मात्राएँ, ह्रस्व-दीर्घ इ और उ अक्षरों के ऊपर तथा नीचे आने के कारण अनेक कठिनाइयाँ खड़ी हो जाती हैं। इस दृष्टि से रोमन लिपि संस्कृत परिवार की किसी भी लिपि की अपेक्षा अधिक आसान है। किशोरलाल भाई की योजना यह थी कि हमारे भिन्न-भिन्न प्रान्तों की लिपियों का नागरीकरण करके भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लिए एक ही लिपि कर दी जाय।

गुजराती का नागरीकरण करने में केवल नौ अक्षर बदलने होंगे। ये अक्षर नागरी जैसे लिखे जायँ। नागरी की शिरोरेखा हटा दी जाय, तो गुजराती लिपि आसानी से नागरी बना दी जा सकती है। इस लिपि में उन्होंने अपनी कुछ किताबें छपवाई भी हैं। इसके लिए नया टाइप बनाने में 'प्रस्थान' वाले श्री रणछोड़जी मिस्त्री ने उनकी बहुत सहायता की थी। इसके अतिरिक्त रोमन लिपि के उच्चारण में कुछ सुधार करके उसे अपना लेने के पक्ष में भी वे थे। उनकी दलील यह थी कि लेखन तथा मुद्रण की दृष्टि से वह निश्चित रूप से अधिक सुविधाजनक है। दो लिपियाँ जाननेवालों की गणना की जाय, तो दूसरी लिपि के रूप में रोमन लिपि जाननेवालों की संख्या सबसे अधिक मिलेगी। फिर पतों के लिखने में, व्यक्तियों तथा स्थानों के नाम लिखने में और तार लिखने में भी रोमन लिपि का उपयोग होता है। आंतरदेशीय व्यवहार के लिए तो यही लिपि सबसे अधिक महत्त्व की है।

संस्कृत परिवार की प्रान्तीय लिपियों को सुधारकर उनका नागरीकरण कर देने पर भी संभव है, मुसलमान उर्दू का आग्रह न छोड़ें। इन सब बातों का विचार करने के बाद 'समूळी क्रान्ति' (जड़मूल से क्रान्ति) नामक पुस्तक में उन्होंने नीचे लिखे विचार प्रकट किये हैं :

"(१) रोमन लिपि का एक नया रूप निश्चित किया जाय, जिसमें प्रान्तों की भिन्न-भिन्न भाषाओं के विविध उच्चारण पूरी तरह से और निश्चित रूप में बोले जा सकें। इसे निश्चित रोमन लिपि कहा जा सकता है।

(२) हर आदमी के लिए प्रान्तीय लिपि और नवीन निश्चित रोमन लिपि—इन दो लिपियों का ज्ञान अनिवार्य कर दिया जाय।

(३) मातृभाषा के तौर पर हिन्दुस्तानी को किसी भी रूप में कोई बोले, तो उनके लिए नागरी और उर्दू—ये दो लिपियाँ रहें। उसके लिए नागरी और रोमन अथवा उर्दू और रोमन सीखना आवश्यक हो।

(४) राष्ट्रभाषा के रूप में जो हिन्दुस्तानी का अध्ययन करें, वे उसे अपनी प्रान्तीय लिपि में या रोमन लिपि में सीखें और अपनी सुविधा के अनुसार वे इनमें से किसी भी लिपि का उपयोग हिन्दुस्तानी लिखने में करें। प्रान्तीय सरकार दोनों लिपियों को मान्यता दे। यही बात प्रान्तीय भाषा के विषय में भी हो।

(५) जनता केन्द्रीय सरकार से पत्र-व्यवहार करते समय हिन्दुस्तानी भाषा के उपयोग के लिए निश्चित रोमन, देवनागरी या उर्दू, इनमें से किसी भी लिपि का उपयोग करे। जनता की जानकारी के लिए प्रकाशित की जानेवाली विज्ञप्तियाँ रोमन लिपि में और प्रदेश की अपनी लिपि में प्रकाशित हों।

इस व्यवस्था से देश की प्रत्येक भाषा के लिए एक सामान्य लिपि—और सो भी संसारव्यापी लिपि प्राप्त हो जायगी। साथ ही प्रान्त के आन्तरिक दैनिक व्यवहार के लिए प्रान्तीय लिपियाँ भी बनी रहेंगी और हर भाषा सीखना आसान हो जायगा।"

किशोरलाल भाई की दिलचस्पी का दूसरा विषय था—राज्य-विधान। सन् १९४६ में जब हमारे देश के लिए नया संविधान बनाने की चर्चाएँ चल रही थीं, तब उन्होंने स्वतंत्र भारत का विधान कैसा हो, इस विषय में अपने कुछ सुझाव एक पत्रिका में प्रकाशित किये थे। इसमें से कुछ सुझाव बिलकुल मौलिक थे। परन्तु वे वर्तमान पीढ़ी के विधान-शास्त्रियों को शायद आदर्शवादी अथवा अव्यावहारिक मालूम हों, इसलिए वे मंजूर नहीं हुए। इनकी तफसीलों में हम यहाँ नहीं जायेंगे।

'कागळानी नजरे' (कौए की आँख से) शीर्षक से उन्होंने गांधीवादियों पर कटाक्ष करनेवाले कुछ लेख सन् १९३८-३९ में लिखे थे। गुजराती में इनका अनुवाद १९४७ में प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार 'आश्रम का उल्लू' उपनाम से भी उन्होंने कुछ लेख लिखे थे। परन्तु अब तो बहुत से लोग जानते हैं कि ये लेख किशोरलाल भाई के थे। इनकी भूमिका लिखते हुए किशोरलाल भाई ने लिखा था कि "इस उल्लू के विचारों से मैं न तो सहमत हूँ और न असहमत।"

किशोरलाल भाई की जिस पुस्तक ने गुजराती पाठकों का ध्यान सबसे अधिक आकर्षित किया है, वह है—'समूळी क्रान्ति' (जड़मूल से क्रान्ति)। सन् १९४५ से सन् १९४८ के बीच की उत्तम पुस्तक के रूप में उन्हें दो पुरस्कार मिले हैं। इसमें उन्होंने धर्म और समाज, आर्थिक विषय, राजनीति तथा शिक्षा के विषय में अपने क्रान्तिकारी विचार सूत्रात्मक शैली में प्रकट किये हैं। पुस्तक के स्पष्टीकरण में वे लिखते हैं:

"मानव-जाति और मानवता पर मेरी श्रद्धा है। वह किसी देश-विशेष या

काल-विशेष के लिए सीमित नहीं है। जैसा कि मैंने—अनेक बार कहा है—पूर्व की संस्कृति और पश्चिम की संस्कृति; हिन्दू-संस्कृति, मुसलिम-संस्कृति—ये भेद मुझे महत्त्व के नहीं मालूम होते। मानव-समाज में केवल दो ही संस्कृतियाँ हैं—भद्र-संस्कृति और संत-संस्कृति। दोनों के प्रतिनिधि समस्त संसार में फैले हुए हैं। इनमें से संत-संस्कृति के उपासक जितनी निष्ठा और निर्भयता के साथ व्यवहार करेंगे, उतने ही अंश में मानव-जाति के सुख की मात्रा बढ़ेगी।"

यह उनकी अंतिम पुस्तक कही जा सकती है। इसके बाद पुस्तक के रूप में लिखने का अवकाश उन्हें नहीं मिल सका। उनकी सारी शक्ति 'हरिजन'-पत्रों के सम्पादन में, उनके लिए लेख लिखने और उनसे सम्बद्ध पत्र-व्यवहार करने में लग जाती। परन्तु उनके गुरुभाई श्री रमणीकलाल भाई मोदी ने उनके लेखों का संग्रह करके अभी-अभी कुछ पुस्तकें तैयार की हैं। वे कम महत्त्व-पूर्ण नहीं हैं। उनका भी हम अवलोकन करेंगे।

'संसार और धर्म' नाम से उनके लेखों का एक संग्रह सन् १९४८ के अप्रैल में प्रकाशित हुआ है। इसकी प्रस्तावना प्रज्ञाचक्षु पण्डित सुखलालजी ने 'विचार-कणिका' नाम से लिखी है। इसमें वे लिखते हैं :

"इन लेखों को मैंने अनेक बार एकाग्रता के साथ सुना है। अन्य भारतीय तत्त्व-चिन्तकों के भी कुछ लेख सुने हैं। जब मैं तटस्थ भाव से इस तरह के चिन्तन-प्रधान लेखों की तुलना करता हूँ, तो लगता है कि इतना अधिक और इतना क्रान्तिकारी तथा स्पष्ट और मौलिक चिन्तन करनेवाला पुरुष भारत में विरला ही होगा।

"संपूर्ण संग्रह सुन लेने पर और उस पर भिन्न-भिन्न दृष्टि से विचार करने पर इसकी अनेकविध उपयोगिता समझ में आती है। साम्प्रदायिक और असाम्प्र-दायिक मानसवाले सभी समझदार लोग जहाँ देखिये, वहाँ यही माँग कर रहे हैं कि शिक्षण-क्रम में कुछ ऐसा साहित्य होना चाहिए, जिससे उगते हुए प्रजा-जनों को धर्म के सच्चे और अच्छे संस्कार मिल सकें। वह नवयुग के निर्माण में सहायक भी हो और साथ ही प्राचीन प्रणालियों का रहस्य भी समझा सकता हो। जहाँ तक मुझे पता है, केवल गुजराती में ही नहीं, वरन् गुजरात से बाहर भी इस तरह की माँग को पूरी करनेवाला साहित्य अन्य किसी भारतीय भाषा में नहीं है।

"शायद ही अन्य कोई पुस्तक देखने में आये, जिसमें इतनी गहराई, निर्भयता तथा सत्यनिष्ठा के साथ तत्त्व और धर्म के प्रश्नों के विषय में ऐसा परीक्षण और संशोधन हुआ हो। जिसमें एक ओर किसी भी पंथ, किसी भी परम्परा अथवा किसी भी शास्त्र के विषय में विशेष अविचारी आग्रह न हो और दूसरी ओर जिसके अन्दर नये और पुराने विचार-प्रवाहों के अन्दर से जीवन स्पर्शी सत्य ढूँढ़कर रख दिया गया हो। मेरी जान में तो ऐसी यह एक ही पुस्तक है। इसलिए हर क्षेत्र के योग्य अधिकारी पुरुष को मेरी सलाह है कि वह इस पुस्तक को अवश्य पढ़े। इसी प्रकार शिक्षण-कार्य में जिन्हें रुचि है, उन्हें मेरा सुझाव है कि वे भले ही किसी भी पंथ या संप्रदाय को माननेवाले हों, फिर भी इस पुस्तक में बतायी विचार-सरणी को वे समझें और इसके बाद अपनी मान्यताओं का परीक्षण करके देखें।"

सन् १९४९ के दिसम्बर मास में उनके लेखों का एक और संग्रह प्रकाशित हुआ, जिसका नाम है 'केलवणी विवेक' (शिक्षा में विवेक)। सन् १९५० के जून में इस विषय के लेखों का एक दूसरा संग्रह 'केलवणी विकास' (शिक्षा का विकास) नाम से प्रकाशित हुआ। ये दोनों संग्रह प्रकाशित करने का श्रेय श्री रमणीकलाल भाई मोदी को है। पहले संग्रह में शिक्षाविषयक उनके फुटकर लेख हैं। इसे 'केलवणीना पाया' नामक पुस्तक का अनुग्रन्थ कहा जा सकता है। 'केलवणी विकास' में बुनियादी शिक्षा अथवा नयी तालीम सम्बन्धी लेख हैं। किशोरलाल भाई की सूचना से इस संग्रह के पूरक के रूप में मैंने एक विस्तृत लेख लिखकर उसमें नयी तालीम की सांगोपांग चर्चा की है। यह लेख उन्होंने पूरक के रूप में नहीं, बल्कि भूमिका के रूप में इस पुस्तक में दे दिया है।

अहिंसाविषयक लेखों का भी एक संग्रह तैयार करके श्री रमणीकलाल भाई ने उसे 'अहिंसा-विवेचन' के नाम से सन् १९५२ के जुलाई मास में प्रकाशित किया है। इसमें उन्होंने दो छोटी पुस्तिकाओं का भी समावेश कर लिया है, जो किशोरलाल भाई ने सन् १९४१ में 'वेहवारू अहिंसा' नाम से तथा सन् १९४२ में 'निर्भयता' के नाम से लिखी थीं। 'वेहवारू अहिंसा' के लिए लिखे अपने 'दो शब्द' में गांधीजी ने लिखा है :

"किशोरलाल मशरूवाला अहिंसा के गहरे शोधक हैं। वे अहिंसा-धर्म में

ही पले हैं। परन्तु वे किसीकी वात को ज्यों की त्यों मान लेनेवाले नहीं हैं। जो वात उनकी कसौटी पर सही सावित होती है, उसीको वे मानते हैं। इस प्रकार अहिंसा के सिद्धान्त का स्वीकार भी उन्होंने खूब मन्थन करने के बाद ही किया है। उसे उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन और व्यवहार में तथा राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और कौटुम्बिक क्षेत्रों में—और अनेक परिस्थितियों में परीक्षण करके देख लिया है। इसलिए उनके निवन्धों का अपना एक स्वतन्त्र महत्त्व है। जिनकी श्रद्धा अहिंसा में है, उनकी श्रद्धा इन निवन्धों को पढ़कर दृढ़ होगी और जिन्हें इसके विषय में शंकाएँ हैं, उनकी शंकाएँ इनके पढ़ने से दूर हो जायेंगी।"

फिर भी इस संग्रह की प्रस्तावना में किशोरलाल भाई लिखते हैं :

"अहिंसा का विवेचन करने का मुझे कोई वड़ा अधिकार है, ऐसा भ्रम मुझे नहीं है। पाठक भी ऐसा भ्रम न रखें। मेरे इन विचारों को पाठक अपने विवेक की कसौटी पर परखें और इसमें उन्हें जो सही जँचे, केवल उन्हींको स्वीकार करें।

"यदि किसीका खयाल हो कि मैं ये शब्द अत्यधिक नम्रता से कह रहा हूँ, उनसे मेरी प्रार्थना है कि कुछ दिन पहले (अर्थात् सन् १९४७ के अन्त में अथवा १९४८ के जनवरी में) अहिंसा के परम अधिकारी पुरुष गांधीजी ने किसी मित्र के सामने जो राय प्रकट की थी, उसे याद कर लें। उन्होंने कहा था कि 'किशोरलाल भी अहिंसा को ठीक से नहीं समझ पाये हैं।' अगर मुझे ऐसा न लगता कि मेरे इन लेखों से कुछ लोगों को अपने विचारों के सुलझाने में और मार्ग देखने में कुछ मदद मिल सकेगी, तो इस संग्रह को प्रकाशित करने में मुझे वरावर संकोच होता।"

यह संग्रह सन् १९४७ तक के लेखों का है। उसके वाद तो 'हरिजन'-पत्रों के सम्पादक की हैसियत से इस विषय में उन्होंने और भी वहुत लिखा है।

'हरिजन' में उन्होंने 'गांधी और साम्यवाद' शीर्षक से एक लेखमाला लिखी थी। इस लेखमाला पर जो टीकाएँ और चर्चाएँ खास तौर पर कितने ही साम्यवादी मित्रों के द्वारा हुईं, उन्हें ध्यान में रखते हुए कुछ सुधार करके और कहीं कुछ विस्तार और खुलासा करके यह लेखमाला पुस्तक के रूप में प्रकाशित कर दी गयी है। विनोवा ने इसकी भूमिका लिखकर इसके महत्त्व को और भी वढ़ा दिया है। प्रस्तावना में किशोरलाल भाई लिखते हैं :

"यह पुस्तक साम्यवाद का विद्वत्तापूर्ण निरूपण नहीं है। साथ ही यह गांधी विचार की कोई अधिकृत मीमांसा भी नहीं है। इसलिए इसमें किसी एक विचारधारा का सांगोपांग सरल भाषा देखने की अपेक्षा न रखें। दोनों महापुरुषों और उनके अनुयायियों के विचारों की आधारभूत दृष्टि क्या है, यदि इतनी-सी जानकारी भी इसमें से पाठकों को मिल जाय, तो बहुत समझना चाहिए।"

बहुत-से लोग मानते हैं कि साम्यवाद में से हिंसा को निकाल दिया जाय, तो गांधीवाद और साम्यवाद के बीच कोई फर्क नहीं रह जाता। अथवा यों कहा जा सकता है कि गांधीजी अहिंसक साम्यवादी थे या गांधीजी और साम्यवादियों के बीच साध्य के विषय में कोई भेद नहीं, केवल साधनों में भेद है। दोनों सिद्धान्तों में अगर गहरे उतरकर देखा जाय, तो यद्यपि यह मान्यता एकदम गलत नहीं, फिर भी वह अवश्य ही बहुत अधूरी मालूम होगी। यह बात भी इस पुस्तक में बतायी गयी है। मार्क्स और गांधीजी की जीवन-दृष्टि में बड़ा महत्त्वपूर्ण भेद है। इसकी ओर किशोरलाल भाई ने पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है।

वर्ग-विग्रह से क्रान्ति नहीं लायी जा सकती, इस विषय में उन्होंने जो लिखा है, उसमें से हम कुछ अंश यहाँ दे रहे हैं :

"यदि वर्ग-विग्रह की सूक्ष्म जाँच की जाय, तो ज्ञात होगा कि जिन नैतिक और मानसिक भावों पर गांधीजी जोर देते हैं, जब तक वे सिद्ध नहीं हो जाते, तब तक उसका (वर्ग-विग्रह का) अन्त लाने के लिए मार्क्स का सुझाया हुआ हल असफल ही रहेगा। इतना ही नहीं, अन्त में वर्ग-विहीन समाज की स्थापना में भी वह असफल ही सिद्ध होगा। पूंजीपतियों का कत्ल करके उनकी सम्पत्ति पर अधिकार करना अथवा राजा का वध करके खून करनेवाले को अध्यक्ष का नाम देकर उसके स्थान पर बैठाना, इस फेरफार को 'क्रान्ति' कहना अन्त में अच्छे परिणाम की दृष्टि से तो केवल तंत्र चलानेवाले व्यक्तियों की अदला-बदली ही कही जायगी। इस प्रकार केवल मनुष्यों के बदलने में क्या रखा है? इसमें तो एक तरफ इन लोगों का आपस में और दूसरी तरफ इनके तथा श्रम करनेवाली जनता के बीच लगभग क्रान्ति के पहले जैसा ही सम्बन्ध बना रहता है। इसमें लोगों के अन्दर पहले जैसे ही सम्बन्ध कायम

हो जाते हैं और उनके हितों में उसी प्रकार संघर्ष पैदा हो जाते हैं। जिस प्रकार जार का शासन अत्याचारी और मनमाना वन गया था और उसका हिंसा से नाश किया गया, उसी प्रकार मजदूरों का अधिनायकत्वशील शासन भी लोगों के लिए जब असह्य वन जायगा, तव उसका भी इसी प्रकार नाश हो सकता है। कोई भी व्यक्ति निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों की एकाधिपत्यवाली सत्ता अत्याचारी, निरंकुश और चालवाज जार और उसके सरदारों के समान अथवा पूंजीपतियों के समान कोई नया वर्ग पैदा नहीं कर देगी।"

पुस्तक के अन्त में उन्होंने आज के सामाजिक अथवा राजनैतिक सत्ता-धारियों को एक अत्यन्त गंभीर चेतावनी देते हुए कहा है:

"गांधीवाद और साम्यवाद के वीच वहुत वड़ा अन्तर है। परन्तु गांधीवाद और अनियन्त्रित रूप से काम करनेवाले पूंजीवाद, सामन्तशाही अथवा संप्रदाय या जातिवादी आज की समाज-व्यवस्था के वीच इससे भी अधिक अन्तर है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में जो लोग धन अथवा उच्च वर्ण के कारण अधिक अधिकार या सहूलियतोंवाले पदों का उपभोग कर रहे हैं, यदि वे इन विशेष अधिकारों का त्याग नहीं करेंगे और अपने अधीन संपत्ति के सच्चे संरक्षक नहीं वनेंगे और अपने-आपको समाज के अन्य मनुष्यों की वरावरी का नहीं वना लेंगे, देश की गरीवी का खयाल करके अपने मौज-शौक, ऐशो-आराम, सुख-सुविधाएँ कम नहीं करेंगे और सवके उत्कर्ष के लिए काम करने के लिए तैयार नहीं हो जायेंगे, तो गांधीजी की कोटि के ही अहिंसामार्गी नेता के अभाव में अपने तमाम हिंसक आयुधों को लेकर साम्यवाद यहाँ भी अवश्य ही आ जायगा। यदि ऐसा हुआ, तो वे लोग सच्चे सिद्ध होंगे, जो कहा करते हैं कि गांधीवाद—अर्थात् अहिंसक समाज-रचना—की स्थापना के पहलेवाला कदम साम्यवाद है। इस हिंसक उल्कापात को रोकने का केवल एक ही उपाय है—अपनी आज की रहन-सहन में कदम-कदम पर हम अपनी इच्छा से फेर-फार करें, ऊँच-नीच के भेदभाव, जातियों की वाड़ा-वन्दी, छुआछूत आदि सवको विदा कर दें। वेकारी और भुखमरी नष्ट हो जानी चाहिए। प्रान्तवाद और सम्प्रदायवाद की संकुचित मनोदशा दूर हो जानी चाहिए। राष्ट्रीयता के

अन्दर अपने स्वार्थ के लिए लड़ने की वृत्ति छोड़ देनी चाहिए और साम्राज्य-लालसा लोप हो जानी चाहिए। अमीरों और गरीवों के वीच का यह जमीन-आसमान जैसा अन्तर हट जाना चाहिए। सरकार के न्याय और प्रवन्ध-विभाग में रिश्वतखोरी, वेईमानी और पक्षपात नहीं रहने चाहिए और आज के दिखावटी जनतंत्र के स्थान पर सच्चा जनतंत्र स्थापित हो जाना चाहिए। जनता और सरकारी नौकरों में गैर जिम्मेदारी के भाव हटकर उनके स्थान पर शुद्ध कर्तव्यनिष्ठा की भावना जाग जानी चाहिए। इतना सव हो जाय, तो इतने मात्र से ही गांधीवाद की स्थापना नहीं हो जायगी; हाँ, ऐसा करने से इस दिशा में कदम जरूर मुड़ जायँगे। ये कदम उठाने के लिए यदि हम तत्पर नहीं होंगे, तो साम्यवाद की ज्वाला नहीं रोकी जा सकेगी। यदि कोई ईश्वर का भक्त परमेश्वर से प्रार्थना करेगा कि आज की समाज-व्यवस्था कायम रहे, तो यह अव संभव नहीं है। परिणाम यह होगा कि साम्यवाद का प्रवाह अपने पूरे जोर के साथ आयेगा और उसके मार्ग में जो भी वाधा खड़ी होगी, उसे वह उखाड़ फेंकेगा। इस प्रलय में कितनी ही सीधी-सादी और निर्दोष वस्तुएँ भी वह जायँगी।

"सम्पत्तिशाली और समाज में प्रतिष्ठा का उपभोग करनेवाले व्यक्ति अभी समय रहते सावधान हो जायँ। वे अपने जीवन में से शौकीनी और ऐशो-आराम को कम कर दें। अपना खून-पसीना एक करके श्रम करनेवाले मजदूरों को अपनी सुख-सुविधाओं में हिस्सेदार वनायें और समाज के सभी वर्गों में समानता की स्थापना करें। सवको सन्मति दे भगवान्।"

योजना-आयोग के सदस्य—श्री रा० कृ० पाटिल के साथ पंचवर्षीय योजना को लेकर उनका कुछ पत्र-व्यवहार हुआ। इसके अन्त में उन्होंने श्री पाटिल को एक विस्तृत और महत्त्वपूर्ण पत्र लिखा था। यह पत्र-व्यवहार तथा इससे सम्वन्ध रखनेवाले उनके कुछ लेख उनकी मृत्यु के वाद 'भावी हिन्दनुं दर्शन' (भावी भारत की एक तसवीर) नाम से एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित कर दिये गये हैं।

गुजरात के विद्वानों तथा पाठकों में एक मौलिक तथा प्रखर तत्त्वचिन्तक के रूप में किशोरलाल भाई की प्रसिद्धि काफी थी। जहाँ तक मुझे पता है, श्री नरसिंह राव तथा श्री व० क० ठाकुर जैसे सख्त विवेचक भी उनके निष्पक्ष, निर्भय और सत्यनिष्ठ विचारों की प्रशंसा करते थे।

◆◆◆

१. अध्यात्म और धर्म

किशोरलाल भाई स्वामीनारायण-संप्रदाय में और उसकी परम्पराओं में छोटे से बड़े हुए। वे सहजानंद स्वामी को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् मानते थे और अनन्याश्रय होकर उनकी भक्ति को वे अपने जीवन का ध्येय मानते थे। सहजानंद स्वामी के प्रति उनकी भक्ति जरा भी कम नहीं हुई थी, फिर भी सन् १९२१ में जब वे विद्यापीठ से अलग हुए, तब उन्हें लगने लगा कि आत्मा-परमात्मा के विषय में यथार्थ ज्ञान प्राप्त किये बिना जीवन व्यर्थ है। उन्हें यह भी लगा कि यह ज्ञान पुस्तकों से नहीं मिल सकता। इसके लिए एकान्त-सेवन और सद्गुरु द्वारा मार्ग-दर्शन जरूरी है। इसलिए संप्रदाय के अच्छे-से-अच्छे माने गये भक्तों और साधुओं से परिचय करने का वे यत्न करने लगे। परन्तु संप्रदाय के भीतर उन्हें ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं मिल सका, जो इस विषय में उनका मार्ग-दर्शन कर सकता। इसके बाद श्री नाथजी से उनका परिचय हुआ और उनके मार्ग दर्शन में उन्होंने एकान्त-सेवन और साधनाएँ कीं। इस साधना के फलस्वरूप उन्हें जीवन की एक नयी दिशा प्राप्त हुई, जिससे उन्हें यह प्रतीति हो गयी कि उनकी बहुत-सी पुरानी मान्यताएँ भ्रमपूर्ण थीं और उनका समग्र जीवन-दर्शन बदल गया। किसी भी मनुष्य का जीवन-दर्शन समझने के लिए पहले यह जान लेना जरूरी है कि उसके जीवन का ध्येय क्या है और किन सिद्धान्तों का अनुसरण करके वह अपना जीवन बिताना चाहता है।

जीवन का ध्येय

किशोरलाल भाई ने 'जीवन-शोधन' नामक ग्रंथ में अपने जीवन का ध्येय इस प्रकार बताया है :

"व्यक्ति तथा समाज दोनों के जीवन की रचना ऐसे तत्त्वों पर होनी चाहिए कि जिससे हमारे जीवन का धारण-पोषण, हमारी सत्त्व-संशुद्धि तथा हमारा जीवन और मरण दोनों सरल और संतोषजनक हो जायँ।"

"धारण-पोषण का अर्थ केवल यह नहीं कि शरीर में प्राण टिके रहें। धारण का अर्थ है, सुरक्षित और आत्मरक्षित जीवन। पोषण का अर्थ है, जीवन के कार्य करने की शक्ति से सम्पन्न और दीर्घायु जीवन और सत्त्व-संशुद्धि का अर्थ है, मानवतायुक्त जीवन। इस जीवन में हमारी भावनाओं और बुद्धि का विकास ऐसा होना चाहिए कि हमारा जीवन अपने तक ही सीमित अर्थात् आत्म-पर्याप्त (Self-centred) न हो। केवल अपने सुख को ही हम न देखें। वह ऐसा हो कि जिसमें हम अपने परिवार, ग्राम, देश, मानव-समाज, अपने संपर्क में आनेवाले प्राणी और जिन-जिनसे भी थोड़ा या अधिक सम्पर्क हो, उन सबके लिए हमारा जीवन न्याय के मार्ग से हमारे सम्बन्धों के औचित्य और परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए पूरी तरह उपयोगी हो सके। वह शान्तिपूर्ण, संतोषपूर्ण और प्रेमपूर्ण हो, इसमें किसी व्यक्ति या वर्ग के साथ अन्याय न हो। विपत्ति में पड़े हुए और अपंग मनुष्यों की हम अपनी शक्ति-भर मदद कर सकें। इसी प्रकार हमें ऐसी बुद्धि प्राप्त हो, जो जीवन के तत्त्वों को समझ सके, वह सारग्राही हो, किसी भी विषय के मूल, महत्त्व और मर्यादा पर वह भली प्रकार विचार कर सके, हमारे अपने निर्मित पूर्वग्रहों से जो अपने-आपको मुक्त रख सके। वह न तो मृत्यु की इच्छा करनेवाली हो और न उससे डरनेवाली।

"सारा समाज किसी समय इस अवस्था को प्राप्त कर सकेगा या नहीं, यह महत्त्व की बात नहीं है। परन्तु हमारा जीवन-मार्ग हमें और यदि समाज इस दृष्टि को स्वीकार करे तो उसे भी, इस स्थिति की ओर ले जानेवाला हो।

"मैं इसीको जीवन का ध्येय समझता हूँ। यही मेरी समझ से मनुष्य का अभ्युदय भी है। जो भी विद्या, कला, विज्ञान और जीवन की अभिरुचियाँ तथा भावनाएँ मनुष्य को इस ओर ले जानेवाली हों, वे आवश्यक हैं। इस ध्येय के साथ आवश्यक सम्बन्ध न रहने पर भी जो प्राप्तियाँ इस ध्येय से विरोध नहीं रखतीं, अथवा जिनका विकास इस प्रकार किया जा सकता हो कि वह

इस ध्येय के लिए लाभदायक हो सके, तो उस हद तक उनके विकास को मैं उचित मानता हूँ। अन्य सारी प्रवृत्तियों को अनावश्यक और अन्त में हानिकारक समझना चाहिए।"

× × ×

जिस समाज में न्याय-वृत्ति, प्रेम, उदारता, दया, करुणा, परस्पर आदर, क्षमा, तेजस्विता, नम्रता, निर्भयता, परोपकारिता, व्यवस्थितता, लज्जा, धैर्य, भीतरी और बाहरी पवित्रता, स्वच्छता आदि गुणों का विवेकयुक्त मेल नहीं होता, वह जी ही नहीं सकता, फिर अभ्युदय की तो बात ही दूर है। यदि समाज ही नहीं जी सकता, तो व्यक्ति का तो कहना ही क्या ! वह निर्विघ्न, निर्भय और संतोषजनक जीवन नहीं बिता सकता। वह उचित स्वतंत्रता का उपभोग नहीं कर सकता। इन गुणों के उत्कर्ष के बगैर स्वतंत्र बुद्धि का—अर्थात् आत्मविश्वास, आत्मश्रद्धा उत्पन्न करनेवाली बुद्धि का—भी उदय वहाँ मैं अशक्य मानता हूँ।

× × ×

इस प्रकार संयम, मानव-संपत्तियों का उत्कर्ष और उनमें मेल तथा इनके परिणामस्वरूप विवेक और तत्त्वज्ञान का उदय और उससे जीवन अथवा मरण की लालसा अथवा भय का नाश, इस तरह की सत्त्व-संशुद्धि को जीवन का ध्येय, जीवन का सिद्धान्त कहा जा सकता है।

मोक्ष और पुनर्जन्म

पाठक देख सकते हैं कि इसमें कुछ भी गूढ़ अथवा नकारात्मक नहीं है। किशोरलाल भाई को ऐसा लगता था कि हम अनेक अशक्य और असंभव कल्पनाओं को लेकर उनके कारण जीवन और जीवन के आदर्शों को उलझन-भरे बना देते हैं। मोक्ष को जीवन का आदर्श बना देने से अनेक बार ऐसी उलझनें पैदा होती देखी गयी हैं। मोक्ष का अर्थ जन्म-मरण के चक्कर से छुट्टी, फिर से—पुनः जन्म न लेना पड़े—ऐसा किया जाता है। परन्तु कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि मरने के बाद हम फिर जन्म लेंगे ही। वास्तव में तो पुनर्जन्म एक वाद (Hypothesis) है। मनुष्य के सामने यह प्रश्न कभी न कभी खड़ा होता ही रहता है कि मरने के बाद उसका क्या होगा।

इसका उत्तर पाने का यत्न वह हमेशा करता ही रहता है। परन्तु मरणोत्तर स्थिति के वारे में जो भी स्पष्टीकरण दिये गये हैं, वे केवल संभाव्य तर्क मात्र हैं। पुनर्जन्म है, ऐसा कहनेवाले के पास इसका कोई प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार पुनर्जन्म नहीं है, ऐसा कहनेवाले के पास भी कोई प्रमाण नहीं है। किशोरलाल भाई कहते हैं:

"जो हो, पुनर्जन्म का वाद आज तक तो पुरुपार्थ करने के लिए श्रेयार्थी के पास एक जवर्दस्त प्रेरक बल रहा है। जो व्यक्ति पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता, उस पर भी यह संस्कार अज्ञात रूप में कुछ काम करता ही रहता है। इस विषय में यदि किसीको प्रतीति नहीं दिलायी जा सकती, तो इसके विरुद्ध प्रतीति दिलानेवाले प्रमाण भी तो नहीं हैं। फिर इसका स्वीकार उत्क्रान्ति के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। इन सब वातों पर विचार करने के वाद, पुनर्जन्म के विरुद्ध मुख्यत: केवल एक ही वात रह जाती है। और वह यही कि इसके विषय में मन में शंका पैदा हो गयी है। इस कारण इसे एक संभाव्य वस्तु मानकर यदि मनुष्य इसे अपने लिए एक प्रेरक वल वना लेता है, तो वह कोई दोप करता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। विज्ञान में भी इस प्रकार के वाद-ग्रस्त विपयों पर मनुष्य की श्रद्धा ही अनेक प्रकार के प्रयोगों और उपचारों की प्रेरणा देनेवाली सिद्ध हुई है।"

इसके वाद किशोरलाल भाई कहते हैं:

"परन्तु जिस व्यक्ति पर पुनर्जन्म के संस्कार नहीं हैं—अथवा शिथिल हो गये हैं, उसके लिए इन सबकी अपेक्षा श्रेय:प्राप्ति के प्रयत्नों को प्रेरणा देने-वाली चीज है—श्रेयार्थी को मिलनेवाली—शान्ति, समाधान और कृतार्थता। सदाचार और सद्धर्म का पालन उसके भीतर इन गुणों के संस्कारों का निर्माण करते हैं। वे उसे ऐसी सात्त्विक प्रसन्नता और प्रसन्नता न भी हो तो—शान्ति और समाधान प्रदान करते हैं कि जिसकी तुलना में उसे संसार के सारे सुख गौण मालूम होते हैं। दु:खों के लिए वे उसे मजबूत वना देते हैं। मनुष्य में जिस अंश में इन संस्कारों का उचित विकास होता है, उतने ही अंश में उसके ज्ञान और कर्म में व्यवस्थितता और कुशलता उत्पन्न हो जाती है और वह उस मात्रा में सत्यकर्मा वन जाता है।

"जन्म-मरण से छूटने की अभिलाषा श्रेय के लिए प्रेरक बल हो, तो भी वह गौण बल है। उसका अस्तित्व अंशतः अनुमान पर ही है। यह अनुमान सच्चा हो या झूठा, पुनर्जन्म का तर्क झूठा हो या पुनर्जन्म हो, तो भी उससे मोक्ष-प्राप्ति की आशा झूठी हो—फिर भी श्रेयार्थी को प्रयत्नशील बनाने के लिए दूसरे भी कारण मौजूद हैं। जो जीवन प्राप्त हो गया है, उसीमें चित्त और चैतन्य के तादात्म्य को सिद्ध करना, चित्त के समाधान और संशुद्धि की मात्रा के अनुसार प्रसन्नता और शान्ति की प्राप्ति और संसार का हित—ये सब वे कारण हैं। इन कारणों में तर्कों द्वारा संभाव्य प्रतीत होनेवाला वह आलम्बन अर्थात् पुनर्जन्म न भी जोड़ें, तो भी काम चल सकता है।

"प्राप्त जीवन में ही समाधान प्राप्त करने की अभिलाषा के अतिरिक्त आनेवाली पीढ़ियों के लिए अमूल्य विरासत छोड़ने की आशा, जन्म-मरण से छूटने की अभिलाषा, इसी प्रकार मानव-जन्म में उत्क्रान्ति के शिखर तक पहुँचने की अभिलाषा, इन तमाम विचारों की जड़ में जो श्रद्धा अडिग रूप में विद्यमान है और जो श्रद्धा सत्यमूलक तथा अनुभव-सिद्ध है, वह तो यह है कि—**न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गति तात गच्छति।** श्रेयार्थी को कभी पछताना तो पड़ता ही नहीं, इस सिद्धान्त में निष्ठा हो और यदि यह सिद्धान्त सत्पुरुषार्थ के लिए आवश्यक बल प्रदान कर सकता हो, तो फिर किस वाद से इस सिद्धान्त में श्रद्धा उत्पन्न हुई, यह बात बहुत महत्त्व की नहीं रह जाती।

"इसलिए श्रेयार्थी के लिए यह जरूरी नहीं कि वह किसी एक मत का ही आग्रह रखकर बैठ जाय। शान्ति और आश्वासन देनेवाला मार्ग तो यह है कि इन दोनों वादों से ऊपर उठकर मनुष्य ऐसे सिद्धान्तों के आधार पर श्रेयः-प्राप्ति के लिए जीवन का मार्ग निश्चित करे, जो अधिक ऊँचे हों और जिनका अनुभव मनुष्य स्वयं कर सके। बुद्धि की भूख को शान्त करने के लिए भले ही वह इनमें से कोई एक या दूसरा या कोई स्वतन्त्र तीसरा तर्क स्वीकार कर ले, परन्तु वह भूलकर भी यह न मान ले कि यह तीसरा तर्क निश्चित रूप से सही है।"

'समूळी क्रान्ति' (जड़मूल से क्रान्ति) में उन्होंने यह बात दूसरे ही प्रकार से पेश की है। इसमें वे लिखते हैं :

"सब धर्मों में एक अन्य सिद्धान्त भी समान रूप से विद्यमान है और दुर्भाग्य से यह सिद्धान्त आज के प्रश्नों का हल ढूंढ़ने में कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। समाज-धर्म के पालन में यह सिद्धान्त बाधाएँ डालता है और मनुष्य को, विशेषतः श्रेयार्थी को, सिखाता है कि वह समाज-धर्म की अवगणना करे। यह सिद्धान्त है—व्यक्तित्व की अमरता और मोक्ष। मनुष्य अपने जीवन-काल में जिस व्यक्तित्व का अनुभव करता है, वह अनादि और अमर है, मरने के बाद भी पुनर्जन्म के द्वारा, अथवा स्वर्ग-नरक में निवास के द्वारा भी वह कायम रहता है और मनुष्य का असली काम इस संसार को सुधारना नहीं, बल्कि परलोक की (अर्थात् भविष्य में अच्छा जन्म अथवा नरक से बचकर अखण्ड स्वर्ग या निर्वाण की) प्राप्ति है। इस संस्कार में से ऐसे सिद्धान्त बने हैं कि ऐहिक जीवन में जितना भी दुःख भोगा जायगा, पारलौकिक जीवन में उतना ही सुख मिलेगा। घर की छत में से पानी टपकता हो, तो आदमी छाता खोलकर उसके नीचे बैठ जाय। घर के सभी लोग अपने लिए इसी प्रकार की सुविधाएँ कर लें, इस प्रकार के तीव्र संस्कार श्रेयार्थी पर पड़े हुए हैं।

"लोक और परलोक, इस संसार के और मोक्ष के धर्मों के बीच रात और दिन जैसा विरोध बताया गया है। मोक्षधर्म का अवलम्बन करने में मनुष्य अपने को असमर्थ पाता है, इस कारण वह सांसारिक प्रवृत्तियाँ करता है। इससे चित्त-शुद्धि होती है, इतना लाभ अवश्य है। परन्तु अन्तिम ध्येय तो निवृत्ति, व्यक्तिगत साधना, अपने लिए निजी स्वर्ग या मोक्षरूपी परलोक ही होता है। इस कारण संसार को सुखी करने का प्रयास करनेवाले, समाज की विविध प्रवृत्तियों में पड़नेवाले, सामाजिक धर्मों का अनुसरण करनेवाले लोग अन्तिम दृष्टि से माया में फँसे हुए ही समझे जाते हैं।

"इस कारण से तीव्र श्रद्धावाले मनुष्य के हृदय में संसार के प्रति स्वभावतः अनास्था उत्पन्न हो जाती है और वह इनसे दूर भागना चाहता है। क्योंकि यदि वह संसार के कामों में रस लेने लगे, तो वह तीव्र साधक नहीं बन सकता। साधु पुरुष संसार के कामों में रस लेने लगें, तो यह एक प्रकार का पतन माना जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि संसार की प्रवृत्तियाँ स्वार्थी और धूर्त लोगों के हाथों में ही रह जाती हैं।

"वस्तुतः आत्मतत्त्व (चैतन्य-शक्ति अथवा ब्रह्म) और भिन्न-भिन्न देहों में दिखनेवाले प्रत्यगात्मभाव के बीच का भेद समझ लेना बहुत जरूरी है। चैतन्य-शक्ति अथवा परमेश्वर अनादि-अमर है। इसलिए उसमें से स्फुरित और उस पर आधार रखनेवाला व्यक्तित्व (प्रत्यगात्मभाव) भी अनादि-अमर है ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। वह अनादि-अमर है, ऐसा मान लेने से समाज-धर्म के विषय में अनास्था और अपने व्यक्तित्व के विकास में और मोक्ष में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। समाज-धर्म, सेवा आदि सबको मनुष्य अपने मोक्ष की सिद्धि के अनुपात में ही महत्त्व देने लगता है और यदि यह मोक्ष केवल कल्पना ही हो, तो इसके भरोसे समाज-धर्म का किया गया त्याग समाज का द्रोह साबित हो जाता है।

"व्यक्तित्व यदि अनादि और अमर हो, तो भी समाज-धर्म को छोड़कर श्रेयःसाधन की उपासना दोष-रूप है। समाज के कल्याण के लिए प्रयत्नशील होना और उसी हेतु से अपनी शक्तियों का उपयोग और विकास करना ही साधना होनी चाहिए। इस विचार के अभाव में समाज ऐसे ही लोगों के हाथों में रहा और रह जाता है, जो इसे पीड़ा पहुँचाते रहे हैं। जितने अंश में परमेश्वर में श्रद्धा रखकर इस धारणा का त्याग किया गया है, उसी अंश में संसार को सत्पुरुषों की सहायता मिली है और मिल रही है। वास्तव में मनुष्य को यह चिन्ता करनी ही नहीं चाहिए कि मृत्यु के बाद उसका स्वयं का क्या होगा। वह तो केवल समाज के श्रेय की ही चिन्ता करे।"

किशोरलाल भाई ने 'जीवन-शोधन' पुस्तक पहले लिखी थी। इसमें पुनर्जन्म के सम्बन्ध में उनकी वृत्ति कुछ तटस्थ-सी थी। परन्तु पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं, तो जीवात्मा अथवा व्यक्तित्व के अनादित्व-अमरत्व की बात माननी पड़ती है। यह वे नहीं मानते थे। इसलिए बाद में लिखी 'समूळी क्रान्ति' नामक पुस्तक में उन्होंने यह बात दूसरी दृष्टि से लिखी है। तब क्या मर जाने पर मनुष्य के व्यक्तित्व का भी अंत हो जाता है? यह मान लेना भी युक्तिसंगत नहीं मालूम होता। क्योंकि मनुष्य के मन में यह वासना तो होती ही है कि उसकी मृत्यु के बाद क्या होना चाहिए, क्या करना चाहिए। मेरे खयाल से इस बात का खुलासा किशोरलाल भाई शायद इस प्रकार करते कि मनुष्य अप

जीवन में जिन गुणों का उत्कर्ष कर लेता है अथवा जो दुर्गुण उसके भीतर रह जाते हैं या जो वासनाएँ अधूरी रह जाती हैं, वे सब जन-समाज को विरासत के रूप में मिलती हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि अपने पीछे अच्छी विरासत छोड़ने के लिए वह अच्छे गुणों का उत्कर्ष करने का ध्येय ही जीवन में अपने सामने रखे।

कर्म का सिद्धान्त

पुनर्जन्मवाद में से पूर्वकर्मवाद तर्क द्वारा ही फलित होता है। वस्तुतः पूर्वकर्म का अर्थ केवल इतना ही है कि कोई भी वर्तमान स्थिति मनस्वी ईश्वर की मनमानी का परिणाम नहीं है, बल्कि वह अधिकांश में व्यक्ति या समाज द्वारा किये गये किसी पूर्व-कर्म का परिणाम है। इस विषय में किशोरलाल भाई कहते हैं :

"सामान्य मनुष्य पूर्वकर्म का अर्थ बहुत संकुचित करने लगे हैं। पूर्वकर्म का अर्थ इस क्षण के पहले किया गया कर्म नहीं, बल्कि एकदम पिछले जन्म का कर्म माना जाता है। हर किसी बात को पूर्वकर्म पर नहीं, परन्तु पूर्वजन्म पर डालने की आदत इतनी साधारण हो गयी है कि 'पूर्वकर्म' का प्रयोग सब प्रकार के अज्ञान, आलस और अंधेपन को छिपाने के लिए सुविधा के साथ लोग करने लगे हैं। कोई बहन बालविधवा है, किसी बहन को बार-बार प्रसूति होती है, कोई पुरुष या स्त्री रोगी है, देश में पराधीनता है, दरिद्रता है, अस्पृश्यता है, बाल-मृत्युएँ होती हैं, बाढ़ आयी, अकाल पड़ गया, इन सबको हमारे पण्डित या अर्धपण्डित कह देते हैं : 'जैसे जिसके कर्म' और बस, इतने में अपने कर्तव्य की इति श्री समझ लेते हैं।

"परन्तु जीवन के सभी अनुभवों को पूर्वजन्म के साथ झट-से जोड़ देना जरूरी नहीं है। इन अनुभवों के बहुत से कारण यदि हम ढूँढ़ने लगें, तो इसी जन्म के कर्मों या संकल्पों में मिल सकते हैं। अर्थात् इस जन्म के कर्म और संकल्पों की जाँच किये बिना पूर्वजन्म के अनुमान पर आ जाना भूल है।

"फिर सामान्य व्यवहार में हम कहते और मानते भी हैं कि 'ताली दोनों हाथ से ही बजती है'। यह कहावत सुख-दुःख के अनुभवों पर भी लागू होती है।

आज हम जो सुख या दुःख अनुभव कर रहे हैं, वह केवल हमारे पूर्वकर्मों का ही फल नहीं होता। वह हमारे सिवा दूसरों के कर्मों का भी फल हो सकता है। यही नहीं, जिन पर हमारा कोई वस नहीं, ऐसी प्राकृतिक शक्तियाँ भी उसका कारण हो सकती हैं। उदाहरणार्थ वाढ़, विजली, भूकंप, अनावृष्टि जैसे आधिदैविक कारण। कभी ऐसे फल लाने में स्वकर्म अधिक वलवान् होता है, तो कभी परकर्म। कभी दोनों का वल समान काम करता है और कभी आधिदैविक कारण वलवान् होता है।*

"एक लड़की वाल-विधवा है। इसमें उसका पूर्वकर्म तो इतना भले ही हो कि वह विना समझे-बूझे विवाह-मंडप में जाकर वैठ गयी, परन्तु वास्तव में तो उसे अपने माता-पिता के कर्मों के कारण ही यह विधवापन भोगना पड़ रहा है। शायद कोई कहे कि माता-पिता के कर्मों का फल लड़की को भोगना पड़े, यह तो अन्याय है। इसे आप न्याय कहें या अन्याय, परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, मनुष्य केवल अपने ही कर्मों का फल भोगता है, यह ऐकान्तिक नियम नहीं है। इस उदाहरण से ही यह सिद्ध हो जाता है। अतः यह भ्रम दूर हो जाना जरूरी है। रूढ़ियाँ अटल हैं, यह मानकर हम जहाँ-तहाँ पूर्वजन्म के कर्मों का नाम ले लेते हैं। कितने ही परिणाम स्वसंकल्पजनित, कितने ही परसंकल्पजनित और कितने ही उभयसंकल्पजनित होते हैं। मनुष्य अपने व्यक्तित्व की दृष्टि से नहीं,

---

*गीताकार कहते हैं: अधिष्ठान, कर्ता, भिन्न-भिन्न इंद्रियाँ, विविध व्यापार और दैव, इन पाँच कारणों से कर्म वनता है (अ० १८ : १४-१५)। सहजानंद स्वामी ने अपने वचनामृत में मनुष्य पर असर डालनेवाले आठ कारण गिनाये हैं: देश, काल, क्रिया, संग, मंत्र, देवता का ध्यान, दीक्षा और शास्त्र। ये पूर्वकर्म के अलावा हैं और इन पर पूर्वकर्म का असर नहीं होता। क्योंकि यदि इन आठ पर पूर्वकर्म का वश होता, तो मारवाड़ में कितने ही राजा पुण्यशील हो गये, पर उनके लिए सौ हाथ गहरा पानी ऊपर नहीं आ गया। और यदि देश पूर्वकर्म के वश में हो, तो पुण्यकर्मवालों के लिए पानी ऊपर आ जाना चाहिए और पापियों के लिए नीचे चला जाना चाहिए। परन्तु ऐसा तो होता नहीं। इसलिए देशादिक पूर्वकर्म से टल नहीं सकते।

बल्कि ब्रह्माण्ड के एक अवयव की दृष्टि से विचार करे, तो इसका कारण उसकी समझ में स्पष्टता से आ जायगा। व्यक्ति स्वायत्त भी है और ब्रह्माण्डायत्त भी। अकाल अकाल-पीड़ितों के संकल्पों का प्रतिफल नहीं होता। यह ब्रह्माण्ड के संकल्प का अर्थात् ब्रह्माण्ड की शक्तियों का परिणाम होता है।

"ऊपर यह तो नहीं कहा गया है कि हमारा पूर्वकर्म कारणभूत नहीं होता। जब अनेक व्यक्तियों पर भयंकर संकट आता है और बहुतों का संहार होता है, वहाँ यदि कोई आदमी अचानक बच जाता है अथवा प्राणघातक दुर्घटना में से वह अकस्मात् सही सलामत निकल आता है, तब जीवन-धारण के किसी बलवान् संकल्प का या किसी पूर्वकर्म का यह फल है, ऐसा माना जा सकता है। परन्तु हर जगह पूर्वकर्म और उसमें भी पूर्वजन्म को सामने रख देना भूल है।

"कर्मवाद में से प्रारब्धवाद पैदा हुआ है। प्रारब्ध का अर्थ किया जाता है, वे कर्म, जो शुरू हो गये हैं। ज्ञान-प्राप्ति के बाद मनुष्य के दूसरे कर्म क्षय हो जाते हैं। परन्तु जिन कर्मों का भोग शुरू हो गया है, उन्हें तो पूरा करना ही पड़ता है, ऐसा माना जाता है।" किशोरलाल भाई कहते हैं कि इस प्रारब्धवाद का भी बहुत दुरुपयोग होता है। वे लिखते हैं :

"ज्ञानी माने जानेवाले पुरुष अपनी भोग-वृत्ति का पोषण करने के लिए भी प्रारब्धवाद का बहुत उपयोग कर लेते हैं। ज्ञानी को भी प्रारब्ध का भोग तो करना ही पड़ता है, ऐसा कहकर संन्यासी भी शाल-दुशाले ओढ़ सकते हैं, कीमती वस्त्र और गहने पहन सकते हैं और दुष्कर्म भी कर सकते हैं।"

वासना-क्षय

पुनर्जन्म के वाद के पीछे कर्म का सिद्धान्त होने से कर्मों के नाश का उपाय निकालना अथवा वासनाओं का क्षय करना मोक्ष पुरुषार्थ का साधन माना जाता है। क्योंकि वासना ही बन्धन और जन्म-मरण का कारण है, ऐसा तत्त्व-विचारक कहते सुने गये हैं। इस बारे में किशोरलाल भाई कहते हैं :

"परन्तु इस विषय में साधक कितनी ही बार घोटाले में पड़ जाता है। जीवन अथवा जीवन के कर्मों के प्रति अरुचि हो जाना, जीवन में असफल हो जाने के कारण संसार अथवा सम्बन्धी जनों के प्रति कुछ विरक्ति हो जाना,

अकाल वृद्धावस्था का आना, वैराग्य का क्षणिक ऊपरी आवेग आना, इन सबसे साधक ऐसा समझने लगता है कि उसकी वासनाएँ निवृत्त हो गयीं और आध्यात्मिक दृष्टि से इसे वह शुभ समझता है और इस वृत्ति को पोषण देने का यत्न करता है।

"परन्तु वासनाओं की जड़ें इतनी उथली नहीं होतीं कि झट-से इनका क्षय हो जाय। हाथ में मिट्टी लगने पर जिस प्रकार हम उसे झाड़कर या धोकर साफ कर सकते हैं, इस प्रकार वासना झाड़ी या धोयी नहीं जा सकती। जिस प्रकार हम किसी पौधे को जड़ से उखाड़कर फेंक सकते हैं, उसी प्रकार वासना को भी उखाड़कर फेंका नहीं जा सकता।

"शादी कर लें या ब्रह्मचर्य का पालन करें, खूब धन कमायें या देश-सेवा में लग जायँ अथवा संन्यास ले लें, इंग्लैंड जाकर किसी विषय का खूब अध्ययन करें या हिमालय में जाकर एकान्त चिन्तन में जीवन बितायें—कल तक किसी मनुष्य के मन में इस तरह की दुविधाएँ रही हों और फिर किसी आवेग के वश होकर वह संन्यास लेकर हिमालय में चला जाय, तो इस पर से यह नहीं मान लेना चाहिए कि वासनाओं का सफलतापूर्वक उच्छेदन हो गया है। कोई बहुरूपिया जिस तरह नये-नये रूप लेकर सामने आ खड़ा होता है, उसी प्रकार वासना भी नये-नये बहाने बनाकर नये रूपों में हाजिर होती रहती है।

"मुझे तो 'वासना का उच्छेद', यह शब्द-प्रयोग ही भ्रमपूर्ण मालूम होता है। पुराने जमाने में मिट्टी के तेल की बदबू को दूर करने के लिए नागरबेल (पान) पत्ते हाथों में मसले जाते थे। उसी प्रकार मलिन और अपने सुख की वासनाओं का संयम करके उन्हें शुद्ध करके परोपकार की वासनाओं में उनका रूपान्तर करना चाहिए। फिर इन शुद्ध वासनाओं को विवेक से और भी शुद्ध करके उनका केवल इतना पोषण किया जाय कि वे वासनारूप में न रह जायँ—केवल सात्त्विक प्रकृति के रूप में सहज गुण बन जायँ और अन्त में उसका विलय हो जाय। वासना का अंत करने का यह भले ही एक मार्ग हो सकता है। इसलिए 'वासना के उच्छेद' की अपेक्षा 'वासना को उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुद्ध करना' यह प्रयोग मुझे अधिक सही मालूम होता है। अशुभ वासनाओं को दबाकर शुभ वासनाओं का पोषण करना और उन्हें भी उत्तरोत्तर निर्मल करते

जाना, यह बात अधिक समझ में आने लायक है। जिस प्रकार अत्यंत महीन अंजन आँखों में चुभता नहीं अथवा फूल का सूक्ष्म पराग वातावरण को बिगाड़ता नहीं, इसी प्रकार वासना का अत्यंत निर्मल स्वरूप चित्त में अशान्ति नहीं पैदा करता और सत्य की शोध में बाधक नहीं होता। निर्वासनिकता और इस स्थिति के बीच यदि भेद हो भी, तो वह बहुत सूक्ष्म है। $\frac{१}{२}+\frac{१}{४}+\frac{१}{८}+\frac{१}{१६}$ इस प्रकार अनवधि तक का उत्तर और १ के बीच जितना अंतर है, उतना ही यह अंतर कहा जा सकता है।"

जीवन का ध्येय सार्वजनिक हो

व्यक्तिगत मोक्ष को ध्येय बनाने से कई बार मनुष्य को समाधान नहीं होता। यह बात समझाने के लिए किशोरलाल भाई 'संसार अने धर्म' पुस्तक में (पृ० ३६-३७) लिखते हैं :

"व्यक्तिगत मोक्ष के लिए बहुत-से साधु पुरुषों ने बड़ा पुरुषार्थ और त्याग किया है और सिद्धि प्राप्त करने से पहले ही उनकी मृत्यु भी हो गयी है। परन्तु यदि यह मोक्ष केवल कल्पना की ही वस्तु हो और मोक्ष सिद्ध हो गया, ऐसा खयाल हो जाने के बाद यदि कुछ ही दिन बाद उनकी मृत्यु हुई हो; तब तो उनकी मृत्यु शान्ति और समाधानपूर्वक हो जाती है। परन्तु यदि उसके बाद वे अधिक समय तक जिये हैं, तो मृत्यु के समय अधिक जीने की इच्छा और यत्न करते वे देखे गये हैं। क्योंकि काल्पनिक मोक्ष की कृतार्थता कम हो जाने के बाद कोई बची हुई कामना अथवा अधिक आगे बढ़ने की कामना उनका नया ध्येय बन जाती है और वह उनमें जीने की अभिलाषा को बनाये रखती है।

"परन्तु जिसके सामने जान-अनजान में विश्व के जीवन को किसी दिशा में अधिक समृद्ध करने का ध्येय होता है, और जो इसीमें अपना व्यक्तिगत श्रेय भी समझता है, उसे इस ध्येय के लिए जीना उपयोगी मालूम होता है और यदि उसके लिए मरने की जरूरत हुई, तो मरना भी उपयोगी मालूम होता है। इसी प्रकार काम करते-करते स्वाभाविक मृत्यु आये, तो भी उसमें उसे शान्ति और समाधान मालूम होता है।

"मृत्यु को जीतने का यही निश्चित मार्ग मालूम होता है। अर्थात् जीवन का ध्येय स्वलक्षी नहीं, व्यक्तिगत नहीं, बल्कि विश्वलक्षी और सार्वजनिक हो।

उसे आप ध्येय मानें या अपने श्रेय का साधन समझें, अथवा अपने श्रेय को ध्येय बना लें और सार्वजनिक जीवन की समृद्धि को उसका अनिवार्य साधन बना लें। यदि हमारे श्रेय और विश्व-जीवन की समृद्धि के बीच विरोध नहीं, बल्कि मेल कायम कर लिया गया है, यदि इस ध्येय का कुछ अंश हमारे अपने जीवन-काल में और अपने ही हाथों सिद्ध होने का आग्रह नहीं रखा है; बल्कि उसे इतना लम्बा और ऐसा सार्वलौकिक बना दिया गया है कि उसकी सिद्धि अनेक लोगों का हाथ लगने पर और दीर्घकाल में होनेवाली है, तो ऐसे ध्येय के लिए जीने और मरने में भी समाधान बने रहने की पूरी संभावना है। दूसरा कोई ध्येय यह परिणाम नहीं ला सकता।"

मोक्ष के सम्बन्ध में नाथजी के विचार

व्यक्तिगत मोक्ष का ध्येय अपने सामने रखने के कारण हमारे समाज को कितनी हानि सहनी पड़ी है, इस बारे में नाथजी कहते हैं :

"मोक्ष जैसा व्यक्तिगत कल्याण का ध्येय मान लेने के कारण सामुदायिक लाभ और कल्याण के लिए जिस सामुदायिक विचार, वृत्ति और सद्‌गुणों की जरूरत होती है, वे अभी तक हमारे भीतर नहीं आये और न अंकुरित ही हुए। हर मनुष्य अपने-अपने कर्म के अनुसार सुख-दुःख भोगता है, हम किसीको सुखी या दुःखी नहीं कर सकते, कोई किसीको सुखी या दुःखी करता है, यह केवल भ्रम है—इस प्रकार की शिक्षा हमें एक जमाने से मिलती रही है। यह शिक्षण देने में हेतु चाहे कितना ही ऊँचा रहा हो, परन्तु यह हमें अत्यंत स्वार्थी बनाने में कारण बन गया है। ऐसा लगता है कि आज के अनर्थों के बहुत-से बीज इसी शिक्षा में हैं। धन, विद्वत्ता, वैभव अथवा अन्य किसी विशेष प्राप्ति द्वारा हम सुखी हों अथवा मोक्ष-प्राप्ति द्वारा अपना कल्याण-साधन करें, इन सबमें सामुदायिक कल्याण का विचार कहीं भी किसी प्रकार नहीं दिखता। इस पर से ऐसा ज्ञात होता है कि हममें सामाजिक अथवा सामुदायिक वृत्ति का जो अभाव पाया जाता है, उसका कारण हमारे अन्दर यह व्यक्तिगत लाभ करने की दृष्टि का विकास करनेवाली शिक्षा ही होनी चाहिए। हमारे आचार-विचार में कहीं व्यापक दृष्टि नहीं, सर्वत्र संकुचितता ही दिखाई देती है। इसके और भी कारण हो सकते हैं। परन्तु यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है, ऐसा विश्वासपूर्वक लगता है।

"यदि हमें लगता है कि यह स्थिति अवनतिदर्शक और शोचनीय है, तो इसे वदलने का हमें निश्चयपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए हमें उदात्त और उपयक्त ध्येय अपने सामने रखना चाहिए। इसके सिवा दूसरा मार्ग नहीं है। हम मनुष्य हैं और यदि मनुष्य की भाँति हमें जीना है, तो सद्‌गुणों के सिवा यह वात कभी सिद्ध नहीं हो सकती। यह वात सवसे पहले हमारे हृदय में अंकित हो जानी चाहिए। मनुष्य अकेला नहीं रह सकता। वह सामाजिक प्राणी है। इसलिए व्यक्तिगत कल्याण अथवा हित की कल्पना दोषास्पद समझी जानी चाहिए। व्यक्तिगत हित कोई चीज नहीं हो सकती। वह तो व्यक्तिगत स्वार्थ से सम्बन्ध रखनेवाली कोई क्षुद्र अथवा महान् अभिलाषा भले ही हो। इससे आज नहीं तो कल सामुदायिक दृष्टि से हानि हुए विना नहीं रह सकती, यह हम निश्चयपूर्वक समझ लें। धन, विद्या, सत्ता किसी एक के हाथों में आये, फिर भी उसका सदुपयोग अथवा सही उपयोग तो तभी समझा जायगा, जव उसका उपयोग सवके हित के लिए होगा। सव तरफ से—सभी दृष्टि से जव तक हम सामाजिक नहीं वन जाते, तव तक हमारे भीतर मानवता नहीं आयेगी। हमारा धर्म वही है, जिससे मानव-मात्र का कल्याण हो। मानव-मात्र में हम भी आ ही जाते हैं। इसलिए इस धर्म से हमारा अहित नहीं—सवके साथ हमारा भी हित ही होगा। ऐसी श्रद्धा हमें रखनी चाहिए। हमारा सवका जीवन मानवीय सद्‌गुणों पर ही चल रहा है। जहाँ-जहाँ हमारे अन्दर सद्‌गुणों की कमी होगी, वहाँ-वहाँ दुःख के प्रसंग आयेंगे, फिर यह न्यूनता हमारे अपने भीतर हो या दूसरों के भीतर—उससे हम या वे अवश्य ही दुःख पायेंगे। जहाँ सद्‌गुणों का अभाव होगा, वहाँ उसका परिणाम किसीको न किसीको तो भोगना ही पड़ेगा। यह तो नियम ही है। इसलिए हम सव सुखी वनना चाहते हैं, तो हमें सद्‌गुणी वनना ही पड़ेगा। यह वात हमें अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिए और उस दिशा में हमारे प्रयत्न भी सतत होते रहने चाहिए। हम समाज के एक घटक हैं। समाज हमसे ही वना है। हमारे सवके भले-वुरे कामों का असर सभी पर भला या वुरा होता रहता है। किसी भी भले-वुरे काम का परिणाम केवल उसके करनेवाले को ही नहीं भोगना पड़ता। हमारे सवके कामों का परिणाम हम सवको भोगना पड़ता है। इस प्रकार इस एकत्रपन के सामाजिक सम्वन्ध से और न्याय से हम

आपस में एक-दूसरे के साथ बँधे हुए हैं। अस्वच्छता और अव्यवस्थितता दोष हैं। इनके परिणाम रोगों के रूप में अथवा अन्य ही किसी रूप में मनुष्य को भुगतने पड़ते हैं। अपना समाज बनकर मनुष्य एक साथ रहता है। ऐसी स्थिति में हम अकेले स्वच्छता से रहें या केवल हम अपने निवास को ही स्वच्छ रखें, केवल इतने से हम निरोग नहीं रह सकते। इसलिए हमारे साथ-साथ हमारा मकान, दूसरे लोग और सारा गाँव जब तक स्वच्छ नहीं होगा, तब तक हम अपने-आपको रोगों के अनर्थों से सुरक्षित नहीं मान सकते। गाँव में कहीं भी रोग उत्पन्न होता है, तो उसके दुष्परिणाम सबको भोगने पड़ते हैं। जिस प्रकार यह प्रकृति का नियम है, उसी प्रकार मनुष्य के दूसरे व्यवहारों की भी बात है। मनुष्यों को विचार करके मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों, मनुष्य के कर्मों और उनके परिणामों के नियम ढूंढ़ लेने चाहिए। कार्य-कारण भावों की जाँच करनी चाहिए। यदि यह किया जायगा, तो मनुष्य इसी निश्चय पर पहुँचेगा कि हम सब एक-दूसरे के कर्मों से बँधे हुए हैं। आज समाज में जो बहुत बड़े-बड़े झगड़े होते हैं, उनमें झगड़ा उत्पन्न करनेवाले कौन होते हैं और उनके अत्यंत दुःख-दायी परिणाम किन्हें भोगने पड़ते हैं? युद्धों की सृष्टि कौन करता है और प्राण-हानि और सर्वनाश किन्हें भोगना पड़ता है? इन सब बातों का यदि विचार किया जायगा, तो हम इसी निश्चय पर पहुँचेंगे कि किसी भी कर्म का फल केवल उसके करनेवाले को ही नहीं, बल्कि एक के कर्म का फल दूसरे को, बहुतों को अथवा सबके कर्मों का फल सबको भोगना पड़ता है; संसार में यही व्यवस्था या न्याय चल रहा है। परन्तु जीवन का व्यक्तिगत ध्येय हमने जो एक बार श्रद्धापूर्वक बना लिया है, उसे हम छोड़ने के लिए तैयार नहीं हो रहे हैं। जगत् में जो न्याय (नियम) प्रत्यक्ष चालू है, उस पर विचार नहीं करते। पूर्वजन्म और पूर्वजन्म की कल्पना से पूर्वकर्मवाद का आश्रय लेकर अपनी पुरानी श्रद्धा को पकड़कर बैठे रहने का प्रयत्न करते रहे हैं। परन्तु अब जरूरी है कि व्यक्तिगत ध्येय की कल्पना से और उसके कारण एकांगी स्वभाव से आज तक हमारा और हमारे समाज का जो अहित हुआ है, उसे ध्यान में रखते हुए हम अपने जीवन, अपने समाज, राष्ट्र, मानव-जाति आदि सबके हित की दृष्टि से अपने ध्येय पर गंभीरता के साथ विचार करें।"

चौथा पुरुषार्थ मोक्ष नहीं, ज्ञान

इन सभी बातों का विचार करते हुए किशोरलाल भाई को लगा कि "काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष, इन चार पुरुषार्थों में चौथे पुरुपार्थ का नाम जो मोक्ष रखा गया है, इससे कुछ अंशों में भ्रम पैदा हो जाता है। इसके बदले चौथे पुरुपार्थ का नाम यदि ज्ञान रख दिया जाय, तो सारा घोटाला दूर हो सकता है। किसी भी पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए शोध किये बिना मनुष्य का काम नहीं चल सकता। शोध काम अर्थात् सुख के लिए हो, अर्थ के लिए हो या धर्म के लिए हो, प्रत्येक शोध के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान से मनुष्य सुख का शोधन करता है, अर्थ का शोधन करता है और धर्म का भी शोधन करता है। शोधन का अर्थ है, जिसकी जानकारी नहीं उसकी जानकारी प्राप्त करना और प्राप्त जानकारी को शुद्ध करना। बाद के पुरुपार्थ से मनुष्य को इतना समाधान हो जाता है कि उसका पहले का पुरुषार्थ गौण बन जाता है। उदाहरणार्थ अर्थ की प्राप्ति के लिए काम को गौण बनाना पड़ता है और धर्म की प्राप्ति के लिए अर्थ को गौण बनाना पड़ता है। इसी प्रकार ज्ञान की, शोध की प्राप्ति में मनुष्य को इतना समाधान हो जाता है कि यही एक स्वतंत्र पुरुपार्थ बन जाता है और इसमें इसके धर्म, अर्थ और कामरूपी फलों का उपभोग करने की इच्छा मंद हो जाती है। इस तरह काम, अर्थ और धर्म के साथ ज्ञान चौथा पुरुषार्थ बन जाता है।"

मोक्ष के बदले ज्ञान को चौथा पुरुपार्थ मानना क्यों श्रेयस्कर है, यह किशोरलाल भाई नीचे लिखे अनुसार समझाते हैं :

"किसी अतिप्राचीन काल में ज्ञान-प्राप्ति की शोध के बीच कर्म का सिद्धान्त और उसके परिणामस्वरूप पुनर्जन्मवाद की शोध हुई।.........जिसने ज्ञान के पुरुपार्थ के अंत तक पहुँचकर अपने अस्तित्व के मूल—आत्मतत्त्व को ढूंढ़ लिया, उसने अपने लिए पुनर्जन्म की संभावना तथा उसके भय से भी मुक्ति पा ली। आत्मतत्त्व की खोज में पुनर्जन्म को रोकने अथवा उसके भय से छूटने का साधन मिल गया।

"ऐसे किसी कारण से चौथे पुरुपार्थ का नाम ज्ञान के बदले मोक्ष हो गया और उसका अर्थ पुनर्जन्म से छूटने के लिए किया गया पुरुपार्थ हो गया। पुनर्जन्म के वाद के मूल में कर्म का सिद्धान्त होने के कारण कर्मनाश के उपाय की योजना

करना चौथे पुरुषार्थ का ध्येय मान लिया गया। धर्म, अर्थ और काम किसी-न-किसी रूप में कर्म का विस्तार बढ़ानेवाले ही हैं। इस कारण इनमें और मोक्ष के बीच रात और दिन के समान विरोध है, ऐसी विचार-सरणी पैदा हो गयी। इसलिए इन तीन पुरुषार्थों से निवृत्ति अथवा इन तीनों के साथ जिन कर्मों का सम्बन्ध न हो, उनमें प्रवृत्ति, यही चौथे पुरुषार्थ की सिद्धि का साधन मान लिया गया।

"............कुछ लोगों को लगा कि बंध और मोक्ष दोनों चित्त पर लागू होनेवाले धर्म हैं। चित्त अर्थात् अनेक संस्कारों का समूह। इन संस्कारों का जोर ही चित्त का बन्धन है और इनकी शिथिलता चित्त का मोक्ष है। मनुष्य ने अपने-आपको देश, जाति, धर्म, अधर्म, नीति, अनीति आदि अनेक संस्कारों से बाँध लिया है। इन संस्कारों के बन्धन को तोड़ देना ही मोक्ष है।

"इन विचारों में तथ्यांश है। परन्तु जिस प्रकार से इन विचारों का पोषण किया गया है, उसके कारण कुछ विपरीत परिणाम भी निकले हैं। प्रवृत्ति-विचार अथवा निवृत्ति-विचार, संस्कारों का बंधन या शिथिलता—ये संपूर्ण नहीं, मर्यादित सिद्धान्त हैं। फिर यह मर्यादा भिन्न-भिन्न समय में संकोच और विकास प्राप्त करती रही है। इस बात की ओर दुर्लक्ष हो गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर कृत्रिम और जड़ निवृत्ति के लिए और दूसरी ओर स्वच्छन्दता के लिए मोक्ष के मार्ग द्वारा खुला परवाना मिल गया। चौथे पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए कर्ममात्र से पूर्णतः निवृत्त हो ही जाना चाहिए, यह कल्पना 'मोक्ष' शब्द ने निर्माण की। इसी प्रकार आचार और विचार में भी इसने बहुत से घोटाले और अस्पष्टताएँ निर्माण कर दी हैं। प्रवृत्ति और साधना को कृत्रिम मार्गों में मोड़ दिया और सांसारिक तथा पारमार्थिक, इस प्रकार दो तरह के—मानो एक-दूसरे से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखनेवाले—कर्मों के भेद निर्माण कर दिये।

"इस प्रकार 'मोक्ष' शब्द अनेक प्रकार से भ्रामक बन गया। वस्तुतः चौथा पुरुषार्थ मोक्ष नहीं, बल्कि ज्ञान, अथवा शोध है। इसके लिए किये जाने-वाले प्रयत्न के द्वारा मनुष्य धर्म, अर्थ और काम का शोधन करता है, अर्थात् उनकी खोज करता है और उनके लिए की जानेवाली प्रवृत्तियों को शुद्ध करता है।

इसीसे यह इनकी मर्यादाओं को तथा एक-दूसरे पर लगे अंकुशों को जानता है और अंत में इसीके द्वारा संसार को तथा स्वयं अपने को भी खोजता है तथा शुद्ध करता रहता है। यहाँ तक कि जीवन के मूल कारण को भी ढूंढ़ लेता है। ज्ञानी पुरुष धर्म अथवा नीति के वन्धनों में से अपने-आपको मुक्त नहीं कर लेता, वल्कि धर्म के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है, विविध कर्मों की अपने काल के अनुरूप मर्यादाओं को जान लेता है और उनके वन्धनों तथा मर्यादाओं को ज्ञानपूर्वक स्वीकार कर लेता है और इन मर्यादाओं में रहकर अर्थ तथा काम का उपभोग करता है।

"जिस प्रकार पहले तीन पुरुषार्थों का ध्येय जीवन का निर्वाह और सत्त्व-संशुद्धि है, उसी प्रकार चौथे का भी ध्येय वही है। मरने के वाद की स्थिति की चिन्ता करना अनावश्यक है। जिस प्रकार जीवन के प्रत्यक्ष व्यवहार से धर्म का सम्वन्ध नहीं रहने से तारतम्य का भंग हो जाता है, वैसी ही वात चौथे पुरुषार्थ पर भी लागू होती है।

"यदि इस प्रकार देखेंगे, तो चार पुरुषार्थों में रात और दिन जैसा अन्तर नहीं मालूम होगा, वल्कि वे एक-दूसरे पर आधृत और एक-दूसरे का नियमन करनेवाले प्रतीत होंगे।

"मनुष्य को जिज्ञासु होना चाहिए, श्रेयार्थी होना चाहिए, 'शुशुत्सु' (शोध और शुद्धि की इच्छावाला) होना चाहिए। इससे वह अनेक वहमों, अज्ञान, अधूरे ज्ञान, अनिश्चितता, संक्षेप में कहें, तो अवुद्धि से मुक्ति पा जायगा। यदि सृष्टि के नियमों में पुनर्जन्म हो, तो उसे समाधानपूर्वक स्वीकार कर लेने का वल उसे मिल जायगा और यदि यह केवल कल्पना ही है, तो इससे वह डरेगा नहीं। यदि पुनर्जन्म सत्य हो किन्तु वह टाला जा सकता हो, तो इसके मार्ग को भी वह विशेष शुद्ध और ऐसा वना सकेगा, जिससे अधिक विपरीत परिणाम न आयें। पुनर्जन्म के भय से वह कोई पुरुषार्थ नहीं करेगा, वल्कि जिज्ञासा, सत्य शोधन की वुद्धि और शुद्ध वनने की आकांक्षा से चौथे पुरुषार्थ में प्रेरित होगा।

× × ×

"ज्ञान के पुरुषार्थी को ज्ञान के लिए किया गया प्रयत्न और ज्ञान की प्राप्ति में से मिलनेवाला समाधान ही उसका अपना सुख होगा। परन्तु संसार

के हित की दृष्टि से यह पुरुषार्थ उचित दिशा में हो रहा है या नहीं, यह देखने के लिए यह जरूरी है कि यह प्रयत्न धर्म का निश्चय करने में अथवा उसका अनुसरण करने में तथा उसके द्वारा अर्थ और काम की सिद्धि करने में भी मददगार हो रहा है। यह सिद्धान्त ज्ञान के पुरुषार्थ का कुतुबनुमा है। उसका अंतिम फल* आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व को खोजकर अपनी निरालंब सत्ता का दर्शन है।"

शुद्ध आलंबन और निरालम्ब स्थिति

इस विषय में किशोरलाल भाई के ये विचार थे :

"ज्ञान का ध्येय है अर्थ और काम की उत्तरोत्तर शुद्धि और शोध करना। ज्ञान का अंतिम फल है अपने और संसार के अस्तित्व के मूल को जान लेना और आत्मा की निरालम्ब सत्ता का दर्शन करना।

"परन्तु इसके साथ ही यह ध्यान में रखना चाहिए कि आत्मा की निरालंब सत्ता की जानकारी (अर्थात् आत्मा को छोड़कर कोई अन्य इस पर सत्ता चलाने-वाला नहीं है, यह निश्चय हो जाना) एक बात है और इस निरालंब स्थिति में रहना, यह दूसरी बात है।

"जिसे 'आत्मा' अथवा 'ब्रह्म' कहा जाता है, उसे छोड़कर किसी अदृश्य शक्ति पर आधार रखने की जरूरत न लगना, अपने द्वारा किये गये कर्मों के फल-भोगने में सुख हो या दुःख अथवा दूसरों की ओर से या सृष्टि के नियमों से सुख या दुःख आ पड़े, तो भी धैर्य न छोड़ना और समता रखना, मरने के बाद हमारा क्या होगा या क्या होता होगा, इसकी लेशमात्र भी चिन्ता या कल्पना भी न करना; बल्कि जो जीवन प्राप्त हो गया है, उसमें शुभ कर्म और शुभ विचारों में लगे रहना तथा अपनी सत्त्व-संशुद्धि के लिए सदा यत्नशील बने रहना और इसके आगे का विचार भी न करना—इस प्रकार की शुद्ध निरालम्ब स्थिति में सदैव टिके रहनेवाले व्यक्ति थोड़े ही देखने में आते हैं।

---

* ज्ञान का अंतिम फल मोक्ष-प्राप्ति माना जाता है। परन्तु इससे होनेवाले भ्रम को दूर करने के लिए किशोरलाल भाई ने उसे श्रेयःप्राप्ति कहा है और मुमुक्षु के लिए 'श्रेयार्थी', 'साधक', 'शोधक', अथवा 'जिज्ञासु' शब्दों का प्रयोग किया है।

"जव कभी कहीं कोई ऐसा विरल महात्मा मिल भी जाता है, तो अधिकांश में ऐसा लगता है कि इस स्थिति को प्राप्त करने से पहले इसने वहुत लम्वे समय तक किसी दिव्य और अदृश्य शक्ति का सहारा लिया था। यही नहीं, वल्कि उसका अनन्य आश्रय और अनन्य भक्ति भी की थी। उसे यह अपने से ऊपर और भिन्न अदृश्य रूप में स्थित कोई शक्ति मानता था या उस शक्ति का अवतार मानता था या उस शक्ति के साथ उसका कोई खास सम्वन्ध मानता था। इसके अलावा मृत्यु के वाद की स्थिति के विषय में भी इसने कोई दृढ़ कल्पना वना ली थी और अपने जीवन में उत्कर्ष पाने के लिए इसने जो-जो भी पुरुषार्थ किये अथवा जिन कठिनाइयों को पार किया, वे सव इस आश्रय के और भविष्य में श्रद्धा के वल पर ही वह कर सका, यह भी ज्ञात होगा और वह खुद भी इस वात को स्वीकार करेगा। ऐसे किसी आधार अथवा आलंवन पर तथा कर्मों का फल देनेवाला कोई अटल परन्तु न्यायी नियम संसार में है, इस मान्यता पर जीवन के प्रारंभ में ही उसकी श्रद्धा वैठ जाने के कारण और सामान्य मनुष्यों के जीवन अथवा चित्त पर यह श्रद्धा जितना असर करती है, उससे अधिक वलवान् परिणाम उस पुरुष पर हो जाने के कारण ही उसका जीवन श्रेय के मार्ग की ओर मुड़ा है, ऐसा आप पायेंगे। श्रेयार्थी में जिन शुभ गुणों और भावों का उत्कर्ष होना चाहिए, उनका ठीक उतना उत्कर्ष हो जाय और ये गुण तथा भाव उसमें स्वभावसिद्ध वन जायँ, तभी यह कहा जा सकता है कि निरालम्व स्थिति की ओर उसने प्रयाण किया है और धीरे-धीरे उस स्थिति में दृढ़ता आयी है, ऐसा सामान्य अनुभव है।

"इस प्रकार मनुष्य को अपनी साधना के लिए किसी-न-किसी आलम्वन को स्वीकार करना पड़ता है और यदि यह आलम्वन शुद्ध होता है, तो वह अच्छी प्रगति कर सकता है।

"शुद्ध आलम्वन में क्या-क्या लक्षण होने चाहिए, यह हम देखें :

(१) विचार-शक्ति के वढ़ने पर इसमें श्रद्धा घटनी नहीं, वढ़नी चाहिए।

(२) वह हमारी वुद्धि की सूक्ष्मता वढ़ने की अपेक्षा रखे, परन्तु यह न कहे कि 'इससे अधिक गहराई में नहीं जाना चाहिए'।

(३) इसके स्वरूप के विषय में हमारे मन में यदि कोई गलतफहमी रही हो, तो उसके सम्बन्ध में अधिक चिन्तन के बाद वह दूर होती जाय और उसका स्वरूप अधिकाधिक स्पष्ट होता जाय और उसका कभी संपूर्ण त्याग न करना पड़े।

(४) यह आलम्बन यथासम्भव जाति, कुल, देश, संप्रदाय और अनुगम आदि उपाधियों से रहित हो और सर्वमान्य हो।

(५) श्रेयार्थी को यह आलम्बन इतना उदात्त और प्रिय लगना चाहिए कि उसमें उसकी श्रद्धा अपने जीवन में प्राप्त होनेवाले सुख में उसे नम्र और कृतज्ञ बनाये और वह जीवन की धन्यता समझने लगे, दुःख में धीरज और समता रखने की और शांति के साथ विश्व के नियमों के अधीन होने की शक्ति उसे दे, अपनी मर्यादाओं का भान दिलाकर मनुष्य को अमानी और निर्दम्भी बनाये, शुभ कर्मों और सत्त्व-संशुद्धि के प्रयत्नों में उसे उत्साह प्रदान करे और इसमें यदि कोई झगड़े या खतरे उपस्थित हों, तो उनका सामना करने का साहस उसे दे। उसी प्रकार वह उसमें भक्ति आदि भावों के विकास का भी अवकाश दे।

"शुद्ध आलम्बन के विषय में विचार करते समय यह तो स्पष्ट होना ही चाहिए कि आलम्बन सम्बन्धी यह श्रद्धा किसी दृश्य पदार्थ या शक्ति पर नहीं, बल्कि किसी अदृश्य शक्ति या नियम पर है। अदृश्य पर यह श्रद्धा होने के कारण यह आलम्बन प्रत्यक्ष या अनुमान-प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता अर्थात् आलम्बन-विषयक यह श्रद्धा एक प्रमाणातीत विषय की श्रद्धा है।

"इस विषय में जिन्होंने खूब विचार किया है और जो निश्चित परिणामों पर पहुँचे हैं, उनकी राय यह है कि ब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर इत्यादि नामों से परिचित एक चैतन्यरूप परमतत्त्व का अस्तित्व यद्यपि प्रमाणातीत वस्तु है, तथापि वह न केवल संभवनीय वस्तु है, बल्कि एक स्वयंसिद्ध वस्तु है। स्वयंसिद्ध होने के कारण ही वह प्रमाणातीत है। परन्तु स्वयंसिद्ध होने का अर्थ यह नहीं कि उसकी प्रतीति झट से हो जाती है। स्वयंसिद्ध कहने से उनका तात्पर्य यह है कि इस चैतन्य-शक्ति के अस्तित्व को शास्त्र के, विश्वास करने लायक ऋषियों के या गुरुजनों के मत के रूप में मान लेने की जरूरत नहीं है। परन्तु यह ऐसी

वस्तु है कि यदि कोई चाहे, तो इसके विषय में अपने अनुभव और विचार से ही अपने मन का समाधान कर सकता है।"

आत्मा-परमात्मा के विषय में उनके विचारों का सार इस प्रकार है :

(१) ज्ञाननामक पुरुषार्थ का अंतिम निर्णय यह है कि प्राणिमात्र में स्फुरण करनेवाला जो चैतन्य-तत्त्व है, उससे परे और उस पर सत्ता धारण करनेवाला दूसरा कोई तत्त्व नहीं है। उसे आत्मतत्त्व कहिये या ब्रह्मतत्त्व। विश्व के मूल में वही एक चैतन्य-तत्त्व है। इसमें निष्ठा जम जाने और उसके स्थिर रहने का नाम ही 'निरालंव' स्थिति है।

(२) यह चैतन्य-तत्त्व है, इसमें तो कोई सन्देह है ही नहीं, परन्तु वह प्रमाणातीत है। प्रमाणातीत है, इसका अर्थ यह नहीं कि मनुष्य को उसके वारे में केवल श्रद्धा रखनी चाहिए। स्वयंसिद्ध के रूप में इसकी प्रतीति हर कोई कर सकता है। इस प्रतीति का नाम ही 'आत्मज्ञान' है।

(३) आत्मतत्त्व है ही, इसलिए वह सत् है। वह चित् अर्थात् ज्ञान-क्रियारूप है। दूसरे शब्दों में जो 'है' ऐसा लगता है, उसका मूल कारण उसके अन्दर वसनेवाली चैतन्य की सत्ता है। 'है' में जो क्रिया या ज्ञान का वोध होता है, उसकी जड़ उसमें वसा हुआ चैतन्य-तत्त्व है।

(४) जब तक चित्त की संशुद्धि नहीं हो जाती, तव तक उसे किसी-न-किसी आलम्वन की जरूरत रहती ही है और ऐसा होना उचित भी है। यह आलम्वन काल्पनिक नहीं, वल्कि सत्य होना चाहिए। भले ही उसकी सत्यता के विषय में हमें आत्मप्रतीति न भी हो।

(५) परमात्मा ही एक ऐसा आलम्वन है। परन्तु परमात्मा का स्वरूप समझने में अनेक भ्रान्तियाँ पैदा हो गयी हैं और इनके कारण ज्ञान और भावों की संशुद्धि में खामियाँ आ गयी हैं और इनके कारण अभ्युदय तथा पुरुषार्थ में विघ्न खड़े हो जाते हैं।

(६) आलम्वन की शुद्धता का विचार करते हुए परमात्मा के वारे में किया गया यह अनुसंधान ठीक मालूम होता है :

१. वह सत्य, ज्ञान तथा क्रियास्वरूप है।

२. वह जगत् का उपादान कारण है।

३. वह सर्वव्यापक और विभु है।

४. उसका यही नाम, रूप, गुण, आकार है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह नाममात्र, आकारमात्र और गुणमात्र का आश्रय है।

५. कारणरूप में वह सत्य संकल्प का दाता और कर्मफल का देनेवाला है।

६. वह अलिप्त है और साक्षीरूप में प्रतीत होता है।

७. वह महान्, अनंत और अपार है।

८. वह स्थिर और निश्चल है।

९. वह संसार का तंत्री और सूत्रधार है।

१०. वह ऋत है।

११. वह उपास्य, एष्य, वरेण्य, शरण्य और समर्पणीय है।

१२. संसार में जो भी शुभ-अशुभ विभूतियाँ हैं, वे उसीके कारण हैं। इसलिए वह समस्त शक्तियों का भाण्डार है। परन्तु इनमें से मनुष्य को केवल उन्हीं शक्तियों का अनुसंधान करना चाहिए, जो श्रेयार्थी के लिए शुभ और अनुशीलन करने योग्य हैं। इसकी अनुशीलन और अनुसन्धान करने योग्य शक्तियाँ थोड़े में कहें तो ज्ञान, प्रेम और धर्म के अनुरूप क्रियाशक्तियाँ हैं।

(७) सत्त्व-संशुद्धि का फल प्रत्यक्ष जीवन में बुद्धि और भावना के उत्कर्ष के द्वारा मरण और मरणोत्तर स्थिति के विषय में मनुष्य को निर्भय करके समाधान और शान्ति देना है। सत्त्व-संशुद्धि जीवन की साधना और साध्य दोनों हैं।

अवतारवाद

किशोरलाल भाई ने जिस प्रकार मोक्ष की मान्यता का शोधन किया है, उसी प्रकार हिन्दू-धर्म की कितनी ही अन्य मान्यताओं का भी शोधन किया है। इनमें अवतारवाद और मूर्ति-पूजा मुख्य हैं। किशोरलाल भाई कहते हैं कि अवतारवाद के पीछे नीचे लिखी मान्यताएँ पायी जाती हैं :

"जीवात्मा से भिन्न प्रकार का एक ईश्वरात्मा है। वह हमेशा साधु पुरुषों और धर्म का पक्ष लेता रहता है। दुष्ट लोगों तथा अधर्म का वह शत्रु है। समाज में अधर्म का बल कब और कैसे बढ़ता है, इसका वह सदा ध्यान रखता है और

जब उसकी अपेक्षा से अधिक अधर्म का बल बढ़ जाता है, तब किसी भी रूप में शरीर धारण करने को वह तैयार रहता है। जिस स्वरूप का काम हो, उसके अनुसार वह मनुष्य, पशु, पक्षी, किसी भी योनि में जन्म धारण करता है और शरीर धारण करने से लेकर उसके अंत तक का सारा कार्यक्रम वह पहले ही से निश्चित कर लेता है। यह ईश्वरात्मा अपने इच्छानुसार प्रकृति के नियमों से स्वतंत्र जो चाहे सो कर सकता है और अपने जीवन की हर छोटी-बड़ी तफसील को पहले से जानता है। सामान्य मनुष्य तो सामाजिक अथवा नैतिक बंधनों में बँधे रहते हैं, परन्तु अपने अवतार-कार्य में यह इन बन्धनों से मुक्त होता है। वह किन्हीं भी उपायों का अवलंबन कर सकता है। इसमें वह दोषी नहीं बनता।"

यह मान्यता कट्टर अवतारवादी की है। इसमें से कई बातों को आधुनिक विचारक नहीं मानते। किशोरलाल भाई को इस मान्यता में बहुत-सी भूलें दिखाई देती हैं। वे कहते हैं :

"जिसे हम 'जीवात्मा' या 'प्रत्यगात्मा' कहते हैं, उससे भिन्न कोई एक या अनेक ईश्वरात्माएँ हैं, यह कल्पना ही भूलभरी है। इसके पीछे अनुभव का आधार नहीं है।

"फिर यह मान्यता गलत है कि जिसे हम 'प्रत्यगात्मा' कहते हैं, उससे जीवन, मरण और जीवन-कार्य के विषय में अधिक स्वतंत्र, प्रकृति के नियमों से परे, पहले से ही अपने जीवन का नक्शा तैयार कर लेनेवाला या जाननेवाला अपने जीवन-कार्य के बारे में एक जीवात्मा जितना संकल्प कर सकता है, उससे अधिक निश्चित संकल्प करके आनेवाला कोई पुरुष भूतकाल में हो गया, आज—वर्तमान में है या आगे होगा।

"यह मान्यता भी गलत है कि इस तरह जो व्यक्ति अवतार मान लिया गया है, उसके कर्मों की शुद्धाशुद्धता अथवा योग्यायोग्यता का सारासार-विवेक द्वारा निश्चित नैतिक और मानवोचित नियमों की दृष्टि से परीक्षण नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि उसके सारे काम दिव्य मान लिये जाने चाहिए।

"राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद या अन्य कोई व्यक्ति जीवात्मा की अपेक्षा किसी भिन्न प्रकार के तत्त्व से पैदा हुआ था, यह मान लेना भी गलत है।

"उन्होंने जो कुछ किया, वह पहले से ही सोच लिया गया था, यह मान लेना भी गलत है। राम ने सीता के लिए जो दुःख किया, वह केवल नाटक था, कृष्ण ने यदि कोई अपकर्म किये, तो वे दिव्य ही थे, सहजानंद स्वामी ने, समर्थ रामदास ने जो व्रत, तप, योगाभ्यास आदि किये, वे ईश्वर-प्राप्ति के लिए अपने मन की व्याकुलता के कारण नहीं, बल्कि श्रेयार्थियों को केवल सन्मार्ग दिखाने के लिए किये, ऐसा मानना गलत है।

"राम, कृष्ण आदि पुरुषों में से जो लोग वस्तुतः पृथ्वी पर हो गये हों, उन्हें दूसरे मनुष्यों के समान ही मनुष्य मानना चाहिए। वे समर्थ थे, ऐश्वर्यवान् थे, उनकी ऐश्वर्येच्छा श्रेष्ठ प्रकार की महान आशयोंवाली थी, अपने समय के वे महान् अग्रणी थे, इनमें से कोई विद्वान् था, तो कोई साधु पुरुष, कोई श्रेष्ठ धर्मज्ञ और कोई नीतिज्ञ थे। शिवाजी, वॉशिंग्टन, गॅरीबाल्डी आदि जिस प्रकार इस युग में अपनी-अपनी जाति के उद्धारक माने जाते हैं, इसी प्रकार इनमें से भी कई अपने समय के प्रजोद्धारक थे। इनके जन्म-कर्म के विषय में इससे अधिक दिव्यता मानना भूल है।

"इससे अधिक शोभा इनके नामों के आस-पास रचकर इन्हें काल्पनिक पद पर चढ़ाकर इनकी कृत्रिम पूजा करने से मनुष्य अथवा समाज को अपना अभ्युदय करने में विशेष लाभ हुआ हो, ऐसा नहीं मालूम होता। हाँ, इससे हानि अवश्य बहुत हुई है।

"हिन्दू जनता इन बातों को मान लेती है। इस कारण ऐसी मान्यता बैठाने में जिनका स्वार्थ होता है, वे इस प्रकार का भ्रम बार-बार फैलाते ही रहते हैं और समाज का भोला-भोला वर्ग इस भ्रम में फँस जाया करता है। इनका उपयोग पंथ-प्रवर्तन में और राजनीति में विशेष रूप से किया जाता है। प्रायः हर संप्रदाय का प्रवर्तक अपनी या बाद में आनेवाली पीढ़ी में ईश्वर का अवतार बन जाता है। यही नहीं, बल्कि वे अवतारों के अवतार थे—राम-कृष्णादि तो उनके परिचारक कहे जा सकते हैं—यहाँ तक यह मान्यता फैलती जाती है। महाराष्ट्र में शिवाजी लगभग ईश्वर-पद पर आरूढ़ हो गये हैं और उनकी मूर्ति की पूजा भी वहाँ शुरू हो गयी है। लोकमान्य भी इसी मार्ग पर जा रहे हैं, ऐसा दिखाई देता है। गांधीजी के लिए भी ऐसा ही हो सकता है। जो लोग

ऐसा करते हैं, वे पहले नहीं, तो वाद में अपनी अवुद्धि का ही पोषण करते और उसे वढ़ाते हैं। इसमें कल्याण नहीं।"

मूर्ति-पूजा

मूर्ति-पूजा के सम्वन्ध में किशोरलाल भाई ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं :

"अपने पूज्य या स्नेहीजनों के स्मारक के रूप में उनकी मूर्ति या प्रतिमा वनाना इतना अस्वाभाविक या दोषपूर्ण नहीं, जितना कि इसलाम में वताया है और उसकी भरपूर निन्दा की है। मूल पुरुष के प्रति जो स्नेह और पूज्य भाव होता है, वही अंशतः उसकी प्रतिमा के प्रति भी हो, यह स्वाभाविक है। परन्तु वह प्रतिमा है यह भूलकर, उसमें चेतन है ऐसी भावना करके, उसे षड्डूर्मिवाला मानकर जो पूजा-विधि वनायी जाती है, अपार श्रम किया जाता है, आग्रह रखा जाता है और उसके लिए झगड़े किये जाते हैं, इसमें विवेक-मर्यादा का अतिरेक है।

"प्रारम्भ में योगाभ्यासी को आलम्वन के रूप में मूर्ति की उपयोगिता मालूम हुई होगी, वाद में चंचल चित्त को सदैव मूर्ति का ध्यान—अनुसंधान—लगाये रखने के लिए दिनभर मूर्तिसम्वन्धी क्रियाएँ ही करते रहना पड़े, इस विचार से सवेरे से लेकर रात तक मूर्ति-पूजा का कार्यक्रम वना दिया गया हो, यह भी संभव है। किसी योगाभ्यासी को जो व्यवसाय उस समय के विचारों की दृष्टि से आवश्यक मालूम हुआ होगा, वह कुछ समय वीतने पर उन लोगों के भी जीवन का व्यवसाय वन गया, जिन्हें स्वप्न में भी योगाभ्यास का खयाल नहीं होगा। जिस वस्तु को साधन के रूप में स्वीकार किया गया, वही साध्य वन गयी, ऐसा मुझे लगता है। धीरे-धीरे इसका महत्त्व इतना वढ़ गया कि मूर्ति-पूजा भक्ति-मार्ग का आवश्यक अंग-सी वन गयी अथवा भक्ति-मार्ग के समान मूर्ति-पूजा भी मानो उन्नति का एक स्वतंत्र साधन ही है, ऐसा महत्त्व उसे मिल गया।

"योगाभ्यासी के लिए भी मूर्ति-पूजा आवश्यक नहीं है और दूसरों के लिए तो वह अंधश्रद्धा, वहम, अवुद्धि, कृत्रिम क्रियाकाण्ड और ईश्वर तथा धर्म के नाम पर झगड़े वढ़ानेवाली वस्तु वन गयी है।

"कुछ लोग कहते हैं कि मूर्ति-पूजा तो मनुष्य-स्वभाव के साथ जुड़ी हुई है और यदि वह हटा दी जाय तो, दूसरे किसी रूप में आ खड़ी होगी। परन्तु यह तो अस्पृश्यता के बारे में भी कहा जाता है। प्रश्न यह नहीं है कि वह दूसरा रूप लेकर आयेगी या नहीं। मुख्य प्रश्न केवल यही है कि आज जिस रूप में वह हमारे सामने खड़ी है, वह रूप अनिष्ट है अथवा नहीं। फिर जब वह दूसरा वेश लेकर आयेगी और अनिष्ट उत्पन्न करेगी, तब यह जिम्मेदारी उस समय के लोगों की होगी कि वे उसे झूठी बताकर उसका निषेध करें। हम तो उसके आज के विकृत वेश को दूर कर दें, इतना ही काफी है।"

अंतिम कथन

'जीवन-शोधन' नामक अपनी पुस्तक में किशोरलाल भाई ने अध्यात्म और धर्म के प्रायः प्रत्येक विषय पर अपने विचार प्रकट किये हैं। उनमें से केवल कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण विषयों पर ही—जिनमें किशोरलाल भाई को भ्रमपूर्ण धारणाएँ दिखाई दीं—उनके कुछ विचार ऊपर दिये गये हैं। किशोरलाल भाई ने सांख्य, वेदान्त और योगसम्बन्धी विचारों का भी शोधन किया है। परन्तु सामान्य पाठकों को उनमें दिलचस्पी नहीं होती, यह सोचकर उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गयी है।

'जीवन-शोधन' पुस्तक के अन्त में उन्होंने 'अंतिम कथन' शीर्षक यह अध्याय लिखा है :

"ये सारे लेख निन्दा-बुद्धि से नहीं लिखे गये हैं। परन्तु भ्रामक आदर्श और कल्पनाएँ अथवा सच्चे आदर्श की झूठी कल्पनाएँ सत्य के दर्शन में कितनी बाधक होती हैं और इस कारण कितना श्रम व्यर्थ ही गलत दिशा में चला जाता है, इसके अवलोकन और प्रत्यक्ष अनुभव पर से यह लिखा है।

"इस पुस्तक के निष्कर्ष के रूप में मुझे जो कहना है, वह सूत्ररूप में लिख दूं, तो वह पाठकों के लिए ठीक होगा। परन्तु वे इतना अवश्य याद रखें कि ये सूत्र इस पुस्तक का लघुदर्शन (Summary) नहीं हैं।

(१) 'वेद-धर्म' नाम यदि सार्थक है, तो वह—ज्ञान का—अनुभव का धर्म है। इसका यह दावा है कि जो भी अंतिम प्राप्तव्य है, वह इस जीवन में ही सिद्ध हो

सकता है। शास्त्र केवल अपनी प्राचीनता के कारण अथवा प्रसिद्ध ऋषियों के द्वारा रचे जाने के कारण मान्य नहीं हो सकते। वे उतने ही अंश में विचारणीय हैं कि जितने अंश में उनके भीतर जीवन के मूल प्रश्नों के विषय में अनुभव के—अथवा अनुभव प्राप्त करने में मार्गदर्शक होनेवाले वचन हैं। फिर ये शास्त्र प्राचीन हों या अर्वाचीन, प्रतिष्ठा पाये हुए हों या न भी हों, संस्कृत, प्राकृत या संसार की अन्य किसी भी भाषा में लिखे हुए हों। अनुभव की वाणी जीवित मनुष्य की हो या मृत की; वह विचार करने के योग्य है।

(२) अनुभव यथार्थ और अयथार्थ—दोनों प्रकार का हो सकता है। फिर अनुभव और अनुभव का खुलासा (उपपत्ति), इन दोनों में भेद है। इसलिए अनुभव अथवा उपपत्ति भी केवल विचारणीय ही मानी जानी चाहिए। वह जिस अंश में हमें अपने अनुभव में सही मालूम हो, उतने ही अंश में मान्य की जाय।

(३) प्राचीन काल से लेकर आज तक जिस अंश में गहन विचारकों के अनुभव और उसकी उपपत्ति में समानता होगी, उतने ही अंशों में शास्त्र प्रमाणभूत होंगे।

(४) इस शास्त्र-प्रमाण तथा अनुभव-प्रमाण के अनुसार सर्वत्र समान रूप से व्याप्त एक आत्मतत्त्व है। यह सिद्धान्त स्वीकार करने योग्य है। इसकी खोज ज्ञानरूपी पुरुषार्थ का अंतिम ध्येय है। यह ध्येय मृत्यु के बाद नहीं—इसी जीवन में सिद्ध करना चाहिए।*

(५) इसके लिए कृत्रिम पूजा, वेश, कर्मकाण्ड की जरूरत नहीं है। मनुष्य अपने देश, काल, उम्र, जाति, शक्ति, संस्कार, शिक्षण आदि को ध्यान में रखकर, निरंतर सावधान रहकर, योग्यायोग्यता और धर्माधर्म का सावधानी से विचार करके समाज के और अपने जीवन के धारण, पोषण और सत्त्व-संशुद्धि के लिए आवश्यक कर्म करे, चित्त-शोधन का अभ्यास करे, तो वह जीवन के ध्येय को प्राप्त

---

*हम जन्म-मरण से छूट जायँ, यह जीवन का उचित ध्येय नहीं। जन्म-मरण का भय छोड़कर हम अपनी मनुष्यता को बढ़ायें। इसके लिए पुरुषार्थ करना चाहिए।

कर सकता है और गुणों का जो स्वाभाविक विकास तथा पराकाष्ठा का क्रम होगा, उसे गति दे सकता है।

(६) सारासार-विवेक की दृष्टि से एक सामान्य पुरुषार्थी मनुष्य के लिए आचार, वाणी या वेश में जो बात अनुचित मालूम पड़े, वह एक सिद्ध या मुक्त मनुष्य कर सकता है, ऐसे वचन में अज्ञान, पागलपन अथवा पाखण्ड है।

(७) एक ओर अनुभव और दूसरी ओर तर्क, अनुमान और कल्पना, इनके बीच बड़ा भेद है। अनुमान को सिद्धान्त समझना या कल्पना को सत्य समझना बड़ी भूल है। सत्य-शोधन में ये भूलें बहुत बड़े विघ्न पैदा कर देती हैं। जिस चीज का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है, उसके विषय में सशंक अथवा तटस्थ रहना सत्य शोधक का कर्तव्य है।

(८) इसी प्रकार 'वाद' और 'सिद्धान्त' के बीच भी भेद है। प्रत्यक्ष परिणामों अथवा अनुभवों के अगोचर कारणों के विषयों में या प्रत्यक्ष कर्मों के अगोचर फलों के विषय में सयुक्तिक कल्पना 'वाद' है। किन्तु 'सिद्धान्त' अनुभव अथवा प्रयोग से सिद्ध अचल नियम है। 'वाद' को 'सिद्धान्त' समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। यह चाहे कितना ही संयुक्तिक और संतोषप्रद मालूम हो, फिर भी इसी विषय को समझाने के लिए अन्य कोई दूसरा ही वाद पेश करे, तो उसकी किसीको शिकायत नहीं होनी चाहिए। बल्कि इस वाद के मानने-वाले के मन पर इसके फलस्वरूप जो संस्कार दृढ़ हो गये हैं, उन संस्कारों के गुण-दोष की दृष्टि से इस वाद की समालोचना या शुद्धि करना जरूरी हो सकता है। इससे अधिक इस वाद के खण्डन-मण्डन के अथवा उसी वाद को पकड़कर बैठने का आग्रह नहीं रखना चाहिए।

(९) सत्यशोधक में तटस्थता, निराग्रह, निष्कामता या निःस्पृहता जैसे गुण और पूर्वग्रह का त्याग अवश्य होना चाहिए। अमुक आग्रह या मान्यता मैं नहीं छोड़ सकता, इस तरह का आग्रह सत्य-शोधन में बाधक होता है। किसी मान्यता अथवा कल्पना में भव्यता है, इसलिए उसे पकड़ करके बैठ जाने का आग्रह भी बाधक है। शास्त्र में से एकवाक्यता पैदा करने का आग्रह भी सत्य की खोज में बाधक है। शोधन का विषय शास्त्र नहीं, बल्कि आत्मा या चित्त है

और यह शास्त्रों में नहीं, हमारे अन्दर है। वुनने की कला सीखने में इस विषय की पाठ्य-पुस्तक का सीखने में जितना उपयोग हो सकता है, केवल उतना ही उपयोग शास्त्रों का जीवन में हो सकता है। परन्तु जिस प्रकार वुनाई सीखने का अधिक उचित साधन पाठ्य-पुस्तक नहीं, वल्कि कारखाना और अधिक अनुभवी वुनकर होते हैं, इसी प्रकार आत्म-शोधन का अधिक योग्य साधन शास्त्राध्ययन नहीं, वल्कि हमारा अपना चित्त और सद्गुरु तथा सत्पुरुषों का भक्तिपूर्ण सत्संग है।

(१०) भाषा की अस्पष्टता विचारों में अस्पष्टता निर्माण करती है। इसलिए तत्त्वचिन्तक को इस वारे में भी सावधान रहना चाहिए।

(११) सत्य-शोधक में व्याकुलता, जिज्ञासा, शोधक वुद्धि, सत्त्व-संशुद्धि, विचारमय और पुरुषार्थी जीवन, पूज्यजनों और गुरुजनों में भक्ति, आदर, संसार के प्रति निष्काम प्रेम, धैर्य, अध्यवसाय, कृतज्ञता, धर्मशीलता, आत्मा और परमात्मा को छोड़कर दूसरे किसी आलम्वन के विषय में निःस्पृहता—इतने गुण तो अवश्य होने चाहिए।"

२. केळवणी (शिक्षा)

गुजराती भाषा के 'केळवणी' शव्द में जितना अर्थ आ जाता है, उतना इसके लिए प्रयुक्त अन्य किसी भी भाषा में शायद ही होगा। हिन्दुस्तानी 'तालीम' शव्द में शायद वह पूरा अर्थ आ जाता है। उसके लिए संस्कृत शव्द का प्रयोग करना चाहें, तो किशोरलाल भाई कहते हैं, 'संस्क्रिया' अथवा 'संस्करण' शव्द का प्रयोग करना पड़ेगा। 'संस्क्रिया' का अर्थ है—शरीर, मन, वाणी, आदत, लगन, वुद्धि आदि में जो भी अव्यवस्था हो, उसे व्यवस्थित करने की क्रिया। फिर केळवणी के लिए जिन भिन्न-भिन्न शव्दों का प्रयोग किया जाता है, उन पर विचार करके उन्होंने वताया है कि वे किस प्रकार अधूरे पड़ते हैं। इसका उन्होंने विवेचन भी किया है।

केळवणी और शिक्षण

'केळवणी' के अर्थ में प्रायः 'शिक्षण' शव्द का प्रयोग किया जाता है। 'शिक्षण' का अर्थ है सीखना और खास तौर पर नयी चीज सीखना। जो चीजें

मालूम नहीं हैं, उनके बारे में जानकारी देने का अर्थ है शिक्षण। किशोरलाल भाई कहते हैं :—

"परन्तु 'केळवणी' शिक्षण में समाप्त नहीं हो जाती, क्योंकि शिक्षण अधिकांश में परोक्ष होता है। जिस देश की जानकारी हम प्राप्त करते हैं, वह जानकारी सही है या गलत, यह तो हमने वहाँ जाकर प्रत्यक्ष देखा नहीं। जिस भाषा का अर्थ करके हम उसे जानते हैं,उस देश के लोगों से हमारा प्रत्यक्ष परिचय होता नहीं। जिस देश के इतिहास की बातें हम पढ़ते हैं, उनके मूल आधारों की खोज हमने की नहीं होती। इस तरह शिक्षण से हम जो प्राप्त करते हैं, वह परोक्ष होता है। इस परोक्ष ज्ञान को जब हम अपनी जाँच-पड़ताल से ठीक करते हैं, तब वह प्रत्यक्ष ज्ञान बनता है। ज्ञान जब तक परोक्ष अर्थात् केवल सीखा हुआ होता है, तब तक उसके प्रति हम केवल श्रद्धा रख सकते हैं। यह श्रद्धा गलत भी हो सकती है। जिस वस्तु के बारे में केवल श्रद्धा होती है, सच पूछिये, तो वह ज्ञान—अर्थात् जानी हुई अनुभूत वस्तु नहीं, केवल मान्यता है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए जानकारी को प्रत्यक्ष करने की जिज्ञासा और आदत होनी चाहिए। जिज्ञासा और आदत संस्कार का विषय है। यह संस्कार प्रदान करना 'केळवणी' का एक अंग है।

"शिक्षक अथवा माता-पिता विद्यार्थी को अनेक वस्तुओं का परोक्ष ज्ञान दे सकते हैं, परन्तु अनेक वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं दे सकते। यह तो प्रायः विद्यार्थी को ही जब कभी संभव हो, स्वयं प्राप्त करना पड़ता है। परन्तु यदि कोई शिक्षक ज्ञान को—प्रत्यक्ष करने की जिज्ञासा विद्यार्थी में उत्पन्न कर सकता है और इस विषय की आदत उसे डाल सकता है, तो हम कह सकते हैं कि उसने ज्ञान-प्राप्ति की एक चाबी विद्यार्थी के हाथ में दे दी। 'केळवणी' का अर्थ केवल जानकारी देकर रुक जाना नहीं है। बल्कि ज्ञान-प्राप्ति की अलग-अलग चाबियाँ देना भी होता है। इस तरह 'शिक्षण' की अपेक्षा 'केळवणी' में अधिक अर्थ है।

"परन्तु कितनी ही वस्तुओं के बारे में परोक्ष ज्ञान भी न हो, तो मनुष्य घाटे में रह जाता है। इसलिए यह मानने की जरूरत नहीं कि शिक्षण निरर्थक है। परन्तु मनुष्य जिस स्थिति में है, उसका विचार करके उचित प्रमाण में ज्ञान

प्राप्त करने की आदत यदि वह नहीं डालता है, तो उसकी सारी जानकारी मिथ्या पाण्डित्य ही मानी जायगी। उसका उपयोग न खुद उसे होगा, न समाज को।

केळवणी और विनय

"अंग्रेजी के 'एज्यूकेशन' और संस्कृत के 'विनय' शब्द भी केळवणी का पूरा अर्थ नहीं सूचित करते। 'एज्यूकेशन' का अर्थ है 'वाहर (अर्थात् अज्ञान के वाहर) ले जाना और 'विनय' का अर्थ आगे (अर्थात् थोड़े ज्ञान में से अधिक ज्ञान की ओर) ले जाना है। सामान्य भाषा में विनय का अर्थ नम्रता, अच्छा—सभ्य व्यवहार—है। हम आशा करते हैं कि विद्यार्थी में विनय हो। जिसमें यह नम्रता, सभ्य व्यवहार नहीं, उसे हम सुशिक्षित—(केळवामेळा)—नहीं कहते। दूसरी ओर जो पढ़ा-लिखा तो नहीं है, किन्तु जिसमें आचार की सभ्यता तो है, तो उसे हम सुसंस्कारी—('केळवायेळा') समझते हैं। तात्पर्य, शिक्षण की अपेक्षा विनय का महत्त्व अधिक है और 'केळवायेळा' मनुष्य में इन दोनों की अपेक्षा रखी जाती है।

"परन्तु 'केळवणी' केवल विनय और वाहरी सभ्य व्यवहार में भी समाप्त नहीं होती। वल्कि व्यवहार और वाणी के विषय में अपनी बुद्धि से विचार करके भले-वुरे का निश्चय करना और मन, वाणी और कर्म को उसके अनुसार व्यवस्थित करने की अपेक्षा 'केळवणी' में होती है। जव तक विवेक-वुद्धि व्यवस्थित नहीं हो जाती, केळवणी अधूरी रह जाती है।

केळवणी और विद्या

"विद्या" से भी केळवणी में अधिक अर्थ है। केळवणी विद्या से ऊँची वस्तु है। आदमी वहुत-सी विद्याएँ जानकर भी नीतिरहित हो सकता है। अर्थात् सारे विद्या-संपन्न मनुष्य 'केळवायेळा' होते ही हैं, सो वात नहीं। केळवणी को नीति-विचार से अलग नहीं किया जा सकता। विद्या के साथ-साथ मनुष्य में नीति-विचार का भी विकास होगा, तभी और उतने ही अंशों में उस विद्या को केळवणी में स्थान मिल सकेगा।

"विद्या और केळवणी के वीच का भेद एक अन्य प्रकार से भी समझाया जा सकता है। हम कह सकते हैं कि विद्या के केवल एक आँख है, परन्तु केळवणी

के दो अथवा बहुत-सी आँखें होती हैं। विद्या-रसिक मनुष्य जिस वस्तु के पीछे पड़ जायगा, केवल उसीको वह देख सकता है। चित्र-विद्या के पीछे पड़े, तो केवल इतना ही वह देखेगा कि चित्र-विद्या में प्रवीणता प्राप्त करनी है। चित्र के साथ-साथ सत्य, नीति, जनहित, उपयोगिता इत्यादि कहाँ तक हैं, इनका विचार वह नहीं करता। 'केळवायेळा' मनुष्य चित्र-विद्या-विषयक प्रवीणता को अवश्य स्वीकार करेगा, परन्तु साथ ही सत्य, नीति, जनहित और उपयोगिता के विषय में लापरवाह नहीं रहेगा।

विज्ञान और केळवणी

"जिस प्रकार विद्या और केळवणी के बीच भेद है, उसी प्रकार विज्ञान और केळवणी के बीच भी भेद है। विज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। अर्थात् इसमें शिक्षण की अपेक्षा अवश्य ही अधिक केळवणी है। फिर भी विज्ञान में (अर्थात् पदार्थों के अनुभवयुक्त विशेष ज्ञान में) भी केळवणी की पूर्णता नहीं हो जाती। इसका कारण यह है कि विज्ञान आत्मोन्नति और जनहित का सदैव ध्यान नहीं रखता। केळवणी इन चीजों को पलभर के लिए भी छोड़ नहीं सकती। विज्ञान और केळवणी के बीच यही मुख्य भेद है। प्रत्येक वस्तु की खोज करनेवाला अवश्य ही विज्ञान-शास्त्री कहा जायगा। इससे भी अधिक, वह शायद मूल कारण तक भी पहुँच जाय, उसकी खोज का संसार को कुछ उपयोग भी हो, परन्तु सम्भव है कि यह विज्ञान इस मनुष्य के लिए शान्तिप्रद और संसार के लिए हितकारी शायद न भी हो। इस तरह देखें, तो केळवणी विज्ञान की विरोधिनी तो नहीं, परन्तु विज्ञान से विशेष है।

"विज्ञान की जिस शाखा के बगैर केळवणी अधूरी रह जाती है, वह है चित्त की भावनाओं का विकास और इस दृष्टि से चित्त के मूल का शोधन है। भावनाओं की शुद्धि, विकास और चित्त का शोधन—यह विज्ञान—केळवणी का खास अंग है। इससे रहित दूसरा विज्ञान—प्रकृति के नियमों का और अनुभवों का भण्डार—बहुत बड़ा है। परन्तु वह हमें शान्ति देगा अथवा उससे हमारा जीवन अधिक सुखी होगा, इसका कोई निश्चय नहीं है। अनेक बार तो विज्ञान में शाप-रूप होने की शक्ति भी होती है।

"फिर भी यद्यपि विज्ञान से केळवणी की परिसमाप्ति नहीं होती, तथापि विज्ञान के संस्कारों के वगैर केळवणी का काम नहीं चल सकता, यह वात मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ। इन संस्कारों का अर्थ है, अवलोकन और तुलना करने की आदत।"

केळवणी और अभ्यास

इसके वाद वे समझाते हैं कि केळवणी में अभ्यास का कितना महत्त्व है:

"अभ्यास का अर्थ है एक ही काम को वार-वार करना। अभ्यास के महत्त्व को हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन काल में ही पहचान लिया गया है। परन्तु अभ्यास के साथ जो दूसरे अंग भी जुड़े हुए हैं, उनकी ओर हमारा ध्यान नहीं गया है। शारीरिक, मानसिक, कोई भी शक्ति प्राप्त करने के लिए अर्थात् इस पर पूरा-पूरा अधिकार पाने के लिए अभ्यास के वगैर काम नहीं चल सकता। अभ्यास के विना संस्कार दृढ़ नहीं होते। इसलिए हम जिस किसी तरह अभ्यास करने का प्रयास करते हैं। प्रत्येक क्रिया तीन प्रकार से की जाती है। भय से, लालच से या उस क्रिया के प्रेम से भय से और लालच से भी संस्कार डाले जा सकते हैं। अधिकांश में इन्हींमें से एक या दोनों के द्वारा अभ्यास कराने का यत्न किया जाता है। इस तरह से अभ्यास कराना अभ्यास करानेवाले के लिए आसान पड़ता है। इसमें अभ्यास करनेवाले की विवेक-बुद्धि को विकसित नहीं करना पड़ता। सरकस के मालिक जानवरों को भय दिखाकर ही तैयार करते हैं। शालाओं में शिक्षक भी प्रायः इसी पद्धति से काम लेते हैं। वहुत से संप्रदाय-प्रवर्तकों ने भी इसी प्रकार भय या आशा दिखाकर समाज में अच्छी आदतें डालने का यत्न किया है। ये आदतें कभी-कभी दृढ़ भी हो जाती हैं, परन्तु केवल मूढ़तावश। इनका रहस्य लोग नहीं जानते। जो भय या आशाएँ वतायी गयी हैं, यदि वे हट जाती हैं, तो सैकड़ों वर्षों से पड़ी हुई आदतें वहुत थोड़े समय में मिट जाती हैं। थोड़े समय की अंग्रेजी शिक्षा के संस्कारों ने हमारे समाज के संयम के अति प्राचीन संस्कारों को देखते-देखते उड़ा दिया। इसका कारण यदि खोजने जायँ, तो यही दिखेगा कि इन संस्कारों को यमदण्ड अथवा स्वर्ग-सुख के साथ जोड़ दिया गया था। किसी भी कारण से इस भय अथवा आशा पर से श्रद्धा

हटते ही और मोटे तौर पर संपूर्ण प्रतीत होनेवाले आधिभौतिक वाद पर श्रद्धा जमते ही वह संयम चला गया। शुष्क वेदान्त का भी बहुत से लोगों के जीवन पर ऐसा ही परिणाम हुआ है। जैन-धर्म में तप और संयम पर बड़ा जोर दिया गया है। फिर भी कितने ही जैन साधुओं और गृहस्थों में इतनी चरित्रभ्रष्टता सुनी गयी है कि दिल काँप जाता है। इसका कारण यही हो सकता है कि इस तप और संयम का स्वीकार उसके अपने महत्त्व के और प्रेम के खातिर नहीं, बल्कि किसी भय के निवारण या सुख-प्राप्ति की आशा से किया होता है। ज्यों ही मनुष्य समझने लगा है कि ये भय अथवा सुख केवल कल्पनामात्र हैं, त्यों ही ये तप और संयम पतझड़ के मौसम में उड़नेवाले पत्तों की भाँति झड़ गये होंगे।

"तात्पर्य यह है कि अभ्यास और अभ्यास की क्रिया पर प्रेम होगा, तभी यह अभ्यास मनुष्य को लाभदायक हो सकता है। यह अधिक कठिन है। इसमें अभ्यासी की विचार-शक्ति जाग्रत होने की आवश्यकता है। इसमें प्रेम होने के लिए उसमें उपयोगी होनेवाले गुणों का विकास हो जाना चाहिए। इस प्रकार का अभ्यास अतिशय धीमा ही हो सकता है।

"परन्तु आज अभ्यास की आवश्यकता पर कितने ही लोगों को अश्रद्धा होती दिखाई पड़ती है। वे अभ्यास के बजाय साहचर्य के नियम पर जोर देते हैं। इस अश्रद्धा का कारण अभ्यास के नियमों के विषय में हमारी शालाओं में पोषित गलत खयाल ही है। शालाओं में अभ्यास का उपयोग तो हम अंक तथा कविताएँ घोखने में होता देखते हैं। शिक्षकों का खयाल है कि घोखने से अंक और कविता याद रहती है। इसलिए याद रखने के लिए घोखने की जरूरत है।

"साहचर्य के नियम के जानकारों का कहना है कि यह केवल भ्रम है। हमारी शक्ति मूलतः ही इतनी पूर्ण होती है कि यदि एक बार किसी चीज को जान लेते हैं, तो वह भूलती नहीं। परन्तु जिस चीज को हम याद करना चाहते हैं, उसे स्मृति में ठीक से भरने की कला याद होनी चाहिए।

"इसलिए ऐसा नियम बनाया जाता है कि किसी वस्तु को याद करने के लिए केवल उसीको याद रखने का यत्न करना गलत पद्धति है। सही पद्धति यह है कि हर क्रिया करते समय आसपास की सभी बातों पर नजर डाल लेनी चाहिए। सूई रखने जायँ, तो सूई के साथ दूसरी कौन-कौन चीजें वहाँ पड़ी हैं,

यह देख लेना चाहिए। यह डिब्बा कहाँ रखा है, इसके साथ और क्या-क्या है, यह सब ध्यान में रख लेना चाहिए। ऐसा करने से सूई कहाँ रखी है, इसका खयाल करते हैं, तो आसपास की दूसरी चीजों की भी स्मृति जाग्रत हो जाती है और सूई का स्थान याद आ जायगा।

"स्मृति में किसी भी वस्तु की छाप डालने के लिए एक संस्कार काफी है। इस छाप का हमें बार-बार उपयोग करना होगा। इससे अपने-आप—अनायास अभ्यास हो जायगा।······इस छाप को जाग्रत करने में अधिक समय न लगे, ऐसी आदत डालने के लिए ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि जिससे एक ही संस्कार से स्मृति जाग्रत हो सके, ऐसी छाप इसके साथवाले सम्बन्धों की पड़नी चाहिए।

"साहचर्य का नियम कहता है कि नयी चीज जल्दी सीखनी हो, तो मनुष्य की वृत्ति अत्यंत सावधान होनी चाहिए। सारा ध्यान वहीं हो। अभ्यास का नियम कहता है कि सीखी हुई चीज को दृढ़ और जब चाहें तब काम में आने लायक बनानी है, तो उसकी बार-बार आवृत्ति होनी चाहिए।

"सद्‌गुण, दुर्गुण, अच्छे और बुरे काम करने की आदतें, ये सब अभ्यास से होती हैं। केवल विवेक से अच्छे कामों के प्रति आदर हो सकता है, उसकी महिमा समझी जा सकती है। भले-बुरे का भेद आदमी जान सकता है। परन्तु जो अच्छा है, उसके आचरण और जो बुरा है, उसे टालने के लिए तो अभ्यास की ही जरूरत है। यह अभ्यास जबरदस्ती से या लालच से कराया जायगा, तो इससे उन्नति ही होगी, ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए। इसलिए यह अभ्यास विचारपूर्वक और उसके प्रति प्रेमपूर्वक ही होना चाहिए। अभ्यास के बगैर केळवणी पूरी नहीं होती, इसका अर्थ यही है कि अभ्यास के बगैर विचारी हुई वस्तु हजम नहीं होगी।"

केळवणी और विवेक-बुद्धि

इसके बाद केळवणी और विवेक-बुद्धि के बारे में विचार करते हुए किशोर-लाल भाई कहते हैं :

"विवेक-बुद्धि को मैं इष्ट देवता के समान पूज्य मानता हूँ। कर्म, शक्ति, ध्यान, ज्ञान, अभ्यास, तप इत्यादि विविध साधनों के द्वारा व्यावहारिक जीवन में

यदि कोई वस्तु प्राप्त करने लायक है, तो वह विवेक बुद्धि का विकास है। किन्हीं देवादिकों के दर्शन या ऋद्धि-सिद्धियों की मुझे तृष्णा नहीं है। परन्तु भक्ति आदि से यदि देवता प्रसन्न हों, तो मैं तो यही चाहूँगा कि वे मेरी विवेक-बुद्धि को विकसित और शुद्ध करें।

"यह विवेक क्या है ?

" 'विवेक' का अर्थ केवल सभ्यतायुक्त व्यवहार नहीं है। यह तो है ही। विवेक का शब्दार्थ विशेष अथवा सूक्ष्म विचार होता है। हम जो कुछ चाहते हैं, करते हैं, सीखते हैं, मानते हैं, सो क्यों सीखते, मानते और करते हैं, यह हमेशा सोचकर ही सीखते, मानते और करते नहीं हैं।

"अविचारपूर्वक किये गये काम, मान्यता या शिक्षण हमेशा खराब ही होते हैं, यह मेरा मतलब नहीं है। परन्तु सु-कर्म, सु-शिक्षण और सु-श्रद्धा में भी यदि विचार न हों, तो उनमें खामियाँ रह जाती हैं। एक तो यह कि विचारपूर्वक किये गये काम में जो गुणों को प्रकट करने और उन्हें दृढ़ करने की शक्ति होती है, वह विचारहीन कर्म में नहीं होती। दूसरे, आदत चाहे कितनी ही पुरानी हो, उसे संग-दोष अवश्य हानि पहुँचा सकता है। उदाहरण के लिए मैं कीड़े-मकोड़ों को भी नहीं मारूँ, यह अवश्य एक सुकर्म है। परन्तु यदि इस सुकर्म की आदत मुझे केवल वंश-परंपरा के संस्कारों से ही पड़ी है, गुरुजनों के उपदेश से अथवा नरक की भीति या स्वर्ग-सुख के लालच से ही पड़ी है और उसमें स्वतंत्र रूप से मैंने कोई विचार कायम नहीं किया है, तो इस कर्म से जिस गुण की वृद्धि होनी चाहिए, वह नहीं होगी।

"संक्षेप में जब तक मेरे कर्म के पीछे जिस गुण या इच्छा का बीज होगा, उसके बारे में मेरे अपने हृदय में विवेक-विचार नहीं जागेगा, तब तक मेरे भीतर वह शक्ति नहीं आयेगी कि मैं इन गुणों का सब कामों में विस्तार करूँ। अथवा क्या करना और क्या नहीं करना, इस विषय में इस गुण में रहकर विचार करूँ, संग-दोष न लगने दूँ और दोषयुक्त गुण, इच्छा अथवा आदतों को टालूँ।

"विवेक के उत्कर्ष को मैं जीवन का और इसलिए 'केळवणी' का अन्तिम ध्येय मानता हूँ। अवलोकन (अर्थात् शोधन की जिज्ञासा और बारीकी) की

तीव्रता, उचित भावों के पोषण के फलस्वरूप होनेवाला भावनाओं का विकास और संपूर्ण जाग्रति का अभ्यास—इस तरह मैं 'केळवणी' के विभाग करता हूँ।

"इनमें कुछ और भी जोड़ने की जरूरत है। केवल विवेक-बुद्धि, सारासार की यथार्थ पहचान और निर्णय करने की शक्ति, ये सब एक गुण के अभाव में निष्फल हो सकते हैं। वह गुण है—दृढ़ता अथवा धृति। जो बात विवेक के द्वारा निश्चित की है, उसे मजबूती के साथ पकड़े रहने की शक्ति मनुष्य में होनी चाहिए। यह दृढ़ता, धृति ही आत्मबल, मनोबल आदि कही जाती है। तालीम से जिस प्रकार मनुष्य के स्नायु बलवान् हो सकते हैं; उसी प्रकार धृति भी बलवान् हो सकती है।"

जीवन में आनंद का स्थान

हमारी शालाओं और सुधरे हुए समाज में साहित्य, संगीत और कला के नाम पर जो अनर्थ किया जाता है और उसके नाम पर जिस प्रकार विलासिता और नैतिक शिथिलता का पोषण किया जाता है, उस पर किशोरलाल भाई ने कई बार सख्त आपत्ति की है। फिर वे जीवन की 'केळवणी' में और जीवन के विकास में साहित्य, संगीत और कला को बहुत ऊँचा नहीं, बल्कि सीमित ही स्थान देते हैं। इस कारण जो लोग उनके प्रत्यक्ष परिचय में नहीं आ सके हैं, उन्हें तो ऐसा भी लग सकता है कि वे जीवन में आनंद को कुछ स्थान देते भी थे या नहीं। इस पर से उन्होंने अपनी 'केळवणीना पाया' नामक पुस्तक में 'जीवन में आनंद का स्थान' शीर्षक से एक लम्बा प्रकरण लिखकर इसका विस्तृत विवेचन किया है। उनके सामने प्रश्न यह था कि "उन्नति की अथवा सत्यशोधक की दृष्टि से आप (किशोरलाल भाई) काल्पनिक बातें, साहित्य, संगीत, कला आदि पर टीका करते हैं। तब क्या आनंद में मनुष्य की उन्नति करने की कोई शक्ति ही नहीं है और इसलिए बच्चों को आनंदित करने के लिए शिक्षक को कुछ करना चाहिए या नहीं ?"

इसका उत्तर देते हुए किशोरलाल भाई कहते हैं :

"इस विषय पर विचार करने के लिए आनंद की भावना का थोड़ा विश्लेपण करना होगा। चित्त की प्रसन्नता का नाम ही यदि आनंद है, तो चित्त जब अपनी

स्वाभाविक स्थिति में रहता है, तब प्रसन्न होता है और हम कह सकते हैं कि वह आनंद में है। चित्त की प्रसन्नता केवल बाहर से निर्माण की जानेवाली स्थिति नहीं है। यह तो चित्त का आंतरिक धर्म ही है। परन्तु हमारे चित्त के तार निरंतर हिलते ही रहते हैं। तो, जिस प्रयत्न से यह गति ऐसी नियमित हो जाय कि चित्त बार-बार अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करता रहे, वह प्रयत्न प्रसन्नता लाने के लिए अनुकूल कहा जायगा।

"परन्तु प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए किया गया प्रत्येक प्रयत्न यह उद्देश्य पूरा करने में समान रूप से सफल नहीं होता। इसका एक कारण तो हमारे प्रयत्नों की गलत दिशा ही होती है। हम प्रसन्नता को भीतर से देखने और विचार की सहायता से विकसित करने के बदले हम उसे बाहर से देखने और बाहरी वस्तुओं द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। हम भूल जाते हैं कि बाहर की वस्तुओं से हमें कई बार जो आनंद प्राप्त होता है, उसका कारण हमारे चित्त की आंतरिक प्रसन्नता होती है। वह आनन्द वस्तु की किसी मोहकता के कारण नहीं मालूम होता।

"मैंने देखा है कि कितने ही बाहर से विनोदी और खुशमिजाज माने जानेवाले आदमियों के हृदय किसी भारी शोक के भार से दबे हुए पाये जाते हैं। वे दूसरों को इतना हँसा सकते हैं कि हँसते-हँसते वे लोट-पोट हो जायें। उतनी देर के लिए वे स्वयं भी बड़े आनंदमग्न मालूम होते हैं। परन्तु भीतर से तो उनके हृदय में मानो होली जलती रहती है। इसके विपरीत दूसरे कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो मानो 'काजीजी दुबले क्यों, शहर के अँदेशे से' कहावत के अनुसार चिन्ता का भार अपने सिर पर लिये घूम रहे हों। वे शायद ही कभी गपशप लगानेवाले मित्र-मण्डलों में जाकर बैठते हैं। वे सदा जीवन के गम्भीर प्रश्नों पर विचार-चिन्तन किया करते हैं। फिर भी उनमें कभी-कभी ऐसी प्रसन्नता देखी जाती है कि जिसकी कल्पना भी ये खुशमिजाज लोग नहीं कर सकते होंगे।

"जिस समय हम भीतर से प्रसन्नता अनुभव कर रहे हों, तब बाहर सृष्टि के प्रति हमारी भावना—हमारा आनंद या हमारा शोक—और भीतर की प्रसन्नता का ताल खो गया हो, तब कृत्रिम उपायों से आनंदित होने का प्रयत्न—इन दोनों के बीच के अंतर को हम कुछ विचार करने पर जान सकते हैं।

"जब किसी कारण मैं अपनी प्रसन्नता खो बैठता हूँ, तब अपने आचरण से ही मुझे सन्तोष नहीं मिलता। तब मैं हिमालय, कश्मीर, महाबलेश्वर या अपना देश छोड़कर दूर कहीं जाना चाहता हूँ। परन्तु उन स्थानों से मैं ममत्व नहीं बाँध सकता, तब उनके रंग, रूप और सौंदर्य से आनंदित होने का यत्न करता हूँ। मेरी प्रसन्नता खो गयी है, इसलिए मैं बाहरी सुन्दरता को ध्यानपूर्वक देखता हूँ। अपनी प्रसन्नता के अभाव में सामान्य वस्तुओं में बसनेवाली प्रसन्नता को देखने-पहचानने की मेरी बुद्धि जड़ बन जाती है। इसलिए जो वस्तु असामान्य होने के कारण मेरी इन्द्रियों को अपनी ओर खींचती है, उसे मैं सुन्दर मान लेता हूँ। जब मुझे भीतरी प्रसन्नता होती है, तब तो अपने कपास के खेत को देखकर भी मुझे खुशी होती है। किन्तु प्रसन्नता के अभाव में कश्मीर का केसर का खेत देखने के लिए मैं तरसने लगता हूँ, जिसकी रखवाली बिजली के दीपक जलाकर की जाती है।

"अपनी भीतरी प्रसन्नता के समय जब मैं किसीके संपर्क में आता हूँ, तब अपने संस्कारों के वश होकर मैं विविध प्रकार की क्रियाएँ करता हूँ। उनमें अपना सारा हृदय उँड़ेलता रहता हूँ। इसमें मेरा मुख्य उद्देश्य अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने का और सामनेवाले व्यक्ति को उसकी छूत लगाने का होता है। छोटा-सा बच्चा आये और मेरे पास कहानियों का भण्डार हो, तो ये उसे सुनाकर मैं उसे प्रसन्न करने का यत्न करता हूँ। यदि कहानियों का भण्डार न हो अथवा उस विषय में मेरे विवेक की कसौटी कड़ी हो, तो मैं कोई दूसरा तरीका खोजता हूँ। माता-पिता हों, तो उनकी मनपसन्द या आवश्यक सेवा करने के लिए प्रेरित होता हूँ। यदि मेहमान आते हैं, तो उनकी और अपनी रुचि और अरुचियों का मेल साधकर उनकी आवभगत करने का यत्न करता हूँ। यदि कोई गरीब आदमी आ जाता है, तो उसे अपनी चीज देने की प्रेरणा मुझे होती है और कोई बीमार दिखता है, तो उसकी परिचर्या करना चाहता हूँ। इस प्रकार अपनी आंतरिक प्रसन्नता के कारण इसमें से किसी-न-किसीके लाभ के लिए अपनी किसी वस्तु या शक्ति का किसी भी तरह त्याग करने की दृष्टि से मेरी सारी क्रियाएँ होती हैं। इस त्याग का मुझे पश्चात्ताप नहीं होता। बल्कि उल्टे कृतार्थता और धन्यता मालूम होती है। फिर यह त्याग चाहे कितना ही कीमती क्यों न हो।

"किन्तु आन्तरिक प्रसन्नता के अभाव में ये सारी की सारी क्रियाएँ ऐसी ही हों, मेरा त्याग कितना भी बड़ा क्यों न हो, तो भी वह सब बोझ रूप मालूम पड़ता है। समय-पत्रक में कहानी कहने का समय है, इसलिए कहानी कहनी पड़ती है। माता-पिता की आज्ञा है, इसलिए उनके पैर दबाने के लिए बैठना पड़ता है। मेहमान आये हैं, इसलिए उनकी व्यवस्था करनी पड़ती है। चन्दा लेने के लिए कोई नेता आये हैं, इसलिए चन्दा देना पड़ता है। बीमार को कहीं ले जाकर फेंका नहीं जा सकता, इसलिए सेवा होती है। इन सब कामों में चाहे कितने ही खुले हाथों खर्च किया हो, उसके साथ कितना ही अट्टहास क्यों न जोड़ा गया हो, फिर भी इन सबमें कृतार्थता अथवा धन्यता का अनुभव नहीं होता।

"सच पूछिये, तो प्रसन्नता हर्ष उत्पन्न करनेवाली भावनाओं के लिए विशेष पक्षपात करनेवाली और शोक उत्पन्न करनेवाली भावनाओं को नापसंद करनेवाली नहीं होती, क्योंकि हर्ष और शोक दोनों हमारे चित्त की तरंगों के अनिवार्य पहलू होते हैं। ऐसी कोई बात नहीं कि हर्ष उत्पन्न करनेवाली भावनाएँ प्रसन्नता लाती ही हैं और शोक उत्पन्न करनेवाली भावनाएँ प्रसन्नता का नाश करनेवाली ही होती हों। परन्तु अमुक प्रकार के हर्ष और शोक प्रसन्नता के काल को समान रूप से निकट लानेवाले होते हैं।

"इसके अलावा, प्रसन्नता में से उत्पन्न होनेवाला आनंद किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुँचाये बिना या बोझ रूप हुए बिना (भोगना हो तो) भोगा जा सकता है, जब कि बाहरी वस्तुओं से प्राप्त किये जानेवाले आनंद में वे वस्तुएँ उत्पन्न करने में तथा उनके द्वारा आनन्द भोगने में भी अनेक निर्दोष प्राणियों को कष्ट उठाना पड़ता है। ताजमहल या अजन्ता की गुफाएँ भले ही कला और सौंदर्य का भण्डार हों, परन्तु ताजमहल की पत्ती-पत्ती और फूल-फूल में एक जालिम बादशाह द्वारा हजारों गरीब कारीगरों और मजदूरों से जबरन करायी गयी मजदूरी का त्रास भरा है। इनके दर्शक देश के करोड़ों अधभूखों के लिए उपयोगी सिद्ध होनेवाला धन बर्बाद करके ही वहाँ जा सकते हैं।

"अजन्ता की गुफाएँ बौद्ध-काल में हमारे देश के कितने ही साधुओं द्वारा कला-कौशल की पराकाष्ठा की भले ही प्रतीक जान पड़ें, परन्तु वे ऐसे साधुओं की याद भी दिलाती हैं, जो बुद्ध के उपदेशों को भूल गये थे. सामान्य कर्म-मार्ग को

छोड़ने का असली कारण क्या था, इसे भी उन्होंने भुला दिया था और राष्ट्र के अन्न पर जीकर भिक्षुओं के वेश में भी विलास और वैभव का उपभोग कर रहे थे। जब वस्तुस्थिति ऐसी दिखाई देती है, तब बच्चों को या किसी दूसरे को आनंदित करने का उपाय उन्हें संगीत, कला, कहानी, विनोद, चित्र, ताजमहल या अजन्ता की गुफाएँ दिखाना नहीं है, बल्कि उस व्यक्ति के प्रति हमारा और हमारे प्रति उसका प्रेमोद्रेक है। प्रेम का उद्रेक हो, तो दोनों एक-दूसरे को चुपचाप देखते रहें, तो भी उन्हें कृतार्थता का अनुभव होगा। परन्तु यदि यह नहीं है, तो कृत्रिम साधनों द्वारा आनंद के नाम से परिचित विकारों को भले ही उत्तेजित किया जा सकता है; परन्तु इससे प्रसन्नता का अनुभव नहीं हो सकता। यदि प्रेम होगा तो और विवेक की गहराई से देखेंगे, तो यह नहीं लगेगा कि आनंद के बहुत से साधन अशुद्ध होने के कारण हमारे हाथों से निकल जायेंगे और दूसरों को रिझाने के लिए हमारे पास कुछ भी नहीं बचेगा। ऐसा डर रखने की जरूरत नहीं है। हम अपनी अंतःप्रसन्नता में से दूसरों की ओर देखें और बालक के लिए उसकी प्रसन्नता ढूँढ़कर उसे दे दें। यह उसकी और हमारी सद्भावनाओं के पोषण से हो सकता है। बालक को अपने माता-पिता, भाई-बन्धु, गुरुजन, मित्र, अपनी शाला, अपना घर, अपना कुत्ता या बिल्ली—दूसरों के लिए कुछ करना, दूसरों का दुःख नहीं देख सकना,—यही सब आनन्दरूप लगता है और इस आनंद से प्रेरित होकर वह अपने विवेक और स्फूर्ति के अनुसार जो कुछ करेगा—वही उसे आनंदित बनाने का अच्छे-से-अच्छा उपाय है।

"यह प्रसन्नता जीवन के विकास के लिए एक अमूल्य वस्तु है। भीतर से सदा प्रसन्न रहने का स्वभाव, जीवन के समस्त आशीर्वाद, आरोग्य, प्राण, सद्गुण, एकता, प्रेम आदि दे सकता है। इनमें से कितने ही आशीर्वाद यदि नहीं हैं, तो भी ऐसा स्वभाव मनुष्य को शान्ति प्रदान करता ही है। यह प्रसन्नता हमें बालक को प्रदान करनी चाहिए। अर्थात् जब वह प्रसन्नता को खो दे, तब उसे वह प्रदान कर देनी चाहिए। यह शिक्षकों के कर्तव्यों में से एक जरूरी कर्तव्य है। परन्तु यह अकृत्रिम या साहजिक प्रसन्नता शिक्षक अपनी प्रसन्नता से उत्पन्न होनेवाले प्रेम के द्वारा ही देर-सवेर प्राप्त करा सकता है। हमारी प्रसन्नता की छूत तुरन्त ही दूसरे को नहीं लग सकती। परन्तु यदि हममें धैर्य हो, तो

सामनेवाले की ग्रहण-शक्ति के अनुसार जल्दी या देर से इसका असर उस पर पड़े बिना नहीं रहेगा। ऐसी प्रसन्नता को यदि आनंद कहा जाय, तो इस आनन्द के जितने घूंट पिये-पिलाये जा सकें, उतने इष्ट ही हैं!"

इतिहास की पढ़ाई

केळवणी में किशोरलाल भाई ने एक महत्त्व का हिस्सा अदा किया है। उन्होंने बताया है कि आज इतिहास की पढ़ाई को जो महत्त्व दिया जा रहा है, वह अनुचित है। यह बात उन्होंने उदाहरणों और दलीलों से सिद्ध की है। उनका कथन यह है कि इतिहास का अर्थ है भूतकाल में घटित सच्ची घटना। परन्तु विचार करने पर ज्ञात होगा कि वह ऐसा नहीं है। वे कहते हैं :

"सच तो यह है कि किसी भी घटना का सोलहों आना सच्चा इतिहास तो हमें शायद ही कभी मिल सकता है। अपनी ही कही और की हुई बात का स्मरण इतनी तेजी से अस्पष्ट हो जाता है कि थोड़े ही समय बाद उसमें सत्य और कल्पना का मिश्रण हो जाता है। किसी मानस-शास्त्री ने एक प्रयोग लिख रखा है। विद्वानों की सभा में एक नाट्य-प्रयोग किया गया। उसमें एक दुर्घटना का दृश्य था। प्रयोग के साथ ही उसकी एक फिल्म भी बनाकर रख ली गयी। प्रयोग कुछ ही मिनटों का था। प्रयोग समाप्त होने के आधे घण्टे बाद प्रेक्षकों से कहा गया कि जो कुछ उन्होंने देखा, उसका सही-सही वर्णन लिखकर वे दे दें। परिणाम यह आया कि तीस प्रेक्षकों में से केवल दो ही फिल्म से ९० प्रतिशत मिलता-जुलता वर्णन लिख सके। शेष प्रेक्षकों के वर्णन में ४० से ६० प्रतिशत भूलें थीं।

"परन्तु इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। तटस्थ और सावधान प्रेक्षक भी घटनाओं को यों तेजी से भूल जाते हैं, तब जिनमें घटनाओं को जन्म देनेवाले और उन्हें लिख रखनेवाले लोगों का कोई राग-द्वेष पक्षपात, आदि हो—उनके लिखे वृत्तान्तों में सत्य का अंश कम हो और ज्यों-ज्यों समय बीतता जाय, त्यों-त्यों और कम होता जाय, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है।

"समाज-निर्माताओं को दो वर्गों—मुत्सद्दी (राजनीतिज्ञ) और धर्मोपदेशक—में विभक्त किया जाय, तो अधिकांश इतिहासवेत्ता पहले वर्ग के

पाये जायेंगे। दोनों किसी उद्देश्य से समाज में कुछ संस्कार डालते हैं। कई वार मुत्सद्दी की प्रवृत्तियों में स्पष्ट रूप से एक योजना होती है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इसके पीछे हमेशा शुद्ध हेतु ही होता है। उसमें राग-द्वेष प्रायः होता ही है। उदाहरणार्थ, हमारे देश में अंग्रेज मुत्सद्दियों ने इतिहास का उपयोग इस प्रकार किया है कि अंग्रेजों के प्रति आदर और देशी लोगों के प्रति घृणा उत्पन्न हो। अव राष्ट्रीय मुत्सद्दियों का झुकाव इससे उल्टा दिखाई देने लगा है। इतिहास पढ़ने पर हम जो कल्पनाएँ करते हैं, वे उचित से वहुत अधिक व्यापक स्वरूप की होती हैं। उन पर से जिन अहंता और द्वेषों का पोषण होता है, वह तो वेहद अनुचित होता है। लोक-जीवन के वर्णन में भी जनता के वहुत थोड़े भाग के जीवन की जानकारी उसमें होती है। परन्तु हम उसे समस्त जनता की स्थिति के रूप में मान लेते हैं। भूतकाल में भी समृद्धि थी। वड़े-वड़े नगर थे, नालन्दा जैसे विद्यापीठ थे। इस समय भी हैं। परन्तु हमें ऐसी नहीं लगता कि आज की भाँति तव भी इस समृद्धि का उपयोग वहुत थोड़े लोग करते होंगे। अधिकांश लोग तो दरिद्र ही रहे होंगे। गुरुकुलों से तो इने-गिने लोग ही लाभ उठाते होंगे। गार्गी जैसी विदुषियाँ सभी ब्राह्मणों के यहाँ नहीं हो सकतीं। अनेक ब्राह्मणियाँ तो आज के समान ही निरक्षर रही होंगी। अन्य वर्गों के स्त्री-पुरुष भी आज के समान ही रहे होंगे। परन्तु हम तो समझते हैं कि उस समय सवकी स्थिति अच्छी ही थी। वाद में वदली। यह वात वहुत वड़े जनसमूह के लिए किस अंश तक कही जा सकती है, यह तो शंकास्पद ही है।

"इतिहास जैसी कोई वस्तु न हो, अथवा मनुष्य को भूतकाल की किसी प्रकार की स्मृति न रहे, तो देश-देश और जाति-जाति के वीच की शत्रुता को पोषण मिलना वन्द ही हो जाय। अभी तक ऐसी कोई जाति या व्यक्ति नहीं हुए, जिन्होंने इतिहास पढ़कर कोई शिक्षा ली हो और समझदार वने हों।

"स्मृति को ताजा रखकर अधिकांश में तो मनुष्य द्वेष को ही जीवित रखते हैं। अर्थात् सहानुभूति और प्रेम को घटाते हैं। स्वभावसिद्ध सहानुभूति या प्रेम किसी विशेष कर्म द्वारा प्रकट हुआ हो, तव तो वह याद रहता है और उसका पोषण भी होता है। परन्तु उसके अभाव में अथवा उसे

भुलानेवाला कोई झगड़ा एक बार भी हो जाता है, तो वह स्मृति द्वारा लम्बे समय तक टिका रहता है।

"इस सबसे मुझे ऐसा नहीं लगता कि काव्य, नाटक, पुराण, उपन्यास आदि साहित्य की अपेक्षा इतिहास की शिक्षा अधिक महत्त्व रखती है। इतिहास का अज्ञान किसी प्रसिद्ध काव्य अथवा नाटक के अज्ञान की अपेक्षा बड़ी खामी नहीं है।

"शिक्षण में इतिहास को गौण स्थान देने की जरूरत है। इसका मूल्य भूतकाल की कल्पनाओं अथवा दंत-कथाओं के बराबर ही समझा जाना चाहिए।"

स्त्री-शिक्षा

स्त्रियों की शिक्षा ('केळवणी') के विषय में किशोरलाल भाई ने कितने ही मौलिक विचार किये हैं और उसके अनुसार स्त्रियों की शिक्षा की योजना करने में किस-किस दृष्टि को प्रधानता देनी चाहिए, इसका विवेचन भी उन्होंने किया है। यह हम यहाँ पर सूत्ररूप में ही देंगे :

१. हमारे सामने भले ही मध्यम-वर्ग की शिक्षा का प्रश्न हो, फिर भी यह शिक्षा ऐसी हो जो आम जनता की स्त्रियों के साथ सम्बन्ध रखती हो। आम वर्ग और खास वर्ग के बीच विरोध नहीं होना चाहिए। इसके लिए खास वर्ग का जीवन गढ़ने में आवश्यक फेरफार करने की तैयारी होनी चाहिए।

२. शिक्षा की योजना में पुरुष या स्त्री, इन दो में से किसी एक को प्रधानता देने के दृष्टिबिन्दु से जीवन का विचार नहीं होना चाहिए। बल्कि दोनों के जीवन को समान महत्त्व देकर दोनों के बीच मेल स्थापित करने का यत्न होना चाहिए। तदनुसार स्त्री की शिक्षा-पद्धति में पुरुष-हित का विचार और पुरुष की शिक्षा-पद्धति में स्त्री के हित का विचार होना चाहिए।

३. पुरुष की तथा स्त्री की शिक्षा की योजना पुरुष तथा स्त्री दोनों को मिलकर तैयार करनी चाहिए। इसमें आम वर्ग के हितों को समझनेवालों का भी हाथ होना चाहिए। ये योजक केवल अपने ही वर्ग के प्रतिनिधि की हैसियत से विचार करने की आदत छोड़ दें और जहाँ तक संभव हो, सब वर्गों से परे होकर विचार करने की आदत डालें।

४. ज्ञान, धर्म, चारित्र्य, भावना-बल और व्यवहार-दृष्टि, इनमें पुरुष तथा स्त्री की योग्यता समान रहे, इस प्रकार दोनों की शिक्षा की योजना होनी चाहिए। ग्राम अथवा समाज में घूमने और विवाह तथा तलाक की अनुकूलता दोनों को समान हो। निर्वाह के लिए अथवा गृह-व्यवस्था के लिए विवाह अथवा पुनर्विवाह करना अनिवार्य न हो जाय, इस दृष्टि से अपना निर्वाह करने की शक्ति स्त्री में और गृह-व्यवस्था करने की शक्ति पुरुष में होनी चाहिए।

५. पुरुष में श्रेष्ठता के मिथ्याभिमान का और स्त्री में हीनता का पोषण अब तक किया गया है। ये दोनों संस्कार विघातक हैं इन्हें दूर करना चाहिए।

६. पुरुष और स्त्री के बीच संस्था के अध्यक्ष और मन्त्री के जैसा सम्बन्ध हो। इनमें से जो अधिक कुशल हो, उसके अधीन होकर बर्ताव करने में दूसरे को छोटापन नहीं मालूम होना चाहिए। शिक्षा में ऐसे संस्कार निर्माण करने चाहिए।

७. स्त्री के लिए पूरी तरह पुरुष के समान जीवन बिताना असंभव नहीं है। इसलिए जो स्त्री पुरुषों के ही काम करना चाहे, उसके मार्ग में बाधाएँ नहीं डालनी चाहिए। स्त्री को पुरुषों की शिक्षा लेने की स्वतंत्रता रहे।

८. फिर भी हमें समझ लेना चाहिए कि ऐसी स्त्री अपवादरूप ही मानी जायगी। ९५ प्रतिशत स्त्रियाँ तो मातृपद स्वीकारने की इच्छावाली ही होंगी। इसलिए स्त्री को माता बनना है, ऐसा मानकर तदनुसार उसकी शिक्षा की योजना की जाय।

९. स्त्री पुरुष के आक्रमण के वश में न हो, इसमें वह अपनी सारी ताकत लगा दे, ऐसी शिक्षा स्त्री को दी जानी चाहिए। यह उसका कर्तव्य भी है। स्त्रियों की जाग्रति पुरुष के ऐसे आक्रमण के विरुद्ध बगावत पैदा करे, यह इष्ट है।

१०. पुनर्विवाह न करनेवाली स्त्री पुनर्विवाह करनेवाली स्त्री की अपेक्षा अपने-आपको अधिक कुलीन बताती है। उसका यह खयाल दूर कर देना चाहिए।

११. खेत, जंगल तथा परिश्रम के अन्य धन्धों की आदत मध्यम-वर्ग की स्त्री को हो जाय और वह ये काम उठा ले, ऐसा प्रबन्ध इसकी शिक्षा में होना जरूरी है।

१२. बच्चों की परवरिश, प्राथमिक शिक्षा, रोगियों की शुश्रूषा, और गो-पालन—ये स्त्रियों की खास प्रवृत्तियाँ या धन्धे समझे जायँ।

इस प्रकार के धन्धों के शिक्षण का प्रारम्भ ठेठ बचपन से ही हो जाना चाहिए। प्रत्येक शाला कोई एक या अधिक धन्धे सिखाने की जिम्मेदारी ले ले और इन धन्धों की शिक्षा पानेवालों को ही वह प्रवेश दे, ताकि बचपन से ही बच्चा समझने लग जाय कि मुझे यह धन्धा करना है। इस धन्धे के साथ दूसरी पढ़ाई भी अवश्य हो और इन दूसरे विषयों में इन धन्धों के लिए पोषक सामग्री भी काफी हो।

नयी तालीम

नयी तालीम के विषय में किशोरलाल भाई के विचार 'केळवणीनो विकास' नामक पुस्तक में संग्रहीत किये गये हैं। इसकी जड़ में क्या वस्तु है, यह उन्होंने बहुत सुन्दर रीति से समझाया है। यहाँ हम मुख्यतः यही वस्तु पेश करेंगे।

"चालू शिक्षण-पद्धति एक विशेष प्रकार की संस्कृति की प्रतिनिधि है। वह एकदम विदेशी है, यह कहना सही नहीं। जिस प्रकार की शिक्षण-पद्धति पुरानी काशी में अथवा आज की सनातनी काशी में तथा मुसलमानों के समय में चलती थी, उसकी अपेक्षा मौजूदा शिक्षण-पद्धति भिन्न प्रकार की नहीं है। किसी समय संस्कृत भाषा की प्रतिष्ठा सबसे अधिक थी। इसके बाद फारसी, फिर हिन्दुस्तानी और उसके बाद अंग्रेजी भाषा की प्रतिष्ठा बढ़ी। इस तरह एक के बाद एक की प्रतिष्ठा बढ़ती रही। परन्तु इनके द्वारा जिस संस्कृति को पोषण मिला, वह तो एक ही रही है। यह संस्कृति उन लोगों की है, जिन्हें हम 'भद्रलोक' अथवा 'सफेदपोश' कहते हैं। मेरा तो खयाल है कि पिछले कम-से-कम एक हजार वर्ष में राज्य की ओर से (अथवा अन्य प्रकार से) बच्चों अथवा बड़ों को जो संस्कार देने का काम हुआ है, वह केवल सफेदपोशों में ही हुआ है।

"आर्य—भद्र—सम्मानित जातियाँ हमारे देश में शुरू से ही रही हैं। वे अंग्रेजों द्वारा पैदा नहीं की गयी हैं। संभव है कि अंग्रेजों ने इनका क्षेत्र कुछ बढ़ाया हो। परन्तु उन्होंने इन्हें पैदा नहीं किया।

"भद्र (सफेदपोशों की) संस्कृति का लक्षण मनुष्य की तर्क और कल्पना-शक्ति को बढ़ाना है। संस्कारिता के क्षेत्र में शास्त्री, पंडित, उलेमा, कवि,

ललित कलाधर (अर्थात् चित्रकार, गायक आदि) इसके प्रतिनिधि हैं। दुनियादारी के क्षेत्र में इसके प्रतिनिधि वकील, वैद्य, हकीम, अध्यापक, उस्ताद और मुन्शी हैं। अंग्रेजी पद्धति का संस्कृति के विकास की ओर दुर्लक्ष नहीं था। हाँ, उसने इस पद्धति को अपने विचारों की पोशाक अवश्य पहना दी है। परन्तु ऐसा तो इसलाम ने भी किया था। अंग्रेजों ने अपनी सूक्ष्म शास्त्रीय विधि-निपुणता की आदतों के द्वारा कितने ही संसारी धन्धों का अधिक विकास भी किया है। अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति पर आक्षेप करते हुए भी हमारा सफेदपोश वर्ग उसे छोड़ नहीं पा रहा है। इसके कारण हम ऊपर बता चुके हैं।

"भद्र-संस्कृति मनुष्य की समानता के सिद्धान्त पर नहीं रची गयी है। यों तात्त्विक दृष्टि से तो वह केवल मनुष्यों की ही नहीं, भूतमात्र की समानता का प्रतिपादन करेगी। परन्तु दुनियादारी की दृष्टि से वह केवल यही नहीं कहती कि मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद है, बल्कि यह भी कहती है कि यह भेद रहना ही चाहिए। इस कारण समाज-व्यवस्था के लिए वह हिंसा को—पशु-बल को—अपरिहार्य मानती है और कहती है कि हर मनुष्य को अपनी-अपनी मर्यादा में रखने के लिए समाज के राजदण्ड को घूमते ही रहना चाहिए।

"ऐसा कह सकते हैं कि व्यवहार में भद्र-संस्कृति केवल उतने ही मनुष्यों को मनुष्य समझती है, जिन्हें वह भद्र—सफेदपोशों—के जीवन में निभाने योग्य मानती है। शेष लोग संस्कृति के क्षेत्र से और इसलिए उसकी सभ्यता की परिभाषा से बाहर हो जाते हैं। वे शूद्र, दास, गुलाम, गिरमिटिया, मजदूर अथवा अन्य कोई भी हो सकते हैं। परन्तु उनकी गिनती इनके समाज में नहीं हो सकती। इसलिए समाज के सब अधिकार और सुविधाएँ पाने के पात्र वे नहीं बन सकते।

"भद्र-संस्कृति से ऊँचे दरजे की एक और संस्कृति प्राचीन काल से संसार में चली आ रही है। इसे मैं 'संत अथवा औलिया संस्कृति' कहूँगा। संसार के समस्त देशों में औलियों अथवा सन्तों की भी एक परम्परा सदा से चली आ रही है। इन्होंने अपना काम जितना अन्य लोगों में किया है, उतना भद्र लोगों में नहीं किया। अनेक बार भद्र लोगों ने इनका विरोध किया है और इन्हें कष्ट भी दिये हैं। फिर भी कम-से-कम जबान से उन्होंने इनका स्वीकार और ऊपर से वन्दना भी की है। गांधीजी इस परम्परा के पुरुष हैं।

"भारत की या अन्य किसी भी देश की संत-सभ्यता के तीन सिद्धान्त हैं : मानवमात्र की समानता, अहिंसा और परिश्रम। सफेदपोश लोग मानते हैं कि सभ्यता के विकास के लिए फुरसत जरूरी है। संत ऐसा नहीं मानते। वे यह नहीं कहते कि फुरसत या आराम की जरूरत ही नहीं, है परन्तु वे मानते हैं कि संस्कृति के विकास के लिए परिश्रम अनिवार्य है। और यह कि फुरसत में कुछ खराबी का भी डर है।

"भले ही हमारा राज्यतंत्र पूंजीवाद के सिद्धान्तों पर आवृत हो या साम्यवाद के सिद्धान्तों पर, पर जब तक मनुष्य पर ऐसे संस्कार डाले जाते रहेंगे कि श्रम करना मनुष्य-जाति पर एक घोर शाप है, तब तक एक ओर से मनुष्य द्वारा श्रम करवाने के लिए कानून अर्थात् जबरदस्ती अनिवार्य हो जायगी और दूसरी ओर मनुष्य इससे बचने की कोशिश करता रहेगा। दिन में केवल दो घण्टे काम करना पड़े, साम्यवादियों की इस आदर्श स्थिति को प्राप्त कर लेने पर भी यदि मनुष्य की यह मनःस्थिति रहेगी कि परिश्रम अभिशाप है, तब तक वह इस दो घण्टे के परिश्रम को भी टालने की ही कोशिश करेगा। दूसरे शब्दों में कहें, तो इस संस्कृति को निभाने के लिए हिंसा का सहारा लेना ही पड़ेगा।

"तात्पर्य यह कि परिश्रम और अहिंसा सगे भाई-बहन हैं। परिश्रम के लिए अरुचि का पोषण करेंगे, तो उसके साथ-साथ असमानता आयेगी ही और असमानता को टिकाये रखने के लिए हिंसा की मनोवृत्ति को पोषण दिये बिना काम नहीं चलेगा।

"वर्धा-पद्धति (नयी तालीम) केवल पढ़ाने की एक नयी पद्धति ही नहीं है, बल्कि जीवन की नयी रचना और नया तत्त्वज्ञान है। इस तत्त्वज्ञान की जड़ में शरीर-श्रम, अहिंसा और मनुष्यमात्र की समानता है। यदि इस तत्त्वज्ञान को हम स्वीकार करते हैं, तो उसके अनुसार समाज की रचना करने का बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। इस तत्त्वज्ञान के आधार पर बनायी गयी शालाएँ सफेदपोशों की शालाओं की अपेक्षा निश्चय ही भिन्न प्रकार की होंगी।

"वर्तमान शिक्षा-पद्धति की रचना ही इस प्रकार की है कि वह देश की आबादी के केवल १० से १५ प्रतिशत भाग को अर्थात् सफेदपोशों के बच्चों को ही दी जा सकती है, सबको नहीं। परन्तु हमें तो समाज के शत-प्रतिशत बच्चों

को शिक्षित करना है। यह शिक्षा तभी दी जा सकती है, जब यह ऐसी हो कि मेहनत-मजदूरी करनेवाले भी अपने बच्चों को इसका लाभ दे सकें। अतः शिक्षा के प्रबन्धकों को दो जिम्मेदारियाँ अपने सिर पर लेनी होंगी। एक तो यह कि इनके बच्चे शाला में जायँ, तो उस कारण से माता-पिता को यदि कोई आर्थिक हानि हो, तो उसकी पूर्ति बच्चों के द्वारा ही किसी प्रकार हो जाय और दूसरी यह कि इस प्रकार शिक्षा पाया हुआ बच्चा बेकार नहीं रहेगा, इसका निश्चय दिलाया जाय।

"देश की परिस्थिति, गरीबी, बेकारी, अब तक की शिक्षा-पद्धति में रही हुई खामियाँ और ये दो जिम्मेदारियाँ—इन सबका विचार करके इनके उपाय के रूप में गांधीजी ने उद्योग के द्वारा शिक्षा देने का नया विचार देश के सामने पेश किया है। इसे रखते हुए उन्होंने कहा है कि यह मेरी अन्तिम विरासत है और मैं नहीं समझता कि इससे अधिक महत्त्वपूर्ण अन्य कोई भेंट मैं संसार को दे सकता हूँ।

"उद्योग द्वारा शिक्षण में उद्योग का अर्थ वह उद्योग है, जो जीवन में कोई महत्त्व का भाग अदा करता हो। ऐसे उद्योग द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिए। दूसरे शब्दों में यह उत्पादक उद्योग की अथवा जीवन-निर्वाह—आजीविका—की तालीम कही जा सकती है।

"विद्यार्थी शाला में जाकर ऐसे किसी उद्योग में लग जाय। यह उद्योग ऐसा हो कि जो इसके अपने लिए तथा जिस समाज अथवा गाँव में वह रहता है, उस समाज और गाँव के जीवन में महत्त्व का स्थान रखता हो। शाला में जाने के बाद वह ऐसे काम करने और सीखने लगे कि उसके माता-पिताओं को भी थोड़े ही समय में उसका स्कूल में जाना लाभदायक मालूम होने लगे, उन्हें यह लगे कि वह घर में कुछ लाने की शक्ति प्राप्त कर रहा है, वह कुछ ऐसी चीज पढ़ रहा है कि जिसकी छूत यदि घर को लगे, तो घर का भी लाभ हो।

"अब तक शिक्षा-पद्धति का केन्द्र-बिन्दु भौतिक विद्याओं द्वारा समाज का सामर्थ्य बढ़ाने का रहा है। सादगी अथवा सदाचार के प्रति वह हृदय में आदर नहीं उत्पन्न करती। नयी तालीम का सन्देश इससे उल्टा है। वह सामर्थ्य का नहीं, भलाई का विकास करना चाहती है। अपने विद्यार्थियों में—

फिर वे छोटे बच्चे हों या बड़ी उम्र के आदमी, वह लड़ाई और वैर-भाव के बदले शान्ति और मेल के प्रति, सादे आनन्दों के प्रति, सादी सुविधाओं के लिए और सचाई तथा नीतिशीलता के लिए प्रेम और काम करने का आनन्द तथा स्वतन्त्रता के लिए जोश पैदा करना चाहती है।"

३. आर्थिक प्रश्न

इस विभाग में भिन्न-भिन्न आर्थिक प्रश्नों पर किशोरलाल भाई के विचार संक्षेप में संकलित कर दिये गये हैं।

१. किसी समय कहा जाता था और वह पर्याप्त मान लिया जाता था कि संपत्ति के साधन दो हैं—प्रकृति और परिश्रम। परन्तु आगे चलकर मनुष्य ने देखा कि केवल ये दो ही काफी नहीं होते। प्राकृतिक साधन और परिश्रम की सुलभता किसे और किस परिमाण में है, यह भी संपत्ति का माप करने के लिए आवश्यक परिमाण है। इस सुलभता के विचार में से पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, उद्योगीकरण, राष्ट्रीयकरण, यन्त्रीकरण, केन्द्रीकरण, विकेन्द्रीकरण आदि अनेक वाद पैदा हुए। परन्तु संपत्ति का माप करने के लिए केवल ये तीन परिमाण भी काफी नहीं हैं। इसके दो परिमाण और हैं, जिन पर विचार करना जरूरी है। अगर ये दो न हों, तो विपुल प्राकृतिक साधन, विपुल परिश्रम और सर्वश्रेष्ठ वाद पर रचित राज्यतंत्र के होने पर भी संपत्ति के गणित का उत्तर शून्य अथवा नुकसान ही आयेगा। जिस प्रकार पदार्थ का शुद्ध गणित करने के लिए देश और काल महत्त्वपूर्ण परिमाण हैं, इसी प्रकार संपत्ति के गणित में भी दो महत्त्वपूर्ण परिमाण हैं। ये परिमाण हैं—प्रस्तुत समाज का ज्ञान और चारित्र्य। ज्ञान के महत्त्व को तो सब स्वीकार करते हैं, परन्तु चारित्र्य के महत्त्व पर इतना जोर नहीं दिया गया है। प्राकृतिक साधन, मनुष्य-बल, अनुकूल राज्यतंत्र और अर्थतंत्र तथा ज्ञान, यह सब होने पर भी यदि लोगों में और उनके मार्गदर्शकों में योग्य चारित्र्य-धन नहीं है, तो केवल इस एक दोष के कारण देश और उसके निवासी दुःख और दारिद्रय में डूब सकते हैं। किसी भी समाज की समृद्धि के निर्माण के लिए उसके चारित्र्य

का निर्माण अत्यन्त महत्त्व की वस्तु है। चारित्र्य समृद्धि का साधन है। समृद्धि का साध्य सच्चा उन्नत चारित्र्य है। इस बात को यथार्थ रूप में स्वीकृत न किये जाने के कारण आज का विज्ञानसंपन्न मानव-समाज हाथ में आग लगाने के साधन लिये और इसकी कला में प्रशिक्षित वानर-समाज मुक्त रूप से संसार में विचरण कर रहा है। इसलिए अर्थवृद्धि के साधनों का विचार करते समय आदि, मध्य और अन्त तीनों में चारित्र्य के विषय में विचार करने के बाद ही आगे कदम बढ़ाना चाहिए।

इस विषय का समावेश आर्थिक प्रश्नों के विचार में इसलिए किया है कि इस बुनियाद के बगैर कोई भी आर्थिक योजना सफल नहीं हो सकेगी। यह सब तो है ही, ऐसा मानकर ही विभिन्न योजनाओं और वादों की रचना की जाती है। परन्तु जरा-सा विचार करने पर ज्ञात होगा कि संसार में यह सब तो पहले से है ही, ऐसा मानने के लिए कोई आधार नहीं है। इसके लिए 'नास्ति मूलं कुतः शाखाः' (जड़ ही नहीं है, तो डालियाँ कहाँ से आयेंगी ?) यह कहना ठीक नहीं। यहाँ तो 'सन्मूलस्याभावात् प्रसूताः विषवल्लयः' (अच्छी जड़ के अभाव में विष की लताएँ फैल गयी हैं) यह चरितार्थ हो रहा है।

२. आज वस्तुएँ और उनके निर्माण में लगनेवाले श्रम के मूल्यांकन इतने विपरीत हो गये हैं कि आज की अर्थ-व्यवस्था में अनर्थ उत्पन्न हो गया है। नीति के न्याय से देखें, तो जिन वस्तुओं के बिना जीवन असंभव हो जाता है और जिनके उत्पादन में बहुत अधिक संख्या में मनुष्यों को लगे रहना पड़ता है, उनमें काम करनेवाले मनुष्यों के परिश्रम का मूल्य सबसे अधिक होना चाहिए। मनुष्य के परिश्रम से क्या पैदा किया जाता है और जीवन के लिए वह वस्तु कितनी आवश्यक है, इस सिद्धान्त के आधार पर मनुष्य के परिश्रम का मूल्य निश्चित किया जाना चाहिए। यह होते हुए भी इसमें कोई शंका नहीं कि अधिक-से-अधिक मनुष्यों को अनाज उत्पन्न करने का काम ही करना पड़ता है और दूसरे सब काम इसके सामने गौण हैं। इसलिए अधिक-से-अधिक मजदूरी उन्हें मिलनी चाहिए, जो सीधे अन्न-उत्पादन के काम में लगे रहते हैं। शेष सारे धंधे इसके मुकाबले में निचली श्रेणी के हैं। अन्न-उत्पादन के बाद

दूसरे नम्बर में शायद मकान और कपड़े बनानेवाले तथा सफाई का काम करनेवाले मेहतर आदि गिने जाने चाहिए। जिस धन्धे के ज्ञान अथवा सहायता के बिना दूसरे धन्धेवालों की सारी विद्या और कला बेकार हो सकती है, वह धन्धा आर्थिक दृष्टि से सबसे अधिक कीमती समझा जाना चाहिए।

परन्तु हम जानते हैं कि आज की अर्थ-व्यवस्था में ऐसा नहीं है। सबसे अधिक मेहनताना राजा, मन्त्री, सेनापति, फौज, पुलिस, न्यायाधीश, वकील, वैद्य, बड़े अध्यापक, निष्णात फैशन बनानेवाले को दिया जाता है। जीवन में जिसकी सबके बाद जरूरत होती है, उसे अधिक-से-अधिक मेहनताना दिया जाता है।

इसका कारण यह है कि अज्ञानी लोगों में जिस प्रकार भूत-प्रेत अथवा देव-देवियों के बारे में वहम हैं और जिस प्रकार पढ़े-लिखे लोग इनकी हँसी उड़ाते हैं, उसी प्रकार के वहम राज्य-व्यवस्था और सुलह-शान्ति रखनेवालों और ज्ञान देनेवालों के विषय में हमारे सभ्य कहलानेवाले (बूर्ज्वा) लोगों में हैं और जिस श्रद्धा के साथ अज्ञानी लोग भूत-प्रेतों और देव-देवियों को प्रसन्न करने के लिए मुर्गे, बकरे, पाड़े आदि की बलि चढ़ाते हैं; उसी प्रकार की श्रद्धा से हम राजा-महाराजाओं तथा राजपुरुषों को प्रसन्न करने के लिए उन्हें खूब मेहनताना देते हैं, उनके दरबार भरते हैं और जुलूस निकालते हैं। अनुभव तो यह है कि राजपुरुषों के कारण जितना खून-खराबा, अव्यवस्था, अन्याय, तोड़-फोड़, असत्याचरण आदि चलता है, उतना किसी प्रकार की व्यवस्थित रीति से स्थापित राजसत्ता न हो, तो न हो।

परन्तु आज तो मनुष्य-समाज ऐसी हालत में है कि उसे व्यवस्थित राज्य-सत्ता निभानी ही पड़ती है। राज्यसत्ता भले ही हो, परन्तु उसका अर्थ यह नहीं कि उस काम के करनेवालों का आर्थिक मूल्य अधिक हो जाता है। आर्थिक मूल्य अधिक होने का एक कारण यह है कि हमने धन और प्रतिष्ठा का एक समीकरण बना लिया है: जितना धन उतनी प्रतिष्ठा। यदि किसीकी प्रतिष्ठा बढ़ानी है, तो उसे धन भी अधिक देना चाहिए। 'सर्वे गुणाः कांचन-माश्रयन्ति।' इस नीति-वाक्य को हमने स्वीकार कर लिया है।

प्रतिष्ठा अनेक कारणों से हो सकती है और दी जा सकती है। उसकी स्वीकृति की दूसरी चाहे कितनी ही रीतियाँ रहें, परन्तु वह पैसे के रूप में

इनाम द्वारा न दी जाय। किसीकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए आप उसका आदर करें, सबके आगे बैठायें, ऊँचा पद दें, जिस प्रकार उचित समझें, नमस्कार करें, प्रणाम करें, हार-मालाएँ पहनायें, जरूरत हो तो पदवियाँ, खिताब दें; परन्तु इसके लिए उसे सोना-चाँदी न दें या धन का संचय करने की सुविधाएँ न दें। यदि भिन्न-भिन्न कामों के लिए भिन्न-भिन्न मेहनताना हो सकता है, तो सबसे अधिक मेहनताना अन्न पैदा करनेवालों का होना चाहिए। राजा का मेहनताना भी खेती करनेवाले से कम हो। हाँ, देश की स्थिति के अनुसार उसे दूसरी सुविधाएँ दी जायँ।

३. गांधी-विचार और दूसरे वादों के बीच एक महत्त्व की बात के बारे में विरोध है। वह यह कि ये सारे वाद फुरसतवादी हैं। मनुष्य को अधिक-से-अधिक फुरसत देनी चाहिए, यह आज के अर्थशास्त्र की बुनियादी श्रद्धा है, ऐसा कह सकते हैं। क्योंकि विद्या, कला, संस्कृति आदि का कारण शरीर (मूलसाधन) फुरसत है। इसके प्रतिक्रियास्वरूप गांधीवाद दूसरे सिरे पर बैठा है। वह फुरसत को मानव-हित का शत्रु मानता है।

'फुरसत' शब्द में आलस्य और विश्रान्ति, इन दोनों का समावेश होता है। विश्रान्ति की जरूरत नहीं, अथवा यह कहना कि एक श्रम छोड़कर दूसरा अर्थोत्पादक श्रम करने का नाम ही विश्रान्ति है—एक वृथा पाण्डित्य जैसा है। परन्तु यह स्वीकार करने में तो किसीको भी दिक्कत नहीं होनी चाहिए कि आलस्य तो मानव-हित का शत्रु ही है। कहा ही है : 'आलसी दिमाग शैतान का घर!'

परन्तु आलस्य को अनिष्ट मानते हैं, तो यह डर लगता है कि श्रम का बोझ बढ़ जायगा। इसी डर में से फुरसत-वाद पैदा हुआ है। वह कहता है कि जीने के लिए आवश्यक श्रम में से अधिक-से-अधिक जितनी मुक्ति मिल सके, उतना अच्छा। ऐसा होगा, तभी ज्ञान, कला आदि की निर्मिति हो सकती है। इसलिए 'आलसी दिमाग शैतान का घर' इस जोखिम को उठाकर भी मनुष्यों को पहले फुरसत देनी चाहिए। फिर फुरसत का सदुपयोग करने की शिक्षा धीरे-धीरे दी जा सकेगी। यह है 'फुरसत-वाद'।

विचार करने पर ज्ञात होगा कि श्रम और फुरसत का सम्बन्ध त्याग और भोग, अथवा अहिंसा और हिंसा के सम्बन्ध के समान है। जिस प्रकार मनुष्य सर्वथा भोग के विना नहीं रह सकता, पूर्णतया हिंसा से मुक्त नहीं रह सकता, उसी प्रकार फुरसत निकाले विना, मेहनत का बचाव किये विना भी वह नहीं रह सकता। भोग को मर्यादित करने—कम करने के प्रयत्न का अर्थ ही त्याग है, यह प्रयत्न करते-करते भी मनुष्य कुछ भोग तो भोग ही लेता है। परन्तु इसके विपरीत जो भोग को ही जीवन का सिद्धान्त बना लेता है, वह तो विनाश के मार्ग पर ही जाता है। इसी प्रकार हिंसा को मर्यादित करने—घटाने का प्रयत्न करने का नाम ही अहिंसा है। अहिंसा का प्रयत्न करते-करते भी वह कुछ हिंसा तो कर ही देता है। परन्तु यदि वह हिंसा को ही जीवन का नियम बना ले, तो इसका परिणाम तो यादवस्थली ही होगा। यही बात श्रम और फुरसत की भी है। फुरसत तो मनुष्य ढूँढ़ ही लेनेवाला है। परन्तु यदि फुरसत को ही अर्थशास्त्र या जीवन का तत्त्वज्ञान और ज्ञान-कला का कारण शरीर बना लिया जायगा, तो इसका परिणाम अनर्थों की परम्परा ही आनेवाला है।

यह भी मान्यता है कि संस्कृति का विकास फुरसत में से ही हुआ है और होता है। परन्तु फुरसत में से पैदा हुआ कला, साहित्य, काव्य इत्यादि ऊपरी इन्द्रिय-मोहन, राग-द्वेषों से भरे हुए और अधिकांश में बाजारू वृत्तियोंवाले होते हैं। अपने जीवन के नित्य-नैमित्तिक कार्यों में, सम्बन्धों में और श्रम में जो कृतार्थता मालूम होती है और जिस प्रसन्नता का अनुभव होता है, वह एक और ही चीज होती है। इसके परिणामस्वरूप इन कामों को सुशोभित करने के लिए इसके सम्बन्धों में भक्ति, मिठास और रसिकता लाने की तथा इस श्रम में पारंगतता प्राप्त करने की एवं सुन्दरता लाने की जो प्रवृत्ति होती है, उसमें से निर्माण होनेवाली कला आदि दूसरे ही प्रकार की होंगी। इनकी कीमत पैसों से कभी नहीं आँकी जा सकती।

मानव की उन्नति के लिए फुरसत की जरूरत है, इससे कोई इनकार नहीं कर सकता। मनुष्य को खाने-सोने की भी फुरसत न हो, जीवन सदा इस तरह भरा हो कि हमेशा—समय न मिलने की शिकायत रहे, यह कदापि इष्ट नहीं कहा जा सकता। परन्तु कुछ समय घोड़े की तरह दौड़-धूप कर काम करना

और फिर कुछ समय मौज-शौक में बिता देना—इसे फुरसत नहीं कहा जा सकता। फुरसत का सच्चा सुख जितना जीवन के सारे काम शान्ति से करने में मिलता है, उतना काम के वेग को बढ़ाकर समय निकालने के प्रयत्न में से नहीं मिल सकता। सुख को रहने दीजिये। इस तरह तो फुरसत मिलने की आशा भी नहीं होती। ज्यों-ज्यों हम अधिकाधिक फुरसत मिलने का प्रयत्न करते हैं, त्यों-त्यों वह गधे की नाक के सामने बँधे प्याज की तरह सदा दो अंगुल आगे ही रहती है। गधे को जिस प्रकार वह प्याज नहीं मिल सकता, उसी प्रकार हमें फुरसत नहीं मिल पाती। फिर भी उसमें हमारी श्रद्धा तो है ही।

४. ऐसा माना जाता है कि ज्यों-ज्यों खेती आदि तमाम उद्योग यन्त्रों के द्वारा होने लगेंगे अर्थात् समाज में यन्त्रीकरण बढ़ता जायगा और उत्पादन मुनाफे के लिए नहीं, बल्कि समाज की जरूरतें पूरी करने के लिए होगा, त्यों-त्यों उत्पादकों को अधिकाधिक फुरसत मिलने लगेगी, परन्तु हमारे देश में आबादी घनी है। यहाँ तो जितना अधिक यन्त्रीकरण होगा, उतनी ही बेकारी बढ़ेगी, ऐसा मालूम होता है। फिर खेती में अथवा दूसरे उद्योगों में भी यन्त्रीकरण पद्धति से उत्पादन निश्चित रूप से बढ़ेगा ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसका आधार तो अन्य अनेक बातों पर है। हाँ, यन्त्रीकरण का एक परिणाम निश्चित है। वह यह कि जो लोग अभी उत्पादक धन्धों में लगे हुए हैं, उनकी संख्या यन्त्रीकरण होने पर उत्तरोत्तर घटती जायगी। नये-नये उद्योग ढूँढ़कर उनमें मनुष्यों को काम देने का चाहे कितना ही प्रयत्न हम करें, फिर भी नये उद्योग इतनी तेजी से नहीं ढूँढे और खड़े किये जा सकेंगे, जितनी तेजी से यन्त्रीकरण द्वारा बेकारों की संख्या बढ़ेगी। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि उत्पादक कामों में हम यदि इन आदमियों को काम नहीं दे सके, तो इन्हें सेवा के कामों में लगा देंगे, किन्तु इन सेवा के कामों को आप चाहे कितने ही उपयोगी मानें, अन्त में तो उनमें परोपजीवीपन ही रहेगा न?

बड़े पैमाने पर उत्पादन करनेवाले यन्त्रोद्योगों द्वारा समाज की जरूरत की चीजें बड़े पैमाने पर पैदा करने लगेंगे, तो उससे बेकारी भी बड़े पैमाने पर बढ़ेगी और इससे लोगों की खरीदने की शक्ति घटेगी। यूरोप के उद्योगप्रधान देश इसलिए समृद्ध हो सके कि सारे संसार के बाजारों को वे अपने कब्जे में कर

सके थे। फिर उन्होंने उपनिवेशों और साम्राज्यों की स्थापनाएँ की हैं। यूरोप की घनी आवादीवाले देशों को भी अपनी आवादी और अपने माल वाहर भेजने की अनुकूलता नहीं मिली होती, तो उनके उद्योगीकरण और यन्त्रीकरण से उनकी दशा भारत और चीन की अपेक्षा भी खराव हो जाती और इतना होने पर भी अपनी जान लेनेवाली होड़ के कारण वे अपने यहाँ वेकारी के प्रश्न को हल नहीं कर पाये हैं। ज्यों-ज्यों वहाँ यन्त्रीकरण वढ़ा है, त्यों-त्यों उनके युद्ध अधिक तीव्र और वार-वार होने लगे हैं और इसमें से अव तो विश्वयुद्ध और कतले-आम के प्रसंग भी पैदा होने लगे हैं। उनकी समृद्धि तुलनात्मक दृष्टि से देखें, तो क्षणजीवी रही है। उनके इस अनुभव से हमें सवक लेना चाहिए। हमें अपने गाँवों को अथवा ग्राम-समूहों को भोजन, वस्त्र, मकान, गोपालन, तेल, तिलहन, खाद तथा सड़कों के वारे में स्वयंपूर्ण और स्वावलम्वी वना देना चाहिए।

५. विनोवा की 'भूमिदान' की प्रवृत्ति 'सवै भूमि गोपाल की' सिद्धान्त पर रची गयी है। अमुक जमीन पर अमुक आदमी की मालिकी भी तो अन्त में मर्यादित ही है। इसका उद्देश्य तो केवल यह है कि वह अपने काम में पूरा-पूरा रस ले और जमीन को सुधारने और अनाज की उपज वढ़ाने में पूरी शक्ति तथा वुद्धि लगा दे। वह प्रेमपूर्वक काम करे, इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह केवल अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए ही काम करे। 'सवै भूमि गोपाल की' यह **'ईशावास्यमिदं सर्व'** का एक मर्यादित प्रयोग है। सच पूछिये, तो केवल जमीन ही नहीं, वल्कि संसार में जो कुछ है और जो कुछ मनुष्य उत्पन्न करता है, उसका मालिक वह अकेला नहीं, वल्कि ईश्वर है। उसमें से केवल एक उचित भाग का ही वह अधिकारी है। इसीलिए इस श्लोक का दूसरा चरण— **'तेन त्यक्तेन भुंजीयाः'** पहले चरण में से ही फलित होता है। अर्थात् अन्त में हर प्रकार की खानगी मालिकी नष्ट होनी चाहिए और जव खानगी मिल्कियत नहीं रहेगी, तव व्याज, नफा, किराया आदि भी नहीं रहेंगे। भूदान-प्रवृत्ति का अंतिम उद्देश्य यही है। परन्तु वह इस उद्देश्य को हिंसा या जोर जवरदस्ती द्वारा नहीं सिद्ध करना चाहती—फिर यह जवरदस्ती या हिंसा राज्य द्वारा हो, अप्रत्यक्ष दवाव से हो या हिंसक क्रान्ति की हो। इसमें मालिकों तथा

दूसरों का अधिक-से-अधिक संख्या में हृदय-परिवर्तन करने का सवाल है। आज तो वहुजन-समाज—फिर वह मालिक-वर्ग का न हो, तो भी—विचारों में तो पूँजीवादी ही है और वह खानगी मिल्कियत, मुनाफा तथा अपनी रोजी की परिभाषा में ही विचार करता है।

६· 'समूळी क्रान्ति' नामक पुस्तक में आर्थिक क्रान्ति के ये कुछ मुद्दे उन्होंने दिये हैं:

"यह सब किस निश्चित योजना अथवा विनिमय के साधन से इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है कि जिससे जीवन के लिए अधिक महत्त्व की चीजों का मूल्य अधिक माना जाय और कम महत्त्व की चीजों का मूल्य कम माना जाय, यह मैं ठीक से नहीं वता सकता। इतना मुझे ज्ञान नहीं है। परन्तु मुझे जरा भी सन्देह नहीं कि हमारे विचारों और व्यवहार में नीचे लिखी क्रान्तियाँ अवश्य होनी चाहिए:

"(१) प्राणों का—विशेषतः मनुष्य के प्राणों का मूल्य सवसे अधिक समझा जाय। किसी भी जड़ पदार्थ या स्वार्थ की प्राप्ति का मूल्य मनुष्य के प्राणों से अधिक न माना जाय।

"(२) अन्न, जलाशय, वस्त्र, मकान, सफाई, आरोग्य आदि वस्तुएँ और इन्हें प्राप्त करने के धंधे अन्य सब पदार्थों और धन्धों की अपेक्षा सिक्कों के रूप में अधिक कीमत देनेवाले माने जाने चाहिए। शत्रुता से इनका नाश आन्तरराष्ट्रीय नीति में अत्यन्त हीन कर्म समझा जाना चाहिए और ऐसा करने-वाले लोग समस्त मनुष्य-जाति के शत्रु समझे जाने चाहिए।

"(३) पदार्थ की विरलता तथा ज्ञान, कर्तृत्व, शौर्य आदि की विरलता के कारण ये पदार्थ अथवा इनके वनानेवालों की प्रतिष्ठा भले ही अधिक मानी जाय, परन्तु इस प्रतिष्ठा का मूल्यांकन सिक्कों के रूप में न हो।

"(४) देश की महत्त्व की संपत्ति उसकी अन्नोत्पादन-शक्ति और मानव-संख्या मानी जाय, न कि उसकी खनिज संपत्ति या विरल संपत्ति। यन्त्र भी नहीं। यदि एक आदमी के पास सोना अथवा पेट्रोल देनेवाली जमीन पाँच एकड़ हो और अन्न उपजानेवाली जमीन पाँच सौ एकड़ हो और इन दो में से किसी एक को रखने या छोड़ने का विकल्प उसके सामने खड़ा हो, तो

आज के अर्थशास्त्र के अनुसार वह पाँच सौ एकड़ की खेतीवाली जमीन को छोड़ देगा। परन्तु सच्चे मूल्यों के अनुसार तो उसे पाँच एकड़वाली जमीन छोड़ने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। अर्थात् संपत्ति का मूल्य सोने से नहीं, वल्कि अन्न और उपयोगिता की दृष्टि से गिना जाय, ऐसी योजना होनी चाहिए।

"(५) एक रुपये का नोट अथवा एक रुपया इस वात का प्रमाण-पत्र न हो कि इसके वदले में कहीं अमुक मात्रा में सोना या चाँदी सुरक्षित हैं, वल्कि वह इस वात का प्रमाण-पत्र हो कि उसके वदले में इतने सेर अथवा इतने तोले अनाज निश्चित रूप से मिल जायगा। सिक्के का अर्थ इतनी ग्रेन कोई धातु नहीं, वल्कि इतनी तौल की ग्रेन (अर्थात् धान्य) ही हो और पौंड का अर्थ अक्षरशः पाउण्ड (अर्थात् इतने हजार ग्रेन अनाज ही) समझा जाना चाहिए।

"(६) सोने का भाव इतने रुपये तोला है और अनाज का भाव इतने रुपये फी मन है, यह भाषा ही न रहे। इसका कोई अर्थ न हो। सच पूछिये, तो आज इसका कोई अर्थ रहा भी नहीं है। क्योंकि रुपये का माप ही स्थिर नहीं है। सोने का भाव हो—एक तोले के इतने मन गेहूँ या चावल (तोला और मन का वजन भी निश्चित हो)।

"(७) नोट या सिक्कों के रूप में ही अदायगी करना लाजिमी नहीं होना चाहिए। इस नोट या सिक्के के पीछे धान्य की जो मात्रा निश्चित की जाय, उसके रूप में कर आदि की अदायगी करने का अधिकार मालिक को हो। धान्य के उत्पादकों से कर अथवा महसूल की अदायगी यदि धान्य के रूप में ही लाजिमी कर दी जाय, तो अन्न-संकट के समय वह सरकार तथा प्रजाजनों (खास करके शहर के रहनेवाले और वेजमीन मनुष्यों) की काले वाजार और मुनाफाखोरी से सुन्दर प्रकार से रक्षण कर सकेगा; क्योंकि सरकार के पास हमेशा अन्न के भाण्डार भरे रहेंगे।

"(८) व्याज जैसी कोई चीज न हो, वल्कि उल्टे अदायगी के समय रुपये काट लिये जायँ। अनाज जिस तरह पड़ा-पड़ा सड़ जाता है, उसी प्रकार वगैर काम में लिया हुआ धन कम हो जाना चाहिए। वह सड़-गल करके खराव नहीं होता, तो उसके सँभालने में तकलीफ तो होती ही है। यदि सोना-चाँदी को आदमी धन समझना छोड़ दे, तो यह वात आसानी से समझ में आ सकती

है। सोना-चाँदी धन नहीं है। परन्तु आकर्षण, विरलता, चमकीलापन आदि गुणों के कारण उसे यह प्रतिष्ठा मिल गयी है। बस और कुछ नहीं। यह पड़े-पड़े खराब नहीं होता, यही इसके मालिक को ब्याज अथवा लाभ है। इसके अलावा इसे और कोई ब्याज देने के लिए कोई कारण ही नहीं है।

"(९) यह निश्चय करना अनुचित नहीं माना जाना चाहिए कि जो पदार्थ बरतने से घिसते-घटते नहीं हैं, अथवा बहुत कम घिसते हैं, उनकी कीमत कम समझी जाय। उन्हें प्रतिष्ठा दी जाय, उनके रखने या स्वामित्व के नियम भले ही बना दिये जायँ; परन्तु उन पर किसीका स्थिर स्वामित्व न माना जाय। उन पर समाज का सम्मिलित स्वामित्व हो—यह स्वामित्व कुटुम्ब, गाँव, जिला, देश अथवा संसार में उचित रीति से बाँट दिया जाय।

"(१०) आय तथा खानगी मिल्कियत की अधिकतम और न्यूनतम मर्यादाएँ निश्चित कर दी जानी चाहिए। जिनकी आय अथवा मिल्कियत न्यूनतम मर्यादा से भी कम हो, उन पर कर आदि के बन्धन न हों। अधिकतम मर्यादा से अधिक आय अथवा मिल्कियत कोई न रखे।"

४. राजकीय प्रश्न

आर्थिक प्रश्नों के समान राजकीय प्रश्नों के बारे में भी किशोरलाल भाई ने स्थान-स्थान पर अपने ये विचार प्रकट किये हैं :

(१) 'कुएँ में होगा, तो डोल में आयेगा' कहावत प्रसिद्ध है। इसके साथ 'जैसा ही' जोड़ दिया जा सकता है। अर्थात् कुएँ में होगा तभी और कुएँ जैसा ही जल डोल में आयेगा। डोल का अर्थ है शासक-वर्ग। कुआँ समस्त प्रजा है। चाहे जैसे कानून बनाइये, संविधान बनाइये, समस्त जनता की अपेक्षा शासक-वर्ग का चारित्र्य बहुत ऊँचा कभी नहीं होगा और जनता अपने चारित्र्य-बल के आधार पर जितने सुख-स्वातन्त्र्य के लायक होगी, उससे अधिक सुख-स्वातन्त्र्य का उपभोग वह कर नहीं सकेगी। जिस राज्य-प्रणाली में शासक-वर्ग को केवल दण्डशक्ति ही नहीं, वरन् धन और प्रतिष्ठा भी मिलती है, वहाँ शासक-वर्ग का चारित्र्य प्रजाजनों के कुल चारित्र्य की अपेक्षा अधिक

हीन होने की समस्त सामग्री विद्यमान रहती है। वहाँ चरित्र के ऊँचे उठने की अनुकूलता होती ही नहीं। फिर शासक-वर्ग भी आखिर पैदा तो होता है प्रजाजनों में ही। अतः धीरे-धीरे शासन प्रजा के हीनतर भाग के हाथों में जाने लगता है। सब प्रकार की राज्य-प्रणालियाँ बहुत थोड़े समय में ही सड़ने लग जाती हैं, इसका असली कारण यही है।

कुएँ की अपेक्षा डोल अवश्य ही छोटा होता है। परन्तु शासक-वर्ग का डोल इतना छोटा नहीं होता कि ऊपर का भाग तो अच्छा हो और नीचे के भाग में सख्त कानून के रूप में शोधक दवा (डिसइन्फेक्टण्ट) डाल दी जाय, तो सब ठीक हो जाय। क्योंकि जनता का प्रत्यक्ष सुख-स्वातन्त्र्य शासकों के ऊपर के आदमियों के हाथ में नहीं, बल्कि नीचे के आदमियों के हाथ में होता है और शोधक दवाएँ चाहे कितनी ही तीव्र हों, तो भी वे खराबी के बहुत कम भाग को मिटा सकती हैं।

इसलिए जनता के हितचिंतकों, सुज्ञों तथा जनता को भी समझ लेना चाहिए कि सुख-स्वातन्त्र्य की सिद्धि केवल राजकीय संविधानों और कानूनों की सावधानी के साथ रचना करने पर उद्योगों की योजनाओं द्वारा नहीं होती। शासक-वर्ग में केवल थोड़े-से अच्छे आदमियों के होने से भी काम नहीं चल सकता। बल्कि यह तो समस्त प्रजाजनों की चारित्र्य-वृद्धि तथा शासक-वर्ग के बहुत बड़े भाग की चारित्र्य-वृद्धि द्वारा ही हो सकेगा।

परन्तु यदि हम विचार करें, तो ज्ञात होगा कि हम इससे बिलकुल उल्टी श्रद्धा को लेकर काम कर रहे हैं। हम यह मान लेते हैं कि सामान्य वर्ग बहुत अधिक चरित्रवान् न हो, तो भी अच्छी तनख्वाहें देकर हम उनमें से कुछ अच्छे चरित्रवान् व्यक्ति प्राप्त कर सकते हैं और उनकी सहायता से अच्छी योजनाएँ और जन-हित के कानून बनाकर प्रजा को सुखी कर सकते हैं, मानो गन्दे पानी में थोड़ा शुद्ध जल मिलाकर सारे पानी को अच्छा कर सकते हैं। इस प्रकार की यह श्रद्धा है।

आज तो ऐसा दीखता है कि चुनाव, जुलूस, परिषदें, समितियाँ, भाषण, हड़तालें और उपद्रव—यही मानों प्रजातंत्र के अंग हैं। इतना होने पर भी जनता का जीवन व्यवस्थित रीति से चल रहा है। इसका कारण राज्य के

कानून अथवा व्यवस्था-शक्ति नहीं, बल्कि यह है कि इस सारी धाँधली के बावजूद जनता में नैसर्गिक व्यवस्था प्रियता और शान्ति है।

(२) पिछली शताब्दी के प्रारम्भ में अर्थशास्त्री यह मानकर चलते थे कि हर मनुष्य अर्थचतुर (Economic man) होता है अर्थात् अपने हितों को अच्छी तरह समझता है। इसमें से देश-देश के बीच तथा मालिक-नौकर के बीच के व्यवहारों में दूसरे किसीको दस्तंदाजी नहीं करनी चाहिए, यह 'अहस्तक्षेप वाद' (Laisser fair) उत्पन्न हुआ। बाद में लोग समझने लगे कि यह 'वाद' गलत है। तब भिन्न-भिन्न व्यवहारों में राज्य का दस्तंदाजी करना उचित है, ऐसा वाद पैदा हुआ। यह अब यहाँ तक पहुँच गया है कि आर्थिक मामलों में मनुष्य को किसी प्रकार की व्यवहार-स्वतंत्रता नहीं रह गयी है। पहले वाद में मान लिया गया था कि मनुष्यमात्र अपना हित समझता है और उसकी रक्षा करने की शक्ति भी उसमें होती है। दूसरे वाद ने बलवान् पक्ष में चारित्र्य का (अर्थात् सद्भाव, न्याय आदि का) नास्तित्व और ज्ञान तथा शक्ति का अस्तित्व मान लिया तथा निर्बल-पक्ष में चारित्र्य का अस्तित्व किन्तु ज्ञान तथा शक्ति का नास्तित्व मान लिया। ये दोनों गृहीत बातें गलत होने के कारण मनुष्य के दुःख ज्यों के त्यों हैं।

दूसरे वाद ने कल्याण-राज्य की भावना उत्पन्न की है। इस आदर्श के अनुसार व्यक्ति की हर जरूरत को पूरी करने की अधिक-से-अधिक जिम्मेवारी राज्य पर डाली जाती है। केवल जन्म से मरण तक की ही नहीं, बल्कि गर्भाधान से लेकर अग्निसंस्कार तक की। यदि हम मान लें कि यह ऐतिहासिक प्रक्रिया चालू ही रहनेवाली है, तो आज का संयुक्त राष्ट्रसंघ संसारव्यापी एकचक्री राज्य में परिणत हो जायगा। अमेरिका, चीन, रूस और भारत जैसे बड़े देश भी उसमें न्यूनाधिक परिमाण में 'अ' वर्ग के राज्यों के समान काम करेंगे। प्रत्येक के पीछे पशु-बल का समर्थन होगा ही। इस प्रक्रिया का आज तक जिस प्रकार विकास हुआ है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि यह युद्धों और हिंसक क्रान्तियों के द्वारा ही अपने लक्ष्य को सिद्ध कर सकती है।

मुझे स्वीकार करना चाहिए कि इसे मैं एक स्पृहणीय आदर्श नहीं मान सकता। यदि हमारा यह निश्चय हो कि यह आदर्श उचित नहीं है और यदि

हम हिंसक क्रान्तियों तथा फासिस्ट (अर्थात् व्यक्तिगत संपत्तिवादी) अथवा बोलशेविक (राष्ट्रीय संपत्तिवादी) एकाधिपत्य की राह पर नहीं चलना चाहते, तो भारत को कल्याण-राज्य का यह आदर्श छोड़ देना चाहिए।

हम यह अवश्य चाहते हैं कि गर्भाधान से लेकर मृत्यु तक मनुष्य को कल्याण-राज्य के लाभ मिलें, परन्तु यदि यह प्रजातंत्र के आवरण में (और रूस भी अपने को एक प्रकार का प्रजातंत्र ही कहता है) जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य को 'अ', 'ब' या 'क' वर्ग के कैदी बनाकर ही किया जा सकता हो, तो अपनी ही जाति के छोटे-से किन्तु बलवान् जत्थे द्वारा सुख-चैन में और अच्छी स्थिति में रक्खे गये निरे पशु बनने के बजाय मानव-जाति के जन्म-काल से आज तक जिन्दा रहने के लिए हम जो अनेक प्रकार की मुसीबतें उठाते आये, वैसी ही मुसीबतें उठाकर जीते रहना बेहतर समझते हैं।

(३) यदि हमें यह मान्य है, तो स्वेच्छा से और योजनापूर्वक हमें समाज के छोटे-से-छोटे घटक को उत्तरोत्तर अधिकाधिक स्वराज्ययुक्त अथवा स्वाधीन बनाने का आरम्भ कर देना चाहिए। इसमें सबसे पहले हमारा काम प्रत्येक छोटे घटक को राजनैतिक तथा आर्थिक दृष्टि से—जितनी भी बातों में संभव हो, स्वयंपूर्ण बनाने तथा स्वाश्रयी बनने की जिम्मेदारी उठाने लायक बना देना है। देश को हम छोटे-छोटे भागों में बाँट लें। हर भाग में एक छोटा कस्बा और उसके आसपास पाँच या दस मील के घेरे में बसे गाँवों का एक समूह हो। वह अपने क्षेत्र में अधिक से अधिक सत्ता का उपभोग करे। इसमें पुलिस का काम, चोर-डाकुओं से रक्षा, न्याय, शिक्षा, कर लगाना और वसूल करना आदि अधिकारों और कर्तव्यों का समावेश हो। यह अपना संविधान खुद बनाये। अपने से ऊपर के घटकों के संचालन के लिए कर का निश्चित भाग वह उसे दे दिया करे। अपने क्षेत्र में उपलब्ध कच्चे माल से जिन उद्योगों का विकास वह कर सके, करे और यह जिम्मेवारी उठाये कि अपने क्षेत्र में किसी प्रकार की बेकारी न रहे।

हर भाग का विभाजन ग्राम-घटकों में कर दिया जाय। प्रत्येक ग्राम-घटक में ग्राम-पंचायत अवश्य हो। इसमें ग्राम के पकी हुई उम्र के व्यक्ति हों। इनकी नियुक्ति अथवा चुनाव न हो। गाँव के लोगों की राय किस प्रकार

जानी जाय तथा उस पर अमल किस प्रकार हो, इसकी पद्धति का निश्चय और विकास वे खुद करें। यदि कोई उलझन पैदा हो जाय और उसे लेकर तीव्र पक्ष गाँव में पैदा हो जायँ तो इसका निर्णय मतों की गिनती द्वारा नहीं, वल्कि किसी श्रद्धा-पात्र व्यक्ति या मण्डल के सामने पेश करके उसके द्वारा करवा लिया जाय। इस तरह भी न हो सके, तो सिक्का ऊपर फेंक करके कर लिया जाय, तो भी वुरा नहीं। इस भाग की सरकार प्रत्येक पंचायत द्वारा नियुक्त अथवा चुने हुए प्रतिनिधियों से वनायी जाय और अन्त में प्रत्येक भाग सर्वसत्तासंपन्न छोटी-से-छोटी किन्तु सर्वांगपूर्ण सरकार बने। ऊपर का प्रत्येक मण्डल केवल उतनी ही सत्ता का अधिकारी हो, जो उसे नीचे से दी जाय। शेष सारी सत्ता प्रत्येक भाग के अधीन ही रहे। ऊपर की सरकारें भी पक्षीय नीति के अनुसार काम न करें। यदि किन्हीं प्रश्नों पर ऐसा मतभेद हो जाय कि जिनका कोई हल ही नहीं मिल सके, तो नीचेवाले घटकों की राय मँगायी जाय।

(४) आज हम लोकतंत्र, चुनाव, राजनैतिक दलों के संगठन तथा उनके कार्यक्रमों की चर्चाएँ और उनकी नुक्ताचीनी करते हैं। परन्तु वुनियादी खामियों का खयाल ही नहीं करते। हमारे संगठनों का ध्येय सवका कल्याण करना नहीं, वल्कि प्रतिपक्षी को हराना और तंग करना होता है और इसमें लोगों को अपने साथ हम लेना चाहते हैं। हमारा हेतु मनुष्य-मनुष्य के वीच सद्भाव वढ़ाना नहीं, वल्कि प्रतिपक्षी के प्रति द्वेषभाव वढ़ाने का होता है। हमारा यह द्वेषभाव और अविश्वास हमारे वनाये कानूनों और संविधान में भी प्रकट रूप से देखा जा सकता है। सरकारी महकमों में भी प्रतिपक्षियों की जोड़ियाँ तैयार हो जाती हैं। इस कारण कोई भी आदमी आत्मविश्वास और हिम्मत के साथ काम नहीं कर सकता। हर काम में ढील, अड़ंगेवाजी और एक-दूसरे का दोष देखने-दिखाने की वृत्ति प्रकट होती है। हर मनुष्य अधिकार का लालची वन जाता है और दूसरे के अधिकारों से ईर्ष्या करने लगता है।

इस मानस में से उत्पन्न सारी व्यवस्थाएँ खर्चीली दीर्घसूत्री, वहुत लिखा-पढ़ी करनेवाली, मोटे सिरवाली, केवल वाहरी दिखावेवाली, कपटी, निकम्मी पूछताछ करनेवाली, ईर्ष्यावाली, चुगलखोर, भ्रष्टाचारी और द्वेष आदि वुरे मार्गों से भरी हुई हों, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

लोकतंत्र का व्यावहारिक अर्थ केवल हाथ या सिरों की गिनती तक ही सीमित रह गया है। यह तो कोई नहीं कह सकता कि बहुत से सिरों का अर्थ बहुत अधिक समझदारी होता है और इसलिए जिस पक्ष में अधिक हाथ ऊँचे उठते हैं, उस पक्ष में अधिक समझ होती है। असल महत्त्व की बात यह नहीं कि कितने हाथ या सिर ऊँचे उठे हैं, बल्कि यह है कि ये क्यों ऊँचे उठे हैं। अधिक हाथ ऊँचे उठने से सुख अधिक नहीं होता। जो हाथ या सिर ऊँचे हों, उनमें योग्य गुणों का होना जरूरी है। एक चन्द्र जितना प्रकाश देता है, उतना करोड़ों नक्षत्र भी नहीं दे सकते।

इसलिए केवल अच्छे प्रतिनिधि और अच्छे अधिकारी ही नियुक्त हों, तो यह जितने महत्त्व की वस्तु है, उतनी अमुक राजनैतिक पक्ष की बहुमति कैसे हो, यह नहीं है। सभी निर्णय बहुमति से ही करने में लोक-कल्याण नहीं होगा।

(५) मुझे लगता है कि ब्रिटेन के नमूने की पक्ष पद्धतिवाली सरकार तथा नौकरशाही भारतीय जीवन-पद्धति के लिए अनुकूल नहीं है। इसने सामान्य मनुष्य की शक्ति का, जिम्मेदारी की भावना का, काम की सूझ-बूझ का तथा नीति और न्याय-भावना का यहाँ नाश किया है। विधान-सभा के सदस्य तथा मन्त्री भी अनेक बार जनता पर बोझ रूप बन गये हैं। पक्षों के 'लेबलों' को अधिकृत रूप से मान्यता नहीं दी जानी चाहिए। विधान-सभाओं में मत देते समय 'ह्विप' (चेतक) के द्वारा हुक्म नहीं जारी होने चाहिए और मत देने के लिए प्रचार भी नहीं होना चाहिए। यदि सरकार का कोई प्रस्ताव अस्वीकृत हो जाय, तो सरकार के लिए त्याग-पत्र देना भी लाजिमी नहीं होना चाहिए। समस्त विधान-सभा जो निर्णय करे, उसका वह अमल करे। मेरा खयाल है कि ब्रिटिश नमूने की अपेक्षा यह पद्धति भारत के लिए शायद अधिक अनुकूल सिद्ध हो।

पक्षों के राज्य को 'डेमोक्रेसी' (प्रजातंत्र) कहना वदतो व्याघात है। प्रजा द्वारा मान्य किया गया पक्षातीत राज्य 'डेमोक्रेसी' माना जाय या न भी माना जाय। परन्तु वह सुराज्य अर्थात् सही मानों में जनता का, जनता के लिए जनता द्वारा चालित राज्य अवश्य होना चाहिए।



सर्वोदय तथा भूदान-साहित्य

(विनोबा)

गीता-प्रवचन १।), सजिल्द १॥)
शिक्षण-विचार १॥)
सर्वोदय-विचार स्वराज्य-शास्त्र १)
कार्यकर्ता-पाथेय ॥)
त्रिवेणी ॥)
साहित्यिकों से ॥)
भूदान-गंगा (छह खंडों में) प्रत्येक १॥)
ज्ञानदेव चिन्तनिका १)
स्त्री-शक्ति ।॥)
भगवान् के दरबार में ।)
गाँव-गाँव में स्वराज्य =)
सर्वोदय के आधार ।)
एक बनो और नेक बनो =)
गाँव के लिए आरोग्य-योजना =)
व्यापारियों का अवाहन ।)
ग्रामदान ।॥)
शान्ति-सेना ॥)
मजदूरों से =)
गुरुबोध १॥)
भाषा का प्रश्न ।)
लोकनीति १।)
जय-जगत् ।)
सर्वोदय-पात्र ।)
साम्यसूत्र ।=)

(धीरेन्द्र मजूमदार)

समग्र ग्राम-सेवा की ओर ३॥)
शासनमुक्त समाज की ओर ॥)
नयी तालीम ॥)

(श्रीकृष्णदास जाजू)

संपत्तिदान-यज्ञ ॥)
व्यवहार-शुद्धि ।=)
अ० भा० चरखा-संघ का इतिहास ३॥)

(जे० सी० कुमारप्पा)

गाँव आन्दोलन क्यों ? २॥)
गांधी-अर्थ-विचार १)
स्थायी समाज-व्यवस्था २॥)
स्त्रियाँ और ग्रामोद्योग ।)
ग्राम-सुधार की एक योजना ।॥)

(दादा धर्माधिकारी)

सर्वोदय-दर्शन ३)
साम्ययोग की राह पर ।)

(महात्मा भगवानदीन)

सत्य की खोज १॥)
चिंतन के क्षणों में ॥)
माता-पिताओं से ।=)
बालक सीखता कैसे है ? ॥)

(अन्य लेखक)

नक्षत्रों की छाया में १॥)
चलो, चलें मँगरौठ ।॥)
भूदान-गंगोत्री २॥)
भूदान-आरोहण ॥)
ग्रामदान क्यों ? : चा० भंडारी १।)
भूदान-यज्ञ : क्या और क्यों ? १॥)
सफाई : विज्ञान और कला ।॥)
सुन्दरपुर की पाठशाला ।॥)
गो-सेवा की विचारधारा ॥)

विनोबा के साथ १)
ग्राम-स्वराज्य : ठा० बंग ॥-)
पावन-प्रसंग : मृदुला मूँदड़ा ॥)
छात्रों के बीच ।-)
सर्वोदय का इतिहास और शास्त्र ।)
सर्वोदय-संयोजन १)
गांधी : एक राजनैतिक अध्ययन ॥)
सामाजिक क्रांति और भूदान ।-)
गाँव का गोकुल : अप्पासाहब ।)
व्याज-बट्टा ,, ।)
शोषण-मुक्ति और नवसमाज ॥=)
भूदान-दीपिका =)
भूदान से ग्रामदान =)
पूर्व-बुनियादी ॥)
सर्वोदय-भजनावलि ।)
सत्संग ॥)
क्रांति की राह पर १)
क्रांति की ओर १)
समाजवाद से सर्वोदय की ओर ।=)
गांधीजी क्या चाहते थे ? ॥)
भूदान-पोथी : सुभद्रा गांधी ।)
सर्वोदय-सम्मेलन-रिपोर्ट, कांचीपुरम् १)
सर्वोदय-सम्मेलन-रिपोर्ट, कालड़ी १)
सर्वोदय-सम्मेलन-रिपोर्ट, पंढरपुर १)

धर्म-सार : शिवाजी भावे ।)
स्थितप्रज्ञ-लक्षण ,, ।)
श्रम-दान ,, ।)
अन्तिम झाँकी : मनु गांधी १॥)
हिमालय की गोद में ।॥)
ताई की कहानियाँ ।)
दादा का स्नेह-दर्शन ।)
भूदान का लेखा (आँकड़ों में) ।)
सामूहिक प्रार्थना -)
धरती के गीत -)
भूदान-लहरी -)
भूदान-यज्ञ-गीत -)
विनोबा-संवाद ।=)
सत्याग्रही शक्ति ।-)
जीवन-परिवर्तन (नाटक) ।)
पावन-प्रकाश (नाटक) ।)
कुलदीप (नाटक) ।)
प्राकृतिक चिकित्सा-विधि १॥)
बापू के पत्र १।)
स्मरणांजलि १॥)
मेरा जीवन-विकास ॥)
प्यारे बापू (तीन भाग) १।=)
विकेंद्रित अर्थ-व्यवस्था ॥=)
तपोवन-विनोबा १॥)
किशोरलाल भाई की जीवन-साधना २)